तीर्थंकर
महावीर

भगवान महावीर २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में प्रकाशित

निदेशक :

आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी
प्रवर्तक मुनि श्री मिश्रीमल जी
उपाध्याय श्री अमर मुनि जी

प्रथमबार :

महावीर निर्वाण शताब्दी वर्ष
सितम्बर १९७४
वीराब्द : २५००
विक्रमाब्द : २०३१

मुद्रक :

संजय साहित्य संगम के लिए
रामनारायण मेड़तवाल
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस, आगरा–२

मूल्य : दस रुपये मात्र : प्लास्टिक कवरयुक्त

णमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स

लेखक :
श्री मधुकर मुनि
श्री रतन मुनि
श्रीचंद सुराना 'सरस'

प्रकाशक :

- सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा - २
- रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी
- मरुधर केशरी साहित्य प्रकाशन समिति, ब्यावर
- मुनि हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर
- आनन्द प्रकाशन, नागपुर
- अमोल जैन ज्ञानालय, धूलिया

प्रकाशकीय

लगभग तीन वर्ष पूर्व नोखा (चांदावतों का) में मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन की सभा में एक प्रस्ताव पारित किया गया था—'भगवान महावीर का प्रामाणिक जीवन-चरित्र प्रकाशित किया जाय।'

उसी सभा में इस प्रस्ताव में यह संशोधन जोड़ा गया कि, 'स्थानकवासी समाज की अनेक प्रकाशन संस्थाओं द्वारा सम्मिलित रूप में यह प्रकाशन किया जाय। ताकि साहित्यिक दिशा में एकरूपता एवं व्यापकता आ सके।' सभा में विराजमान प्रवर्तक श्री मरुधरकेशरी मिश्रीमलजी म० एवं श्री मधुकर जी म० ने सम्मिलित रूप से इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया और कार्य को आगे बढ़ाने के लिए प्रेरणा भी दी।'

श्रद्धेय आचार्य श्री आनन्दऋषि जी म० एवं राष्ट्रसंत उपाध्याय श्री अमरचंद जी म० की सेवा में संस्था का उक्त निर्णय प्रस्तुत किया गया और आयोजन में उनके बहुमूल्य निर्देशन एवं सहयोग की प्रार्थना की गई तो दोनों ही ओर से उत्साहवर्धक आश्वासन मिला। कार्य-क्रम आगे बढ़ा !

इस संयुक्त प्रकाशन के पीछे एक बहुत व्यापक लक्ष्य यह था कि, 'निर्वाण शताब्दी के प्रसंग पर अनेक विद्वान मुनिराज भ० महावीर के सम्बन्ध में लिख रहे हैं, तथा अनेक संस्थाएँ इस पुण्य कार्य में जुट रही हैं, तो कार्य की पुनरावृत्ति न हो, एक ही कार्य में शक्ति का बिखराव न हो, तथा समाज के साहित्यिक प्रयत्नों में एक-रूपता, व्यापकता तथा स्तरीयता रहे। प्राचीन और नवीन चिन्तन एक साथ एक शैली में प्रकट हो, और स्वस्थचिंतन एवं स्वस्थलेखन की प्रवृत्ति विकसित हो।' हम इस लक्ष्य में कहां तक सफल हुए हैं इसका स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत पुस्तक स्वय देगी।

इस पुस्तक के आलेखन में श्रद्धेय श्री मधुकर मुनिजी म० श्री रतनमुनि जी म० एवं श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने अथक परिश्रम किया है। पुस्तक को भाव-भाषा एवं शैली की दृष्टि से आधुनिकता एव रुचिरता देने का अधिकतम

श्रम 'सरस' जी ने किया है। वे एक कड़ी के रूप में रहे हैं, जो निदेशक गण से परामर्श एवं विचार चिन्तन प्राप्त करते रहे और लेखकगण के साथ पुस्तक का शब्द शरीर घड़ाते रहे।

उपाध्याय श्री अमरमुनि जी म० ने पुस्तक के सभी अंशों का काफी गहराई से अवलोकन किया है। स्थान-स्थान पर चिन्तन की दिशा स्पष्ट की और हर दृष्टि से परिष्कार एवं परिवर्धन में अपने बहुमूल्य सुझाव देकर उपकृत किया है, हम उपाध्याय श्री जी के अत्यधिक कृतज्ञ हैं।

आचार्य श्री एवं श्री मरुधर केसरी जी म० ने भी पुस्तक की पांडुलिपि का अवलोकन कर जहां-जहां परिमार्जन सूचित किया, वहां-वहां वह किया गया। इस प्रकार यह पुस्तक श्री वर्धमान स्थानकवासी श्रमण संघ के आचार्य, उपाध्याय एवं प्रवर्तक मुनियों के निर्देशन में सर्वथा परिष्कृत, परिमार्जित एवं पर्यालोचित होकर बहुश्रुत मुनि श्री मधुकर जी, श्री रतनमुनि जी एवं शब्द-शिल्पी श्री 'सरस' जी की लेखिनी से प्रसूत होकर आज पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है।

प्रकाशन में समाज की पांच संस्थाओं ने तो प्रारम्भ में ही अपनी सहमति एवं सहकृति स्वीकृत कर ली थी, मुद्रण प्रारंभ होते-होते महाराष्ट्र की प्राचीनतम जैन-प्रकाशन संस्था 'श्री अमोल जैन ज्ञानालय' धूलिया भी आयोजन में सहभागी बन गई।

वर्तमान समय में संयुक्त प्रकाशन का यह प्रथम प्रसंग है और यह आने वाले 'एकताबद्ध साहित्यिक प्रयत्नों' का श्री गणेश है। इससे समाज की बिखरी हुई शक्तियां प्रेरणा लेगी और कुछ नया महत्वपूर्ण कार्य करने को संकल्पबद्ध हो सकेगी।

वर्तमान में कागज, छपाई एवं अन्य वस्तुओं की असाधारण मंहगाई होते हुए भी पुस्तक को सभी दृष्टियों से सुन्दर, परिपूर्ण और भव्य बनाने का प्रयत्न किया है। पुस्तक के लिए कागज उपलब्ध कराने में जे. के. पेपर उद्योग के मुख्य अधिकारी श्री प्रतापसिंह जी साहब नवलखा ने जो उदार सहयोग दिया है, वह सदा स्मरणीय रहेगा। हम उनके आभारी हैं।

आशा है पाठकों को हमारा यह प्रयत्न पसंद आयेगा। तथा भगवान महावीर की पावन-निर्वाण शताब्दी के शुभ प्रसंग पर एक श्रद्धा-सुमन के रूप में देखा जायेगा।

विनीत :

प्रकाशकगण

प्राक्कथन

तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर एक व्यक्ति नहीं, विश्वात्मा हैं, विश्व-पुरुष हैं। व्यक्ति क्षुद्र है, वह देश और काल की सीमाओं में अवच्छिन्न है अतः वह अनन्त नहीं हो सकता। महावीर अनन्त हैं, उनका प्रकाश शाश्वत है। वह काल की सीमाओं को धकेलता हुआ अनन्त की ओर सतत गतिशील रहेगा।

भगवान् महावीर का प्रबोध उभयमुखी है। वह जहां एक ओर अन्तर्जगत् की सुप्त चेतना को प्रबुद्ध करता है, वहां दूसरी ओर समाज की मोह निद्रा को भी भंग करता है। महावीर ने साधक की अन्तरात्मा को जागृत करने के लिए वह आध्यात्मिक चिन्तन दिया है, जिसकी ज्योति कभी धूमिल नहीं होगी। यह वह ज्योति है, जो जाति, कुल, पंथ और देश आदि के किसी भी वर्ग विशेष में आबद्ध नहीं है। चिन्तन के वह संकरे गलियारों में न घूमकर सीधे आत्मतत्त्व को स्पर्श करती है। यह महावीर का ही मुक्त उद्‌घोष है कि हर आत्मा मूलतः परमात्मा है। क्षुद्र-से-क्षुद्र प्राणी में भी अनन्त चैतन्य ज्योति विद्यमान है। अपेक्षा है ऊपर के अज्ञान मोह, राग-द्वेष आदि कर्मावरणों को तोड़ देने की। इसप्रकार महावीर का ईश्वरत्व प्राणिमात्र का है, किसी एक व्यक्ति विशेष का नहीं।

महावीर का प्रबोध केवल धर्म परम्पराओं के आध्यात्मिक तत्त्व बोध तक ही परिसीमित नहीं है। उनका दर्शन जीवन के विभाजन का दर्शन नहीं है। वह एक अखण्ड एवं अविभक्त जीवन दर्शन है। अतः उनका प्रबोध आध्यात्मिक धर्मक्रान्ति के साथ सामाजिक क्रान्ति को भी तथ्य की गहराई तक छूता है। भगवान् महावीर का सामाजिक क्रान्ति का उद्‌घोष चिर अतीत से बन्धनों में जकड़ी मातृ जाति को मुक्ति दिलाता है, उसके लिए कब के अवरुद्ध विकास पथ को खोल देता है। उस युग की दास प्रथा कितनी भयंकर थी ? दासों के साथ पशु से भी निम्नस्तर का व्यवहार किया जाता था। मानवता के नाम पर उन का धार्मिक, नैतिक या सामाजिक कोई भी तो मूल्य नहीं था। महावीर का क्रान्ति स्वर दास-प्रथा के विरोध में भी मुखरित होता है। वे अनेक बार सामाजिक परम्पराओं के विरोध में जाकर पद-दलित एवं प्रताड़ित दासियों के हाथ का भोजन भी लेते हैं। जाति और कुल आदि के जन्मना श्रेष्ठत्व के दावे को भी उन्होंने चुनौती दी। जन्म की अपेक्षा कर्म की श्रेष्ठता को ही उन्होंने सर्वोपरि स्थान दिया हैं। उनके संघ में हरिकेश जैसे अनेक चाण्डाल आदि निम्न जाति के शिष्य थे, जिनके सम्बन्ध में उनका कहना था कि जाति की कोई विशेषता नहीं है, विशेषता है सद्‌गुणों की, जिसके फलस्वरूप देवता भी चरणों में नतमस्तक हो जाते हैं। महावीर ने लोक और परलोक के सम्बन्ध में फैले हुए अनेक अन्धविश्वासों को तोड़ा और उनके नीचे दबे यथार्थता के सत्य को उजागर किया। हम देखते हैं, कि भगवान महावीर ने वर्ग-विहीन तथा शोषण मुक्त समाज की स्थापना के रूप में जो यथाप्रसंग पारिवारिक, आर्थिक एवं

राजनीतिक दृष्टि दी है, आज विश्व उसी की ओर गतिशील है। भविष्य बताएगा कि महावीर तेरे-मेरे की सभी विभाजक रेखाओं से परे विश्वजनीन मंगल-कल्याण के कितने अधिक निकट हैं।

भगवान् महावीर के परिनिर्वाण को २५०० वर्ष पूरे होने जा रहे हैं। अपनी अपनी दृष्टि से सब ओर अनेक आयोजनों की संरचनाएं हो रही हैं। साहित्यिक दिशा में भी महावीर के जीवन, तत्त्वज्ञान और उपदेश आदि पर अनेक छोटी-बड़ी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं, लिखी जा रही हैं, प्रकाशित हो चुकी हैं, प्रकाशित होने की तैयारी में है। यह भी प्रभु चरणों में श्रद्धांजलि समर्पित करने का एक प्रसंगोचित कर्म है। प्रस्तुत पुस्तक भी इसी दिशा में है।

'तीर्थंकर महावीर' का लेखन व्यापक दृष्टि से हुआ है। अनेक पूर्व जन्मों से गतिशील होती आती धर्मयात्रा से लेकर महावीर के जन्म, बाल्य, साधना और तीर्थंकर जीवन से सम्बन्धित प्रायः सभी घटनाओं को, कहीं विस्तार से तो कहीं संक्षेप से, काफी परिमाण में समेटा गया है। जीवनप्रवाह कहीं विशृंखलित नहीं हुआ है। यत्र तत्र दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्पराओं के मतभेदों को भी स्पष्ट कर दिया गया है। मैं समझता हूं, यदि ऐतिहासिक सूक्ष्मताओं की गहराई में न उतरा जाए, तो भगवान महावीर के विराट जीवन के सम्बन्ध में जो भी ज्ञातव्य जैसा आवश्यक है, वह प्रस्तुत पुस्तक में मिल जाता है।

पुस्तक का कल्याणयात्रा खंड तो कई दृष्टियों से बहुत उपयोगी बन गया है। भगवान महावीर के जीवन के अनेक प्रेरक एवं उज्ज्वल प्रसंग अच्छे चिन्तन के साथ प्रस्तुत हुए हैं।

धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक आदि दिव्य आदर्श किसी भी साहित्यिक रचना के प्राण तत्त्व होते हैं, जिनसे सर्व साधारणजन जीवन-निर्माण की प्रेरणा पाते हैं। और भाषा तथा शैली उसके शब्द शरीर होते हैं, जो पाठक की मनश्चेतना को सहसा आकृष्ट करते हैं, उसे ऊबने नही देते हैं। प्रस्तुत 'तीर्थंकर महावीर' दोनों ही दृष्टियों से सफल कृति प्रमाणित होती है। मेरे निकट के स्नेही श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' के सम्पादन ने तो पुस्तक को सरसता से इतना आप्लावित कर दिया है कि देखते ही बनता है।

पुस्तक जल्दी में लिखी गई है। अतः कुछ प्रसंगों पर अपेक्षित चिन्तन नहीं हो पाया है। एकान्त पुरानी या नई दृष्टि के पाठकों को संभव है, उनसे सन्तोष न हो। परन्तु इसमें विरोध की कोई बात नहीं है। प्रथम लेखन में प्रायः ऐसा हो ही जाता है। प्रमाण पुरस्सर संशोधन एवं सुझाव आएं तो उन्हें अगले संस्करण में यथोचित स्थान दिया जा सकता है।

राजगृह (नालंदा, बिहार)
श्रावणी पूर्णिमा १९७४

—उपाध्याय अमरमुनि

लेखकीय

भगवान् महावीर इतिहास पुरुष हैं, प्रकाश-पुरुष हैं। एक लोकोत्तर पुरुष हैं। उनका दिव्य-जीवन अनन्त प्रेरणाओं और उदात्त आदर्शों का श्रोत है। उनका लोकोत्तर व्यक्तित्व शब्दों की सीमा से अतीत है, फिर भी शब्द-रेखाओं द्वारा नापने का प्रयत्न होता रहा है, हजारों-हजार वर्ष से।

सर्वप्रथम आर्य सुधर्मा ने भगवान् महावीर की पावन जीवन-रेखाओं को शब्दों की स्वर्ण-रेखाओं में मंढने का प्रयत्न किया है। सुधर्मा की शब्दावलियों में महावीर का महावीरत्व जिस आभा के साथ उजागर हुआ है वह विलक्षण है, अद्वितीय है। वह वर्णन घटनात्मक नही, भावनात्मक है' कहना चाहिए कुछ ही पृष्ठों में महावीर की साधना का समग्र दर्शन सुधर्मा ने भाव-रूप में प्रस्तुत किया है।

महावीर का घटनात्मक जीवन-दर्शन सर्वप्रथम आचार्य भद्रबाहु ने 'आवश्यक निर्युक्ति' में संग्रथित किया है। इतिहास की दृष्टि से यही सबसे प्राचीन और प्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ है, जिसमें महावीर के जीवन की सुदीर्घ-साधना, पूर्व-जन्म और तीर्थंकर जीवन की विविध घटनाओं का चित्रण हुआ है। इसके बाद तो उस लोकोत्तर चरित्र का चित्रण तथा शब्दावतरण होता गया, विविध काव्यों में, विविध भाषाओं में नई-नई उद्भावनाओं के साथ।

प्रस्तुत उपक्रम भी इसी पवित्र परम्परा की एक कड़ी है। २५वीं निर्वाण शताब्दी के पुनीत प्रसंग पर अपने परम श्रद्धेय के प्रति एक भाव-भीना श्रद्धा-सुमन है। हां, इस आलेखन में श्रद्धा के साथ प्रज्ञा तथा भावना के साथ विचार का प्रकाश भी अवश्य रहा है। इसलिए इसमें कुछ नवीनता, रुचिरता और दृष्टि की स्पष्टता भी पाठकों को मिल सकती है– ऐसा हमारा विश्वास है।

आगमों (आचारांग भगवती आदि) में भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र बहुत संक्षेप में अंकित हुआ है। बाद के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, उत्तर पुराण, महावीर चरियं आदि में काफी विस्तार के साथ आया है। इस शताब्दी में कुछ जीवन चरित्र शोध दृष्टि से भी लिखे गये हैं। घटनाओं का तिथिक्रम से वर्णन किया गया है और स्थान-स्थान पर समकालीन धर्म-नायकों के साथ तुलनात्मक विवेचन भी हुआ है। प्रस्तुत में हम दोनों शैलियों का समन्वय करके चले हैं। न घटनाओं का अत्यधिक विस्तार और न तिथिक्रम के साथ घटनाओं को आगे-पीछे करने का प्रयत्न! वास्तव में हमने इतिहास और पुराण, सत्य और तथ्य, कथा और यथार्थ को एक सूत्र में बांधकर चलने का प्रयत्न किया है। महावीर के विविध जीवन-

प्रसंगों में से उनके विराट् महावीरत्व का दर्शन हो सके, हर पक्ष पर उनके जिनत्व की गरिमामयी छवि दीख सके और उससे हमारा जीवन—प्रेरित अनुप्रीणित होकर उसी दिशा में गतिशील बन सके—इस आलेखन के पीछे यह स्पष्ट भावना रही है। इसीलिए कहीं-कहीं आगे-पीछे की घटनाओं को, जिनकी कि उपलब्धि समान है, जिनकी प्रतिध्वनि भी समान है, उन्हें एक ही प्रकरण में ग्रथित करने का प्रयत्न किया है। मुख्यतः हमारा ध्येय न इतिहास लिखने का रहा है और न महावीर का समग्र जीवन चरित्र लिखने का। किन्तु महावीर के उस दिव्य रूप का दर्शन करने का रहा है जिसके कण-कण में समता, सहिष्णुता, वीतरागता, करुणा और लोक-मंगल का आलोक जगमगा रहा है।

हो सकता है, हमारी यह शैली इतिहास के अनुसंधाताओं को संतोष न दे सके, तथा पुरातन-परम्परा प्रेमी मानस भी इससे पूर्ण संतुष्ट न हो, किन्तु फिर भी हमें विश्वास है कि प्रबुद्ध श्रद्धालु और पूर्वग्रहों से मुक्त विचारक इस पुस्तक के स्वाध्याय से प्रसन्नता और परिपूर्णता अनुभव करेगा।

हमारे इस आलेखन का मुख्य आधार निम्न ग्रन्थ रहे हैं—

आचारांग सूत्र, अध्ययन ८
आवश्यक निर्युक्ति
त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०
महावीर कथा (गोपालदास जी० पटेल)
श्रमण भगवान महावीर (मुनि कल्याणविजय जी)
आगम और त्रिपिटिक : एक अनुशीलन (मुनि नगराजजी)

ऐतिहासिक सामग्री प्रायः इन ग्रन्थों के आधार से ली गई है, साथ ही विचार जागरण की दृष्टि से कविरत्न उपाध्याय श्री अमरमुनि जी महाराज का मौलिक चिन्तन समय-समय पर प्राप्त होता रहा है। तथ्यों को पकड़ने और उसकी अन्तर्रात्मा को उद्घाटन करने में उनकी सूक्ष्मदृष्टि सर्वत्र विश्रुत है, यदि उनकी विचार दृष्टि नहीं मिलती, तो शायद यह पुस्तक अपने भव्य रूप में निखर नहीं पाती।

हमें प्रसन्नता है कि आचार्यश्री आनन्द ऋषि जी, श्री मरुधर केसरी जी एवं कविश्री जी जैसे बहुश्रुत मनीषी मुनिवरों के निदेशन से लाभ उठाकर इस पुस्तक को हम यथाशक्य सुन्दर और जनोपकारी रूप दे सके हैं। समय एवं साधनों की अल्पता के कारण जो कमियां रह गई हैं, उसकी ओर विज्ञपाठक ध्यान दिलायेंगे तो अगले संस्करण में परिष्कार किया जा सकेगा।

विनीत :
लेखकगण

संस्था-परिचय

प्रस्तुत प्रकाशन में जिन संस्थाओं ने सहयोग करके साहित्यिक एकता का जो सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है वह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस महत्वपूर्ण आयोजन में सम्मिलित होने वाली संस्थाओं का संक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत है।

१. सन्मति ज्ञानपीठ

यह संस्था आज से २६ वर्ष पूर्व वि० सं० २००४ में उपाध्याय श्री अमर मुनि जी महाराज की प्रेरणा से स्थापित की गई थी। स्थापना का मुख्य उद्देश्य है—जैन धर्म, दर्शन एवं इतिहास की बहुमूल्य श्रुतसामग्री का संपादन एवं प्रकाशन करना। संस्था ने अब तक आगम, भाष्य, चूर्णि संस्कृत-प्राकृत के ग्रंथ, दर्शन एवं संस्कृति से सम्बन्धित साहित्य, कथा, प्रवचन, बालोपयोगी पाठ माला के रूप में लगभग १३५ पुस्तकें प्रकाशित की है।

मुख्य कार्यालय :—सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा-२

२. श्री रत्न जैन पुस्तकालय

इसकी स्थापना पूज्यपाद रत्न ऋषि जी महाराज की पुण्यस्मृति में आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि जी महाराज की प्रेरणा से वि० सं० १९८४ में हुई। पुस्तकालय और साहित्य प्रकाशन के साथ ही प्राकृत भाषा का प्रचार करना भी इसका मुख्य ध्येय है। विविध भाषाओं के लगभग १५ हजार मुद्रित ग्रंथ तथा २ हजार करीब हस्तलिखित ग्रंथों का संग्रह भी पुस्तकालय में है। संस्था ने अब तक छोटे मोटे ४० से अधिक ग्रंथ प्रकाशित किये हैं। मुख्य कार्यालय है—

श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी (अहमदनगर)

३. श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

इस संस्था की स्थापना वि० सं० २०२४ में हुई। मुख्य प्रेरणा स्तंभ हैं श्री मरुधरकेसरी प्रवर्तक मुनिश्री मिश्रीमल जी महाराज। संस्था के मुख्य तीन उद्देश्य हैं—साहित्य प्रकाशन, शिक्षा एवं ज्ञान प्रसार तथा सेवात्मक प्रवृत्तियां।

तीनों ही दिशा में संस्था ने अच्छी प्रगति की है। आगम, साहित्य, प्रवचन, जीवन चरित्र आदि से सम्बन्धित लगभग ६० से अधिक पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी है।

मुख्य कार्यालय :—जोधपुर है। शाखा एवं साहित्य संपर्क कार्यालय है—

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

जैन स्थानक, पीपलिया बाजार ब्यावर (राजस्थान)

४. मुनि श्री हजारीमल स्मृतिप्रकाशन

राजस्थान के प्रसिद्ध तपोधन मनस्वी श्री हजारीमल जी महाराज की पुण्य-स्मृति में इस संस्था की स्थापना वि० सं० २०२२ में उनके गुरु भ्राता स्वामी श्री व्रजलाल जी महाराज एवं मधुकर मुनि जी महाराज की प्रेरणा से की गई। जैन साहित्य का प्रकाशन एवं शिक्षासंस्था तथा ज्ञानशालाओं का संचालन-संरक्षण इस संस्था का मुख्य उद्देश्य है। कार्य की दिशा में संस्था उत्तरोत्तर प्रगतिशील है। अब तक विविध विषयों पर लगभग ५० महत्व पूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

मुख्य कार्यालय :—

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
जैन स्थानक, पीपलिया बाजार **ब्यावर** (राजस्थान)।

५. श्री आनन्द प्रकाशन

इस नवोदित संस्था के मुख्य प्रेरणा स्रोत आचार्य प्रवर के अन्तेवासी श्री रतन मुनि जी महाराज हैं। २५ वीं महावीर निर्वाण शताब्दी वर्ष तथा आचार्य प्रवर के अमृत महोत्सव वर्ष के उपलक्ष्य में इसकी स्थापना वि० सं० २०३१ में हुई। संस्था का मुख्य उद्देश्य है—साहित्य द्वारा धर्म एवं संस्कृति का प्रचार करना, नैतिक जागरण, आध्यात्मिक आयोजन तथा समाज सेवा आदि शुभ प्रवृत्तियों में सहयोग देना। संस्था का प्रथम प्रकाशन यही है।

मुख्य कार्यालय (आचार्य प्रवर की जन्म भूमि) चिचोंड़ी है।

श्री आनंद प्रकाशन, पो० चिचोंड़ी (अहमदनगर, महाराष्ट्र)

६. श्री अमोल जैन ज्ञानालय

यह संस्था पूर्व भारत की प्राचीनतम जैन संस्थाओं में अग्रणी व सबसे प्राचीन है। इसकी स्थापना शास्त्रोद्धारक स्वर्गीय पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज की स्मृति में उनके प्रधान शिष्य श्री कल्याण ऋषि जी महाराज की प्रेरणा से वि० सं० १९९८ दिनांक १८-१०-४२ को हुई।

संस्था का मुख्य उद्देश्य जैन धर्म, दर्शन एवं संस्कृति तथा साहित्य का प्रचार करना है। अब तक अनेक आगम, चरित्र ग्रंथ तथा तात्विक साहित्य की छोटी मोटी ७५ पुस्तकें छप चुकी हैं। संस्था का अपना विशाल ग्रंथालय भी है। स्थायी पता इस प्रकार है—

श्री अमोल जैन ज्ञानालय
कल्याण स्वामी रोड, धूलिया (महाराष्ट्र)
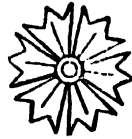
क्रमारोहरण
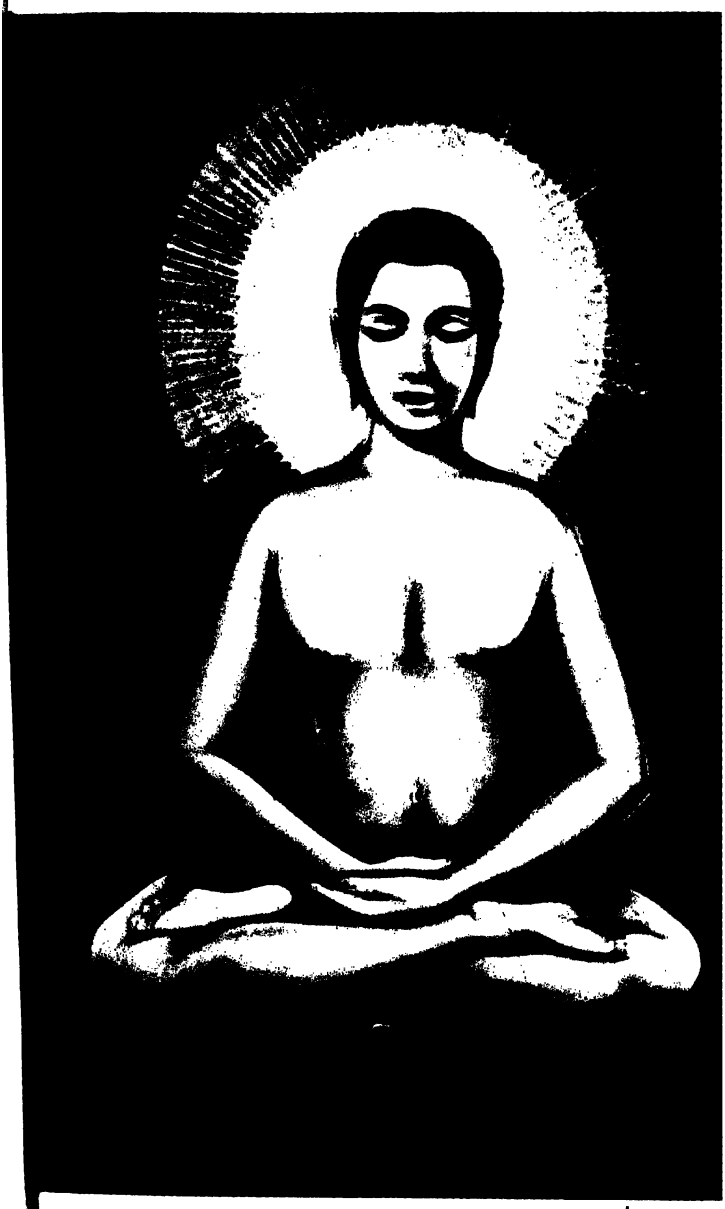
तीर्थंकर महावीर

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधाः संश्रिताः।
वीरेणाभिहतः स्वकर्म-निचयो, वीराय नित्यं नमः॥
वीरात् तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो।
वीरे श्री-धृति-कीर्ति-कान्तिनिचयो, हे वीर! भद्रं दिश॥

सौरभ से गमकते-महकते फूल की मधुर सुवास प्रत्येक हृदय को उल्लास से पुलकित कर देती है, और उसके दिव्य-भव्य कमनीय रूप पर दृष्टि मुग्ध हो जाती है, किन्तु यह अलौकिक सुषमा, सौन्दर्य और सौरभ पाने के लिये फूल को कितने दिन भूमि की अँधेरी गुफाओं में तपस्या करनी पड़ी, कितनी पीड़ाएँ और यातनाएँ झेलनी पड़ीं—और किस साहस तथा साधना के बल पर वह भूगर्भ से निकल कर विकास के इस चरम रूप को प्राप्त हुआ, इसका रहस्य तो कोई विरला ही जान पाता है।

जैनधर्म की पृष्ठभूमि

धर्म का आधार

विश्व में जितने भी धर्म हैं, उन सब का मूल आधार है—आत्मा और परमात्मा। ये दो तत्व ही समस्त धर्मों के मूल तत्व हैं। इन्हीं दो तत्वरूप स्तंभों पर धर्म का सुरम्य प्रासाद खड़ा हुआ है। इस आधार को दृष्टिगत रखकर यदि धर्म-परम्पराओं का विवेचन एवं वर्गीकरण करें तो वे दो अलग-अलग भूमिकाओं पर खड़ी दिखाई देंगी। कुछ धर्म-परम्पराएँ परमात्मवादी हैं और कुछ आत्मवादी। परमात्म-वादी धर्म-परम्परा को सीधी भाषा में ईश्वरवादी धर्म-दृष्टि भी कह सकते हैं। ईश्वर, भगवान, ब्रह्म चाहे कुछ भी नाम हों, किन्तु उस धर्म में सर्वोपरि सत्ता वही है, वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शक्ति है, कर्ता, हर्ता और भर्ता वही है। वह अपनी इच्छा के अनुसार संसार यंत्र को चलाता है, आत्मा को वही शुभ-अशुभ की ओर प्रेरित करता है। जीव का यहां स्वतंत्र अस्तित्व कुछ नहीं है, जो कुछ है वह ईश्वर है।

भारतीय धर्म-परम्पराओं में जैन एवं बौद्ध धर्म-परम्पराओं को छोड़कर प्रायः सभी धर्म-परम्पराएँ ईश्वर को ही सर्वोपरि शक्ति एवं सृष्टियंत्र का संचालक मानती हैं। इसलिये वे ईश्वरवादी धर्म-परम्पराएँ कहलाती हैं।

भारतीय धर्म-परम्परा में जैन एवं बौद्ध धर्म— दो ऐसी धर्म-परम्पराएँ हैं, जो ईश्वर के सिंहासन पर आत्मा को ही बिठाती हैं। आत्मा को ही वे सर्वशक्तिसम्पन्न कर्ता-हर्ता मानती हैं। उनकी आस्था में ईश्वर या परमात्मा—कोई अजनबी वस्तु नहीं, कोई सर्वथा नवीन भिन्न तत्व नहीं, किन्तु परम विकसित शुद्ध निर्मल आत्मा ही परमात्मा बनता है। परमात्मा सर्व द्वंद्व मुक्त, इच्छा, द्वेष-शून्य आत्मा का ही रूप है। कर्मयुक्त जीव आत्मा है, और कर्ममुक्त जीव परमात्मा।

दूसरी बात जहां भारत के अन्य धर्मों में आत्मा को ईश्वर का अनुगामी, उपासक एवं सेवक माना है, वहां जैनधर्म में आत्मा को ही परमात्मा बनने का अधिकारी माना गया है। जहां, वैदिकधर्म में परमात्मा का सिर्फ भक्त बने रहने में ही आत्मा की कृतार्थता है, वहां, जैनधर्म में आत्मा को परमात्मा, भक्त को भगवान बनने तक का अधिकार है। भारतीय धर्म-परम्पराओं में दृष्टि एवं विश्वास

का यह एक मौलिक भेद है, जो उन्हें दो धाराओं में विभक्त करता है—(१) ईश्वर-वादी अर्थात् परमात्मवादी। (२) अनीश्वरवादी अर्थात् आत्मवादी। अनीश्वरवाद का अर्थ—ईश्वर की सत्ता में अविश्वास या उस परमतत्व की अस्वीकृति से नहीं, किन्तु ईश्वर को सृष्टियंत्र का संचालक मानने से है और ईश्वर को आत्मा से सर्वथा भिन्न तत्व न मानकर पूर्ण विकसित शुद्ध आत्मा को ही परमात्मा मानने की दृढ़ धारणा से है।

भारतीयेतर धर्मों में भी प्रायः ये दो भेद मिलते हैं—ईसाई व इस्लामधर्म, ईश्वरवादी धर्म हैं। चीन का कांगफ्यूत्सीधर्म (कन्फ्युसियस) और जरथुस्तधर्म ईश्वर की सत्ता के विषय में प्रायः मौन हैं, किन्तु वे आत्मा के विषय में भी कोई विशेष चिन्तन नहीं देते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है—वे आत्मा और परमात्मा की चर्चा से दूर हटकर चलने वाले सिर्फ नैतिकतावादी धर्म हैं, जिन्हें धर्म न कहकर एक प्रकार की नैतिक आस्था कह सकते हैं। इसलिये यहां पर उन धर्म-परम्पराओं की चर्चा भी अप्रासंगिक होगी।

आत्मवादी धर्म

ईश्वर को, परमात्मा को सृष्टि का निर्माता व शासक न मानने के कारण जैनधर्म को यदि अनीश्वरवादी धर्म कहा जाय तो इसमें कोई क्षोभ की बात नहीं है। किन्तु उसका वास्तविक ऐतिहासिक रूप अनीश्वरवाद में नहीं, आत्मवाद में है। इसलिये हमने प्रारंभ में ही धर्म-परम्पराओं को परमात्मवादी एवं आत्मवादी—दो श्रेणी में रखा है। जैनधर्म की मुख्य पृष्ठभूमि आत्मवाद ही है।

जैनधर्म का यह दृढ़तम विश्वास है, शाश्वत सिद्धान्त है कि—

> **अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।**
> **अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ॥**

आत्मा ही सुख-दुःख का करनेवाला है और वही उनके फल भोगनेवाला है एवं उनसे मुक्ति प्राप्त करनेवाला है। शुभमार्ग में प्रवृत्त आत्मा स्वयं का श्रेष्ठतम मित्र है, अशुभमार्ग में प्रवृत्त आत्मा स्वयं का निकृष्टतम शत्रु है। जो कुछ है, वह आत्मा ही है। दुःखदाता, दुःखःभोक्ता एवं दुखमोक्ता आत्मा ही है. ये तीनों बातें आत्माधीन हैं। परमात्मा, आत्मा और सृष्टि के बीच में कुछ भी दखल नहीं करता। वह तो निर्विकार, निरंजन, सिद्ध स्वरूप है। आत्मा का अन्तिम आदर्श है, अर्थात् आत्मा की यात्रा की अन्तिम मंजिल है। इसलिये परमात्मा को आत्मा व सृष्टि के साथ जोड़ना उसके स्वरूप व स्वभाव के साथ अज्ञानपूर्ण कल्पना है।

आत्मवाद की इसी पृष्ठभूमि पर जैन आचार-विचार का संपूर्ण महल खड़ा है। आत्मवाद को व्यवस्थित रूप से समझने के लिये कर्म-सिद्धान्त का विवेचन भी किया गया है। आत्मा और कर्म इन्हीं दो तत्वों पर जैनधर्म का आचारपक्ष, विचार-पक्ष, आध्यात्मिकता और नैतिकता टिकी हुई है।

प्रश्न होता है कि धर्म-परम्पराओं की आत्मवादी एवं परमात्मवादी विचार-धारा में प्राचीन धारा कौन-सी है ?

आत्मवादी विचारों की प्रागैतिहासिकता

यद्यपि धर्म के सम्बन्ध में प्राचीनता एवं अर्वाचीनता का आग्रह एक धर्म-व्यामोह का ही रूप माना जाता है, इसलिये हमारी दृष्टि में इसका विशेष महत्व नहीं है। कोई विचार प्राचीन होने से ही गौरवशाली नहीं होता, उसमें तेजस्विता भी होनी चाहिये। तेजस्विता, जीवनोपयोगिता विचार को स्वयं ही गौरवमंडित बना देती है। फिर भी प्राचीनता की दृष्टि से भी यदि हम तटस्थ चिंतन करें तो यह सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट है कि मनुष्य का चिंतन आत्मवाद से परमात्मवाद की ओर बढ़ा है। वैदिक आर्यों ने जिस पुरुषार्थवादी पराक्रमी जाति के साथ समझौता कर आर्यावर्त में अपनी सत्ता फैलाई वह आर्यावर्त—भारतवर्ष की मूल जाति द्रविड़ जाति थी। इतिहास के आदि छोर को पकड़नेवाले गवेषकों का मत है कि उस जाति के विचारों में वे ही तत्व सक्रिय थे जो आज जैनधर्म में हैं। उस जाति की संस्कृति में श्रमणसंस्कृति के बीज थे। वैदिककाल का मनुष्य आत्मवादी मनुष्य है, पुरुषार्थवादी मनुष्य है। वह जीवन के प्रति, अपने कर्तव्य के प्रति आशावादी है, उत्तरदायित्ववादी है। आत्मा के उत्साह, बल, वीर्य और पुरुषार्थ में विश्वास करता है। उसमें विजेता की वृत्ति है, और यह विजेता की वृत्ति, पुरुषार्थवादीवृत्ति, आत्मवादी जैनधर्म की मूलवृत्ति है, श्रमणसंस्कृति का मूल स्वर है। इसलिये इतिहास को सिर्फ इतिहास की दृष्टि से नहीं, किन्तु मानव-मनोविज्ञान की दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म का आदि स्रोत आत्मवाद के उत्स से प्रवाहित हुआ है और उस आत्मवाद का उद्घोष है—'**अप्पा कत्ता विकत्ता य**' का शास्वत सिद्धान्त !

जैनधर्म का प्राचीन नाम

आज जिसे हम जैनधर्म कहते हैं, प्राचीनकाल में उसका कुछ और नाम रहा होगा। 'जैन' शब्द अर्वाचीन है, भगवान महावीर के समय में इसका बोधक

'निर्ग्रन्थ' शब्द था। 'निर्ग्रन्थधर्म' या 'निर्ग्रन्थप्रवचन'[१]—महावीरकालीन शब्द है। कहीं-कहीं आर्यधर्म[२] भी कहा गया है। भगवान महावीर से पूर्व भगवान पार्श्वनाथ के समय में इसे 'श्रमणधर्म'[3] भी कहा जाता था। भगवान पार्श्वनाथ से पहले भगवान अरिष्टनेमि के समय में इसे 'अर्हत्‌धर्म' भी समझा जाता था। अरिष्टनेमि को अनेक स्थानों पर 'अर्हत्‌ अरिष्टनेमि' के नाम से पुकारा गया है। इतिहास के पर्दे पर नामपट और भी बदलते रहे होंगे। मध्यकालीन तीर्थंकरों के समय में किस नाम से इस परम्परा और धर्म को पुकारा गया और भगवान आदिनाथ के युग में इस परम्परा का अभिभाषक क्या नाम प्रचलित था, यह विश्वस्तरूप से हम नहीं कह सकते। किन्तु यह कह सकते हैं कि इस धर्म के, इस परम्परा और संस्कृति के मूल सिद्धान्त बीज रूप में वे ही रहे हैं जो आज हैं, और वह है आत्मवाद, आत्म-कर्तृत्ववाद। इसी आत्मवाद की उर्वरभूमि पर इस धर्म-परम्परा का कल्पवृक्ष फलता-फूलता रहा है। कालगणना से परे और इतिहास की आंखों से आगे—सुदूर अतीत, अनन्त अतीत, अनादि प्राक्काल में भी इन विचारों की स्फुरणा, इन विश्वासों की प्रतिध्वनि मानव मन में गूंजती रही है, मानव की आस्था इस मार्ग पर दृढ़ चरण रखती हुई अपने ध्येय को पाती रही है। इन विचारों को वायुमंडल में फैलाने वाले तीर्थंकर, धर्मप्रवक्ता समय-समय पर होते रहे हैं।

जैनधर्म का प्रवर्तक कौन ?

जैनधर्म की यह परम्परा जब अपने सिद्धान्त को, अपने दर्शन को, अपने विश्वास को अनादि मानती है, तो यह प्रश्न भी निरर्थक हो जाता है कि इसके आदि प्रवर्तक कौन थे ? जिस धर्म की आदि नहीं है, उसका आदि प्रवर्तक कौन हो सकता है ? कुछ लोग भगवान महावीर को जैनधर्म का संस्थापक बताते हैं, कुछ लोग आदि-नाथ को। दर्शन की भाषा में दोनों ही बातें भूलभरी हैं। जैनधर्म की आदि न भगवान महावीर ने की और न भगवान ऋषभदेव ने। भगवान महावीर धर्म के प्रवक्ता थे, सत्य के संपूर्ण द्रष्टा थे, इसलिये वे धर्म के सर्वोत्कृष्ट प्रवक्ता, उपदेष्टा थे। यही बात भगवान ऋषभदेव के विषय में समझनी चाहिये। हां, एक प्राचीन विचार, धर्म की धारणा, जो कालप्रवाह से विच्छिन्न हो गई थी, लुप्तप्राय: हो चुकी थी, भगवान ऋषभदेव ने अपने दिव्य ज्ञानबल से उसे पुनः उद्‌घाटित किया। धर्म के

१ निग्गन्थे धम्मे, निग्गंठे पावयणे।

२ अरियधम्मं।

३ समणधम्मे।

शाश्वत विचारसूत्रों को युग की भाषा और युगीनशैली में जनता को समझाया। इसलिये उन्हें जैनधर्म का आदि प्रवक्ता अर्थात् धर्म का मुख माना गया है।[1]

कालचक्र

संक्षेप में जैनधर्म की ऐतिहासिक मान्यता यह है कि—कालचक्र के दो भाग होते हैं—एक क्रमशः विकासशील (उत्सर्पिणी) काल और दूसरा क्रमशः ह्रासशील (अवसर्पिणी) काल। हम अभी अवसर्पिणी काल में चल रहे हैं। इस अर्धकाल-चक्र की धुरी के छह आरे होते हैं। जिसका वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

१ **सुषम-सुषमा**—अत्यन्त सुखमय काल
२ **सुषमा**—सुख रूप काल
३ **सुषमा-दुषमा**—पहले सुख एवं पश्चात् दुःखमय काल
४ **दुषम-सुषमा**—पहले दुःख एवं पश्चात् सुखमय काल
५ **दुषमा**—दुखमय काल
६ **दुषम-दुषमा**—अत्यन्त दुखःमय काल

कालचक्र गाड़ी के चक्के—(आरे) की भांति नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे—अर्थात् अवनति से उन्नति एवं उन्नति से अवनति की ओर घूमता रहता। ये छह आरे अवसर्पिणी में होते हैं और छह ही उत्सर्पिणी में, यों बारह आरे का एक पूर्ण कालचक्र होता है।

चौबीस तीर्थंकर

प्रत्येक अवसर्पिणी– उत्सर्पिणी काल में २४-२४ तीर्थंकर[2] होते हैं। हमारे इस अवसर्पिणीकाल में भी २४ तीर्थंकर हो गये हैं, जिन्होंने स्वयं सत्य का, आत्मा का

१ धम्माणं कासवो मुहं—काश्यप (ऋषभदेव) धर्मों का मुख है।

२ **तीर्थंकर**—जैन परिभाषा का मुख्य शब्द है। इसका अर्थ बहुत व्यापक है। साधारण भाषा में तीर्थ कहते हैं पवित्रस्थान को, किन्तु उसका मूल अर्थ है घाट। जहां से नदी आदि को पार करने के साधन प्राप्त होते हैं, उस स्थान (घाट) को तीर्थ कहते हैं। उस घाट का कर्ता, अर्थात् घाट से यात्रियों को पार उतारने का साधन बताने वाला ही वास्तव में उस घाट—तीर्थ का अधिकारी या स्वामी या कर्ता होता है।

रूपक की भाषा में संसार एक नदी है, धर्म या सत्य उसका घाट है। तीर्थंकर वह नाविक है जो इस नदी से पार होने के लिये इन घाटों के माध्यम से हमें

साक्षात्कार किया और फिर विश्व को उसके सम्बन्ध में सत्य ज्ञान दिया। उनका ज्ञान ही हमारे लिये धर्म था, उपदेश था। इन तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर थे भगवान ऋषभदेव और अंतिम तीर्थंकर हुये भगवान महावीर। इनके मध्य बाईस और तीर्थंकर हो गये। क्रमशः २४ तीर्थंकरों के नाम इस प्रकार हैं—

१ श्री ऋषभदेव	१३ श्री विमलनाथ
२ श्री अजितनाथ	१४ श्री अनन्तनाथ
३ श्री संभवनाथ	१५ श्री धर्मनाथ
४ श्री अभिनन्दन	१६ श्री शान्तिनाथ
५ श्री सुमतिनाथ	१७ श्री कुन्थुनाथ
६ श्री पद्मप्रभ	१८ श्री अरनाथ
७ श्री सुपार्श्वनाथ	१९ श्री मल्लिनाथ.
८ श्री चन्द्रप्रभ	२० श्री मुनिसुव्रत
९ श्री सुविधिनाथ	२१ श्री नमिनाथ
१० श्री शीतलनाथ	२२ श्री अरिष्टनेमि
११ श्री श्रेयांसनाथ	२३ श्री पार्श्वनाथ
१२ श्री वासुपूज्य	२४ श्री महावीर स्वामी

इतिहास और पुराण की दृष्टि

इन चोबीस तीर्थंकरों में प्रभु महावीर एवं पुरुषादानीय भगवान पार्श्वनाथ इतिहासकारों की दृष्टि में साक्ष्य हैं। उनके विषय में अनेकानेक ग्रंथ एवं अन्य प्रमाण

रास्ता बताता है। नाविक स्वयं मार्ग देख चुका है, नदी को पार कर चुका है, मंजिल तक पहुंच चुका है, वह कृतकार्य है, किन्तु फिर भी वह क्षणभर भी विश्रान्ति लिये बिना पार जाने वालों को उस पार पहुंचाने में, रास्ता बताने में संलग्न है। वह सतत श्रम करता है कि अधिक-से-अधिक लोग इस नदी को पार कर अपनी मंजिल (मोक्ष) तक पहुंच सकें। इसी उद्देश्य की सफल परिणति में उसका तीर्थंकर नाम सार्थक होता है। जैनधर्म ने जो भाव, जो संकेत, जो ध्वनि इस तीर्थंकर शब्द में भरी है, उसकी अभिव्यक्ति न भगवान शब्द कर सकता है, न ईश्वर, न अवतार, और न पैगम्बर।

जैन परिभाषा में तीर्थ (घाट) चार प्रकार के माने हैं—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका। इन्हें संघ भी कहते हैं। इस संघ की स्थापना करने के कारण भी वह तीर्थंकर कहलाते हैं। यह भी एक प्रकार का धार्मिक गणराज्य समझना चाहिये।

उनकी ऐतिहासिकता को सिद्ध कर रहे हैं। भगवान अरिष्टनेमि के सम्बन्ध में भी काफी ऐतिहासिक प्रमाण मिल चुके हैं। शेष इक्कीस तीर्थंकरों की जीवनगाथा आज भी पौराणिक गाथा मानी जाती है। भगवान ऋषभदेव के विषय में ऋग्वेद एवं महाभारत तथा भागवत भी साक्षी देते हैं। किन्तु वे इतिहास की कालगणना से अतीत हैं। हम उन्हें प्रागैतिहासिक महापुरुष कह सकते हैं।

प्रश्न यह है कि— इतिहास (वर्तमान इतिहास की खोज) जहां नहीं पहुंचा, क्या वह सत्य नहीं है? और इतिहास ने जो कुछ पाया है, क्या वह सब सत्य है? इस गुत्थी को खोलना यहां अप्रासंगिक होगा, किन्तु यह समझ लेना चाहिये कि हमें न इतिहास को आंख मूँदकर स्वीकार कर लेना चाहिये, और न पुराण का सर्वथा अपलाप करना है। वास्तव में इतिहास मात्र कुछ घटनाओं का संकलन होता है, और पुराण उन घटनाओं की आदर्शोन्मुखी व्यंजना है। पुराण घटना को सिर्फ घटना के रूप में नहीं, किन्तु उस घटना के माध्यम से हमारे कर्तव्य व आदर्श को भी प्रस्तुत करता है। इतिहास सिर्फ घटना और सत्य को पकड़ता है, किन्तु पुराण (मिथलौजी) उस घटना के मर्म को उघाड़ता है, सत्य में छिपे तथ्य तक पहुंचकर उसमें चरित्र को प्रकट करता है। इसलिये पुराण चरित्र होता है, चरित्र का निर्माता होता है। इतिहास चरित्र का निर्माण नहीं कर सकता।

महापुरुषों को देखने की हमारी दृष्टि मात्र इतिहास से बँधी होगी तो हम उनके दिव्यरूप के दर्शन नहीं कर पायेंगे। हम महापुरुषों को मात्र ऐतिहासिक ज्ञान बढ़ाने के लिये नहीं पढ़ते, किन्तु उनसे जीवन का आदर्श प्राप्त करने के लिये, कर्तव्य की प्रेरणा पाने के लिये पढ़ते हैं और अकेला इतिहास यह लक्ष्य पूर्ण करने में असमर्थ है। इसलिये हमें इतिहास के साथ पुराण भी पढ़ने होंगे। सत्य को नंगी आंखों से नहीं, श्रद्धा की आंखों से देखना होगा। जैनधर्म मेधा और श्रद्धा, ज्ञान और प्रज्ञा दोनों का समन्वय चाहता है। इसलिये हमें अपने महापुरुषों का चरित्र ऐतिहासिक दृष्टि से भी पढ़ना है, और पौराणिक दृष्टि से भी।

भगवान आदिनाथ, शान्तिनाथ, अरिष्टनेमि आदि तीर्थंकरों का चरित्र भले ही पौराणिक हो, किन्तु उसमें जीवन की कला, साधना की दिव्य दृष्टि मिलती है। इतिहासकार की नजर में भगवान महावीर का जीवन भी कुल क्या है? अधिक-से-अधिक दो पृष्ठ का। किन्तु जिसके सामने भगवान महावीर के विशाल चरित्र ग्रंथ पड़े हैं, उसके लिये तो वह अगाधसमुद्र है, प्रेरणा और आदर्श का अक्षय स्रोत है।

प्रस्तुत उपक्रम

प्रस्तुत पुस्तक में हम तीर्थंकर महावीर का जीवनवृत्त लिखने जा रहे हैं। इस लेखन में घटनाओं को समझने में इतिहास जहां तक हमारा साथ देता है, दे, उसके आगे पुराणों, प्राक्तन जीवनग्रन्थों का चश्मा लगाकर भी उस महामानव के महातिमहान दिव्य स्वरूप को देखना है, इतिहासातीत गहराई में उतर कर उस जीवन की भव्य, मनोरम एवं प्रेरणादायी झांकी पानी है। क्षमा, तप, त्याग, दया, धैर्य, सहिष्णुता, उत्सर्ग की विविध साधनाओं को समझना है और जीवन में उसे जागृत करने की कला सीखनी है। इस दृष्टि को स्पष्ट करके हम जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के दिव्य जीवन को घटना प्रसंगों को और उनकी लोक-मंगलकारी वाणी को प्रस्तुत कर रहे हैं।

जिनत्व की उदात्त साधना

साधना से सिद्धि मिलती है—इस बात में कोई दो मत नहीं हो सकते। जिस जीवन के पीछे जितनी गहरी साधना होती है, वह जीवन उतना ही विराट् एवं तेजस्वी होता है। आत्म-साधना के मार्ग पर चलता हुआ अपना विकास करता है, उत्कर्ष को साधता है, और धीरे-धीरे सिद्धि के द्वार पर पहुँच जाता है। साधना का मार्ग एक प्रकार का आध्यात्मिक विकास का मार्ग है, आन्तरिक उत्कर्ष का मार्ग है।

भौतिक जगत में डार्विन का सिद्धान्त विकासवाद के नाम से प्रसिद्ध है। उसने कीट-पतंग से बन्दर, और बन्दर से मानव तक की विकास-कल्पना की, किन्तु मानव में आकर उसकी विकासप्रक्रिया अवरुद्ध हो गई है। शायद मानव से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ जीव उसकी कल्पना में नहीं आया होगा। सम्भव है डार्विन जैसा विकासवादी यदि जैनधर्म की आध्यात्मिक विकास प्रक्रिया के सम्पर्क में आया होता तो वह भी मानव से महामानव तक की आध्यात्मिक विकासयात्रा में जैन विचार का प्रबल समर्थक और सहयात्री बन जाता।

जैनधर्म जीव के लैंगिक एवं भौतिक परिवर्तन तक ही आकर नहीं अटक जाता, वह उसके अन्तर्जगत् में आध्यात्मिक परिवर्तन की कल्पना भी करता है। वह मानता है, प्राणी के अन्तर्जगत् में आध्यात्मिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया सतत चालू रहती है, वह प्रक्रिया कभी विकास की ओर, तो कभी ह्रास की ओर उसे ले जाती है। ह्रास से फिर विकास की ओर बढ़ती है। गति का जब सही मार्ग मिल जाता

है तो वह विकास यात्रा ऊर्ध्वमुखी हो जाती है। जीव से शिव तक, जन से जिन तक और आत्मा से परमात्मा तक पहुंचकर यह यात्रा सम्पन्न होती है। इसी विकास-यात्रा को हम जन से जिनत्व की साधना कह सकते हैं।

तीर्थंकर महावीर एक ही जीवन की (जन्म की) साधना से तीर्थंकर बन गये हों, मानव से महामानव के पद पर पहुंच गये हों—यह असम्भव कल्पना है। अनेक जन्मों में उन्होंने तपस्या की होगी, सेवा की होगी, आन्तरिक एवं बाह्य संघर्ष से जूझते रहे होंगे। शरीर को भी तपाया होगा। मन को भी साधा होगा। भूख-प्यास, शीत-ताप, मान-अपमान की हजारों पीड़ाएं, यातनाएं सही होंगी और सब कुछ सह-कर अन्तर्जीवन को निर्मल एवं उदात्त बनाते रहे होंगे—यह कल्पना हमारे जिज्ञासु मन में उठती है, और हमारी पौराणिक गाथाएं इसका उपयुक्त समाधान भी देती हैं।

यात्रा का प्रथम चरण

वैसे तो प्राणी की यात्रा अनादि है, क्योंकि जब आत्मा की सत्ता अनादि है, तो उसकी यात्रा के किसी प्रथम पड़ाव की कल्पना भी गलत है। उसकी आदि यात्रा का कोई लेखा-जोखा सर्वज्ञ पुरुषों के पास भी नहीं है, तो पुस्तकों में कहां से होगा। अतः भगवान महावीर की यात्रा के किस पड़ाव से हम उनकी यात्रा की दीर्घता को नापें; यह एक विकट प्रश्न है। किन्तु इस प्रश्न का उपयुक्त समाधान भी भगवान महावीर की जीवनगाथा के लेखकों ने खोजा है। वे कहते हैं, जिस दिन से भगवान महावीर की आत्मा ने विकास की सही दिशा पकड़ी, उसी दिन से उनकी यात्रा को हम आध्यात्मिक विकास यात्रा कह सकते हैं। आत्मविकास की सही दिशा में उन्होंने जिस दिन प्रथम चरण बढ़ाया था, महावीर के उसी भव (जन्म) को हम उनका प्रथम भव (आध्यात्मिक विकास तथा सम्यक्त्व प्राप्ति की दृष्टि से) कह सकते हैं। जैन आचार्यों ने भगवान महावीर के ऐसे पूर्व भवों की कोई बहुत लम्बी परम्परा नहीं बताई है। वे सिर्फ छब्बीस भव पूर्व की भव परम्परा गिनकर सत्ताईसवें भव में ही उन्हें तीर्थंकर महावीर के रूप में उपस्थित कर देते हैं।[1] अगले पृष्ठों में हम तीर्थंकर महावीर के जीवन की पृष्ठभूमिस्वरूप उनके पूर्वभवों की कुछ विशेष प्रेरणाप्रद घटनाओं की चर्चा करेंगे।

१ आचार्य गुणभद्र की मान्यता के अनुसार तीर्थंकर महावीर की विकासयात्रा तेतीस भव पूर्व प्रारम्भ होती है, और चौंतीसवां भव महावीर का होता है। देखिये—उत्तरपुराण पर्व ७४, पृष्ठ ४४४।

अतिथि-सेवा का दिव्यफल

यह घटना अतीत की ! वर्ष और शताब्दी का कोई लेखा इसके साथ नहीं है। सिर्फ एक घटना है, कभी भी घटी हो, किन्तु जिस दिन भी यह घटी है, एक बहुत बड़ा परिवर्तन आया है, एक यात्री की यात्रा का मार्ग ही बदल गया है, अनन्त अतीत से भटकती हुई एक आत्मा ने सही मार्ग और सही दिशा प्राप्त कर ली उस दिन। उसके भीतर का सुप्त जिनत्व उस दिन से अपने मूल रूप में प्रकट होना प्रारम्भ हो गया है --उस ऐतिहासिक दिन की यह एक घटना है।

नयसार नाम का एक ग्रामचिंतक था। गाँव का वही मुखिया था, गाँव के सुख-दुःख की चिन्ता उसकी अपनी चिन्ता थी, इसलिए उसका नाम वास्तव में ही ग्राम-चिंतक -(ग्राम की चिंता करनेवाला) सार्थक था।

नयसार जिस प्रदेश में रहता था, वहाँ इमारती लकड़ियों के घने जंगल थे। एक बार वह अनेक कर्मकरों को साथ लेकर लकड़ी काटने के लिये जंगल में गया। मध्याह्न के समय जब धूप तेज हो गई और कर्मचारी भूख-प्यास से पीड़ित हो गये, तो नयसार ने सबको भोजन व विश्राम की छुट्टी दे दी। नयसार भी हाथ-मुंह धोकर एक सघन छायादार वृक्ष के नीचे भोजन करने बैठा। भोजन के समय "पहले किसी अतिथि को खिलाकर फिर स्वयं खाना"—यह नयसार का नियम था। आज घने जंगल में उसे कोई अतिथि नहीं मिला, इसलिये खाने को बैठकर भी वह अतिथि की इन्तजार मे इधर-उधर की राहों पर दूर-दूर तक नजर दौड़ाने लगा।

सच्ची इच्छा अवश्य फलती है। इधर-उधर देखते हुए नयसार को कुछ श्रमण आते दिखाई दिये। नयसार का हृदय खिल उठा, वह कुछ कदम श्रमणों के सामने गया। श्रमण धूप व भूख-प्यास से व्याकुल हो रहे थे। नयसार ने उन्हें शीतल छाया में बैठने का आग्रह किया। विश्रान्ति लेने के बाद नयसार ने पूछा—"आर्य ! आप इस बीहड़ जगल में किधर से आ रहे हैं ?"

श्रमणों ने कहा—"आयुष्मन् ! हमें अमुक नगर को जाना था, किन्तु रास्ता भूल गये, उत्पथ में चल पड़े, प्रातःकाल से अब तक चले आ रहे हैं।"

"आर्य ! इस जंगल में तो कहीं आपको भोजन भी नहीं मिला होगा ?"—नयसार ने पूछा।

"आयुष्मन् ! श्रमण भोजन और पानी तभी ग्रहण करते हैं जब उन्हें अपने नियम के अनुकूल शुद्ध व निर्दोष प्राप्त हो। फिर इस घने जंगल में तो भोजन और

पानी की बात ही क्या—विश्रान्ति के लिये भी कहीं नहीं रुके हैं—अभी मार्ग का अता-पता भी नहीं है।"

नयसार ने अपनी शुद्ध, सात्विक भोजन सामग्री की ओर इशारा करके कहा—"आर्य ! मेरे पास यह शुद्ध, सात्विक भोजन तैयार है। और आज मुझे अभी तक किसी अतिथि का लाभ भी नहीं मिला है, अतः आप कृपा करके मुझसे कुछ भिक्षा लीजिए।"

मुनियों ने नयसार से भिक्षा ग्रहण की। नयसार की आत्मा अत्यन्त प्रसन्न थी, आज उसने त्यागी, तपस्वी महान् अतिथियों को भिक्षा दी, उसकी आत्मा का कण-कण पुलक रहा था।

भोजन प्राप्त कर श्रमणों के हृदय को भी बड़ी तृप्ति व शान्ति मिली। शुद्ध व सात्विक दान, दाता और आदाता—दोनों को ही प्रसन्नता देता है।

कुछ समय धूप टाल कर मुनि आगे नगर की ओर बढ़ने लगे। नयसार दूर तक उनके साथ गया, रास्ता बताने के लिये। जब वह लौटने लगा तो मुनियों ने दो क्षण रुककर उससे पूछा—"भाई, कुछ धर्म-कर्म करते हो ?"

नयसार लज्जित-सा होकर बोला—"आर्य ! अतिथि-सेवा तो जरूर करता हूं, इसके आगे धर्म-कर्म का ज्ञान मुझे नहीं है। आप जैसे सत्पुरुषों का यह सत्संग भी जीवन में पहली बार ही मिला है।"

नयसार की सरलता, विनम्रता व पात्रता देखकर मुनियों ने कहा—"तुमने सहज श्रद्धा के साथ हमें दान दिया, और नगर का रास्ता बताया है, अब तुम भी हमसे कुछ लाभ प्राप्त करो, आत्म-विकास का मार्ग जान सको तो अच्छा हो।"

मुनि के सरल हृदयग्राही उपदेश का नयसार के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। मुनियों के मुख से सद्बोध सुन उसे कुछ अभूतपर्व दृष्टि मिल गई, हृदय में प्रकाश-सा जग गया। मुनि आगे चले गये। कुछ ही क्षण का सत्संग नयसार के जीवन को बदल गया, उसके जीवन की दिशा ही बदल गई, फिर दशा तो बदलनी ही थी। दृष्टि बदली तो सृष्टि भी बदल गई। नयसार को उसी दिन आत्मा और शरीर का भेद-विज्ञान मिला, स्वयं के महान अस्तित्व का सच्चा बोध हुआ। जैन परिभाषा में उसे सम्यग्दृष्टि प्राप्त हुई।[1]

भगवान महावीर की जिनत्व यात्रा का यही प्रथम पड़ाव माना गया है।[2]

१ नयसार की आत्मा आयु पूर्ण कर सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुई और वहां से चक्रवर्ती भरत के पुत्र मरीचि के रूप में जन्म लिया।

२ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग १

सरलता का पुरस्कार

भगवान ऋषभदेव इस युग (अवसर्पिणी काल) के प्रथम तीर्थंकर हुये। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती थे। चक्रवर्ती भरत के अनेक पुत्रों में एक विशिष्ट तेजस्वी पुत्र था मरीचि।

भगवान ऋषभदेव का प्रथम समवसरण अयोध्या में रचा गया। उनकी दिव्य देशना सुनने के लिये मानव ही क्या, स्वर्ग के असंख्य-असंख्य देव भी विनीता नगरी में एकत्रित हो रहे थे। मरीचि कुमार भी उस समवसरण में पहुंचा। प्रभु का धर्मोपदेश सुनकर उसका मन प्रतिबुद्ध हो उठा। पिता की अनुमति लेकर वह मुनि बन गया। मरीचि बड़ा तीक्ष्णबुद्धि वाला था, शीघ्र ही वह अनेक शास्त्रों का रहस्यवेत्ता बन गया। प्रारम्भ में वह निस्पृह व कठोर साधना में रुचि रखता था। किन्तु धीरे-धीरे शरीर के प्रति ममत्व जगने लगा, कष्टों से वह घबराने लगा। एक बार भयंकर ग्रीष्मऋतु में गर्मी व प्यास आदि परीषहों से वह व्याकुल हो उठा। उसे लगा—"उसका सुकुमार शरीर इन दारुण कष्टों को सहने में असमर्थ है।" वह असमंजस में पड़ गया—इधर नाग, उधर नदी। कठोर संयम उससे पल नहीं सकता, यदि छोड़कर गृहस्थ-जीवन में पुनः जाता है तो किस मुँह से? आखिर उसने एक रास्ता निकाला। अपने पूर्व जीवन के नियमों में उसने परिवर्तन किया - कंद-मूल खाना, नदी आदि का कच्चा जल पीना, जूते पहनना, जटा धारण करना, रंगीन वस्त्र पहनना, स्नान करना आदि। इस प्रकार वेष एवं नियमों में परिवर्तन कर मरीचि ने साधना का एक सरल मार्ग खोज निकाला। कठोर त्याग और अनियमित भोग के दोनों किनारों के बीच वह एक नवीन मार्ग पर चलने लगा। जैन-परम्परा के अनुसार परिव्राजक परम्परा का आदि पुरुष यही मरीचि था।[1]

१ आचार्य हेमचन्द्र, गुणचन्द्र आदि चरित्र लेखकों ने मरीचि के नवीन आचरण को काव्यात्मक शैली में इस प्रकार बताया है—भगवान ऋषभदेव मोहरूपी आच्छादन (आवरण) से मुक्त थे, किन्तु मरीचि ने अपनी मोहावृत्तता प्रकट करने के लिये, छत्र धारण किया। ऋषभदेव शील आदि सहज गुणों के कारण निर्मल, विशुद्ध तथा स्वतः सुगन्धमय थे किन्तु मरीचि ने अपने शरीर की अशुद्धि दूर करने के लिये स्नान करना तथा चन्दन आदि के तिलक से उसे सुगन्धित करना आरम्भ किया। ऋषभदेव कषायरहित थे, किन्तु मरीचि ने अपनी सकषायता व्यक्त करने के लिये काषाय (भगवां) वस्त्र धारण किया। ऋषभदेव मन, वचन, काया के दण्ड से सर्वथा मुक्त थे, मरीचि ने अपनी त्रिदंड-सहितता जताने के लिये

मरीचि के नवीन वेष व सरल साधनामार्ग को देखकर लोग उससे पूछने लगे—"क्या यह आपका कोई नवीन धर्म है ?"

मरीचि का हृदय सरल था, वह अपनी दुर्बलता को साधना के आडम्बर में छिपाना नहीं चाहता था। वह लोगों से कहता—"धर्म तो वही है जो भगवान ऋषभदेव ने बताया है, मैं उस कठिन साधनापथ का अनुसरण नहीं कर सकता, इसलिये ऐसा मध्यममार्ग निकाला है।"

मरीचि की सरलता ने लोगों के मन में सद्भाव व आदर प्राप्त कर लिया। वह प्रभु ऋषभदेव के साथ-साथ रहने लगा।

एक बार भगवान ऋषभदेव अयोध्या नगरी में आये। उपदेश सुनने के बाद चक्रवर्ती भरत ने भगवान से एक प्रश्न पूछा—"भंते ! आपने जो अनन्त ऐश्वर्य-सम्पन्न जिनदशा व तीर्थंकरपद प्राप्त किया है, क्या भविष्य में ऐसा महान पद और आध्यात्मिक ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाला भाग्यशाली आत्मा इस सभा में और भी कोई है ?"

भगवान ने भरत को संबोधित करके कहा—"भरत ! वह देखो, द्वार पर जो नवीन वेषभूषा धारण किये संन्यासी खड़ा है, जो लोगों को प्रेरित कर इस समवसरण की ओर भेज रहा है, वह तुम्हारा पुत्र मरीचि है। वह श्रमणधर्म के कठोर नियमों को पालन करने में असमर्थ है। किन्तु अपनी असमर्थता को, दुर्बलता को सरलता के साथ स्वीकार करता है और सत्य की ओर लोगों को प्रेरित करता है, वह मरीचि इसी भरत क्षेत्र में वर्धमान नाम का अंतिम तीर्थंकर होगा। और उसी बीच वह त्रिपृष्ठ नाम का प्रथम वासुदेव तथा प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती भी होगा।"

मरीचि के सम्बन्ध में यह भविष्यवाणी सुनकर भरत क हृदय में एक सहज उल्लास जग पड़ा। यह शुभ संवाद सुनाने के लिये वे मरीचि के पास आये और भावावेग में आदर पूर्वक बोले "मरीचि ! तुम धन्य हो गये। भगवान ऋषभदेव के कथनानुसार तुम इस भरतक्षेत्र में वर्धमान नाम के अंतिम तीर्थंकर बनोगे। और उससे पहले वासुदेव और चक्रवर्ती का पद भी प्राप्त करोगे। सचमुच तुम्हारा भविष्य बड़ा गौरवमय है. तीन-तीन श्रेष्ठ पद प्राप्त करना वास्तव में ही महान् साधना का फल है"– हर्षावेश में चक्रवर्ती ने मरीचि को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया और उसके भावी तीर्थंकरत्व के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुये वन्दना की।

त्रिदंड का चिह्न धारण किया। इससे मरीचि के मन की विनम्रता एवं सहज निश्छलता का दिग्दर्शन भी हो जाता है।

यह शुभ संवाद सुनते ही मरीचि खुशी के आवेश में बांसों उछला। ताली पीटता हुआ वह क्षण भर अपना आपा भूल गया और उन्मत्त की भांति नाचने लगा। भुजाएँ ऊँची उठाकर वह तार स्वर से बोला—"अहा! मैं महान हूं। मेरा कुल महान है। मेरे पितामह पहले तीर्थंकर! मेरे पिता पहले चक्रवर्ती और मैं, मैं पहला वासुदेव बनूंगा। फिर चक्रवर्ती सम्राट बनूंगा और फिर अंतिम तीर्थंकर मैं बनूंगा! आज संसार में है कोई मेरे समान भाग्यशाली! गौरवशाली! महान!!" भुजाएँ बार-बार ऊपर-नीचे करता हुआ, तालियां पीटता हुआ, मरीचि बहुत देर तक हर्ष में नाचता रहा।

साधना में अहंकार जहर है, भले ही वह किसी भी विषय का हो। अपने कुल व अपने भाग्य का अति अंहकार आ जाने से मरीचि ने सचमुच में अपने आप को नीचे गिरा दिया। सहज साधना से प्राप्त उपलब्धियां अहंकार से ग्रस्त हो गई।

भगवान ऋषभदेव के परिनिर्वाण के पश्चात् भी मरीचि उपदेश देकर लोगों को श्रमणों के पास भेजता रहा। बीमारी एवं बुढ़ापे में जब स्वयं उसे सेवा की अपेक्षा हुई तो उसने कपिल नाम के एक राजकुमार को अपना शिष्य बनाया।[1]

क्रोध से तप नष्ट

धर्मग्रन्थों में स्वर्ग एवं नरक के चाहे जितने रमणीय एवं बीभत्स वर्णन किये हों, उनका लक्ष्य एक ही है- पुण्य एवं पाप का फल बताना। स्वर्ग और नरक - भोगभूमि है, वहां आत्मा अपने सच्चरित्र एवं दुश्चरित्र से अर्जित पुण्य-पाप का फल भोगता है। एक प्रकार से शुभ एवं अशुभ के भार से मुक्त होता है, पुराना कोश रिक्त करता है और फिर नया शुभाशुभ अर्जित करने के लिये मानव देह में जन्म धारण करता है। नयसार की आत्मा ने स्वर्ग में पुण्य भोगकर मरीचि के रूप में एक राजकुमार का वैभव पाया, और वहां तप-संयम की साधना कर ब्रह्म स्वर्ग में गया और वहां से पुन: मानवजन्म लिया।

पांचवें भव में कोल्लाकसन्निवेश में एक ब्राह्मण कुल में जन्म हुआ। वेदों का गहन-गम्भीर अध्ययन किया। जीवन के अन्तिम भाग में संन्यास (त्रिदण्डी धर्म) ग्रहण किया (चूंकि मरीचि के भव से साधना व संन्यास के संस्कार उसमें जमे हुये

१ त्रिषष्टि० पर्व १०, सर्ग १

थे) फिर अन्य भोगयोनियों में जन्म लेकर पुष्यमित्र नाम का ब्राह्मण हुआ। यहाँ भी विषयों से विरक्त होकर त्रिदण्डी तापस के रूप में विविध तप व धर्म विधियों का आचरण किया।

इस प्रकार चौथे भव से पन्द्रहवें भव तक वह आत्मा अनेक बार स्वर्ग में जाता रहा, मानवदेह धारण कर त्रिदण्डी तापस के रूप में तप आदि की बाल-साधना करता रहा।

मरीचि का जीव अनेक जन्मों में भ्रमण करता हुआ सोलहवें भव में राजगृह में विश्वनन्दी राजा के छोटे भाई विशाखभूति का पुत्र हुआ। वहाँ इसका नाम रखा गया विश्वभूति। राजा का पुत्र था विशाखनन्दी। दोनों भाइयों में बचपन से ही परस्पर में ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा और संघर्ष चलता रहा था। यद्यपि विश्वभूति छुट भाई का पुत्र था, पर वह बड़ा ही तेजस्वी व पराक्रमी था, राजा का पुत्र विशाखनंदी कमजोर, भीरु और चिड़चिड़ा था। अपनी तेजस्विता के कारण विश्वभूति पूरे राज परिवार पर छाया हुआ था। उसे पुष्पक्रीड़ा का बहुत शौक था। अपनी रानियों के साथ राजकीय उद्यान में चला जाता और वहीं निरन्तर पुष्पक्रीड़ा में लीन रहता। फूलों के हार, गेंद आदि बना-बनाकर रानियों के साथ खेलने में उसे बड़ा आनन्द आता। बड़ा राजकुमार जब नौकरों के मुख से विश्वभूति की क्रीड़ाओं की चर्चा सुनता, तो उसका खाया-पीया जल उठता। उसमें इतना तो साहस नहीं था कि विश्वभूति को उद्यान में से निकाल कर स्वयं उसमें क्रीड़ा करने जाये। विश्वभूति के तेज के सामने देखने की भी उसमें हिम्मत नहीं थी। इस कारण वह जलता रहता। कभी-कभी अपनी माँ के सामने भी आकर गिड़गिड़ाने लगता।

एकबार कुछ दासियों ने रानी के कान भरे—"राज्य का आनन्द तो विश्वभूति लूट रहा है। बड़े कुमार तो बिचारे निर्वासित से रहते हैं, न इन्हें उद्यान में घूमने-फिरने को स्थान और न कोई पूछ-ताछ।" दासियों की बात रानी को चुभ गई। अपने पुत्र का अपमान और दुख देखकर वह आग-बबूला हो गई। क्रोध में आकर उसने राजा से कहा—"तुम्हारे राज्य में कितना अंधेर है? अपना बेटा तो अनाथ-सा मुँह ताकता रहता है और छोटे भाई के बेटे मौज उड़ा रहे हैं? हमारे राजकीय उद्यान (पुष्पकरंडक उद्यान) का, उसमें बने सुन्दर झरनों और सुवासित पुष्प मंडपों का आनन्द लूट रहा है विश्वभूति; और अपने बेटे को बगीचे के बाहर ही रोक दिया जाता है, भिखारी की तरह! क्या इस राज्य पर उसका कोई हक नहीं है?"

राजा ने रानी को समझाया—"अपने कुल की मर्यादा है, जब कोई राजा, राजकुमार आदि अपने अन्तःपुर के साथ उद्यान में हो तो, दूसरा उसमें कोई भी प्रवेश नहीं कर सकता।"

रानी ने तैश में आकर कहा—"हाय राम ! चूल्हे में जाय ऐसी मर्यादा ! मालिक मुँह ताकता रहे और चोर माल खाते रहें—जब तक विश्वभूति को उद्यान से निकाला नहीं जायेगा, मैं अन्न जल नहीं लूँगी।"

राजा विश्वनन्दी के सामने विकट समस्या खड़ी हो गई। आखिर उसने रानी को खुश करने के लिये एक उपाय सोचा। अचानक राजा ने युद्ध की भेरी बजाई। उद्यान में क्रीड़ा करता हुआ कुमार विश्वभूति अचानक युद्धभेरी सुनकर चौंक उठा, क्षत्रिय-रक्त युद्धभेरी सुनकर चुप कैसे रह सकता था ? तत्क्षण वहाँ से चल पड़ा, रानियाँ रोकने लगीं, पर वह नहीं रुका। कर्तव्य की पुकार पर वह सीधा राजसभा में पहुँचा, देखा कि महाराज स्वयं युद्ध में जाने की तैयारी कर रहे हैं। सेनाएँ सज रही हैं। कुमार ने पूछा—"महाराज ! अचानक युद्ध की घोषणा कैसे ! क्या बात है ?"

राजा ने कहा—"सीमा पर एक सामन्त है, जो काफी दिनों से सिर उठा रहा है, मैं उसी के साथ युद्ध करने जा रहा हूँ।"

"महाराज ! मैं घर में बैठा रहूँ और आप युद्ध करने जायें, क्या मेरे लिये शर्म की बात नहीं ? मुझे आज्ञा दीजिये।"

राजा तो यही चाहता था, उसने तैयार होने की स्वीकृति दे दी। विश्वभूति सेना को साथ लेकर चल पड़ा। उधर सामन्त ने विश्वभूति को सेना लेकर आते सुना तो वह घबरा उठा, विविध उपहार लेकर वह उसके सामने आया, हाथी-घोड़े, हीरे-मोती आदि विविध उपहार देकर विश्वभूति को प्रसन्न किया। विश्वभूति ने सामन्त को अनुकूल देखा तो उसे सीमाओं की सुरक्षा की जिम्मेदारी सौंपी और बिना युद्ध किये ही विजयदुंदुभि बजाता हुआ पुनः नगर को लौट आया।

पीछे से विशाखनन्दी को मौका लगा और वह उद्यान में घुस गया। विश्वभूति जब पुनः लौटकर उद्यान में जाने लगा तो पहरेदारों ने रोक दिया—"राजकुमार ! उद्यान में कुमार विशाखनन्दी अन्तःपुर के साथ क्रीड़ा करने गये हैं।"

विश्वभूति रुक गया, उसके हृदय पर एक गहरा झटका लगा। सहसा उसके मन में एक विचार लहर उठी "ओह ! मुझे इस उद्यान से निकालने के लिये ही यह युद्ध का नाटक रचा गया लगता है ! और इस नाटक के सूत्रधार हैं महाराज स्वयं। मैं जिनके लिये प्राण न्यौछावर करने को तैयार हूँ वे ही महाराज मेरे साथ कपट-नाटक खेल सकते हैं ? छी ! छी !" विश्वभूति को महाराज के व्यवहार पर बड़ी घृणा हुई, मन क्रोध से भर उठा। दाँत पीसते हुये पास में खड़े एक कौठ वृक्ष को उसने पाँव की ठोकर मार कर गिरा दिया। पहरेदारों पर लाल आँखें कर उसने कहा,

"दुष्टो। तुम्हारे सिर भी कौठ वृक्ष की भाँति यों ही ठोकर मारकर फोड़ डालता, किन्तु अपनी कुल मर्यादा का विचार मुझे रोक रहा है। उस दुष्ट कुमार को कह दो, भाई के साथ धोखा करने का परिणाम अच्छा नहीं होगा।"

विश्वभूति का क्रोध देखकर पहरेदारों को कंपकपी छूट गई, किन्तु कुमार ने दूसरे ही क्षण अपने उमड़ते हुए क्रोध का ज्वार रोक लिया, घृणा, ग्लानि और विषाद से खिन्न हुआ वह सीधा ही एक धर्मगुरु के पास पहुंच गया और आत्म-शान्ति का उपदेश सुना। मन जब शान्त हुआ, तो कुमार ने वहीं गुरु के पास दीक्षा ले ली। दीक्षा या प्रव्रज्या से काम-क्रोध आदि मनोविकार तात्कालिक रूप में दब सकते हैं, किन्तु सर्वथा निर्मूल हो पाने कठिन हैं, उसके लिये तो दीर्घ ज्ञानाराधना आवश्यक है। कठिन तपश्चर्या से शरीर सूख भी जाये किन्तु जब तक अहंकार आदि का सूक्ष्म रस न सूखे तब तक साधना सर्वथा विकारशून्य नहीं हो सकती, अपितु कभी-कभी दुगुने वेग से वे विकार उद्दीप्त भी हो उठते हैं, जैसे कि गर्मी से तप्त भूमि पर प्रथम वर्षा होते ही हरियाली अधिक वेग के साथ अंकुरित हो उठती है। मुनि विश्वभूति के जीवन में ऐसा ही एक प्रसंग आ खड़ा हुआ।

विश्वभूति अब साधु बन गये, कठोर साधना और दीर्घतपस्या करके शरीर को जर्जर कर डाला। एकबार वे मासखमण की तपस्या का पारणा लेने किसी नगर में भ्रमण कर रहे थे। वहाँ पर विशाखनन्दी कुमार भी आया हुआ था। उसके सेवकों ने जब जर्जर कृश-काय मुनि को देखा तो पहचान लिया, उन्होंने तुरन्त विशाखनन्दी को खबर दी, विशाखनन्दी आया, देखा, एक महान योद्धा विश्वभूति आज अत्यन्त दुर्बल जीर्ण-शीर्ण हुआ धकियाता हुआ-सा चल रहा है। पास में ही एक गाय खड़ी है जो उसे धक्का देकर गिरा देती है। यह करुण-दृश्य देखकर विशाखनन्दी को मजाक सूझा उसने व्यंग कसते हुये कहा—"मुने! एक पाद-प्रहार से कौठ (वृक्ष) को धराशायी करने वाला बल आज कहाँ चला गया? अब तो एक गरीब गाय भी तुमको धक्का देकर गिरा देती है?"

राजकुमार के व्यंग वचन से मुनि की क्रोधाग्नि भड़क उठी। सुप्त राजसी संस्कार उद्दीप्त हो उठे। वे बोले—"दुष्ट! यहाँ भी आ पहुंचा तू! मैं साधु बन गया, फिर भी मुझसे मजाक! उपहास! मेरी क्षमा और तपस्या को निर्बलता समझ रहा है? अधम!" और तत्क्षण मुनि ने गाय को दोनों सींग पकड़ कर घास के पूले की तरह ऊपर उछाल कर विशाखनन्दी की तरफ फेंक दिया। विशाखनन्दी घबराकर भाग गया।

पहले किया गया धोखा और अपमान का स्मरण कर मुनि को क्रोध का वेग चढ़ता ही गया। उन्होंने क्रोधाविष्ट हो मन-ही-मन संकल्प किया—"मेरी तपस्या

का फल हो तो मैं इस दुष्ट विशाखनन्दी का सर्वनाश करने वाला बनूँ और ऐसा बल प्राप्त करूँ कि कोई मेरी अवहेलना न कर सके।" बस, क्रोधाविष्ट मुनि ने तपस्या के अमृत को राख में मिला दिया, घोर तप के महान फल को क्षणभर में नष्ट कर डाला। जितनी उग्रता से उन्होंने कठोर तप किया था, उतनी ही उग्रता से वह अनिष्ट संकल्प उनके सम्पूर्ण मन पर छा गया। विश्वभूति ने उग्र तपश्चरण के द्वारा जो आध्यात्मिक विभूति प्राप्त की थी, वह क्रोध और अहंकार के प्रबल वेग में बह कर नष्ट हो गई।

उग्र तप में जहाँ चमत्कारी फल देने की शक्ति है, वहाँ उसमें पतन का भय भी है। इसीलिये तो जैन साधना में तपःसाधना के साथ संयम का विधान कर अग्नि के साथ जल का अनुबन्ध किया गया है।[१]

क्रूरता से पतन

विश्वभूति मुनि का जीव कुछ भवों के बाद पोतनपुर के राजा प्रजापति का पुत्र बनकर उत्पन्न हुआ। यहां उसका नाम रखा गया 'त्रिपृष्ठ'। राजा प्रजापति के एक रानी और थी, उसने भी एक वीर पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम 'अचल' रखा गया। कुमार त्रिपृष्ठ अत्यन्त बलशाली और अद्भुत तेजस्वी राजकुमार था। जैसे अग्नि के निकट जाने से उसकी ऊष्णता अनुभव होती है, सूर्य की किरणों के सामने जाने से जैसे उसकी प्रचंडता से घबराहट होती है वैसा ही कुमार त्रिपृष्ठ का तेज था, उनके निकट आने का भी किसी को साहस नहीं होता था।

विशाखनन्दी का जीव उस युग का प्रतिवासुदेव बना राजा अश्वग्रीव ! पोतनपुर उसी के आधिपत्य में था। इस नगर की सीमा के पास एक सघन जंगल में भयानक सिंह रहता था। आस-पास की भूमि बहुत अच्छी और उपजाऊ थी, वहां चावल की विशाल खेती होती जिस कारण वह क्षेत्र 'शालिक्षेत्र' कहलाता था। सिंह कभी-कभी गुफाओं से निकल कर खेतों की ओर जाता और किसान परिवारों का विनाश कर डालता। सिंह के भय से चारों ओर आतंक छा गया। राजा अश्वग्रीव के पास पुकार गई। सिंह के आतंक से किसानों और खेतों की रक्षा के लिये वह अपने अधीन राजाओं को बारी-बारी से भेजने लगा।

राजा प्रजापति के पास एकबार अश्वग्रीव का संदेश आया—"शालिक्षेत्र में जाकर सिंह के आतंक से किसानों की रक्षा कीजिये।" प्रजापति तैयार हुये तो त्रिपृष्ठ कुमार को पता लगा, पिताजी से उन्होंने कहा—"पिताजी ! इस छोटे से

१ त्रिषष्टि० पर्व १०, सर्ग १

कार्य के लिये तो हम दोनों भाई काफी हैं ? आप आराम करिये, हमें जाने दीजिये।"

राजा ने सिंह की भयंकरता व क्रूरता का वर्णन किया —"पुत्रो, मैं तो अब नदी किनारे का वृक्ष हूं, कभी भी जाना ही है, तुम राज्य की आशाओं के दीपक हो, इस क्यारी के खिलते हुए फूल हो, तुम अभी अपनी रक्षा करो।"

पुत्रों ने बहुत आग्रह किया, अन्त में पिता की अनुमति लेकर दोनों कुमार उधर चल पड़े। पिता ने बहुत से वीर सैनिक और तीक्ष्ण शस्त्र कुमारों के साथ दिये। शालिक्षेत्र में जाकर त्रिपृष्ठ कुमार ने वहां के किसानों को बुलाकर कहा— "तुम लोग अब सदा के लिये निर्भय हो जाओगे। मुझे बताओ वह सिंह कहां रहता है, मैं एक ही बार में उसका सफाया कर डालता हूं।"

कुछ किसान हँसे—"कुमार ! आप तो ऐसी बात कर रहे हैं जैसे खरगोश का शिकार करने आये हैं। सैकड़ों राजा यहां आ चुके किन्तु आज तक कोई उसे मार नहीं सका, और आप आते ही उसकी गुफा पूछते हैं कि किधर है। महाराज, वह साधारण सिंह नहीं है, बड़ा भयानक ! खूंखार ! उससे सावधान रहिये।

त्रिपृष्ठ कुमार की भुजायें फड़क रही थीं। बल और साहस जैसे निकल कर बाहर आ रहा था—"आखिर है तो सिंह ही ! चुटकियों में हम उसका शिकार कर डालेंगे—अच्छा तो, देखो, हमारी सब सेना तुम्हारे पास रहेगी, हम दोनों भाई उससे दो-दो हाथ हो लेंगे"—त्रिपृष्ठ कुमार ने गुफा का मार्ग पूछा और उसी दिशा में चल पड़े।

किसानों का और सेना का कलेजा धक् धक् कर रहा था, ऐसा पराक्रमी पुरुष आज तक नहीं देखा। जिस सिंह की दहाड़ से बड़े-बड़े योद्धाओं का कलेजा बैठ जाता है, उस सिंह से लड़ने ये दो किशोर जा रहे हैं। हजारों लोग आश्चर्य के साथ उन्हें देखते रहे।

त्रिपृष्ठ कुमार सिंह की गुफा के पास पहुंचे, दूर से ही सिंह को ललकारा। सिंह दहाड़ता हुआ अपनी मांद से बाहर निकला, उसकी आंखें लाल अंगारे-सी जल रही थीं, जैसे महाकाल गर्ज रहा हो, सिंह ने भयंकर गर्जना की। पर्वतमालाएँ उसकी दहाड़ से कांप उठीं। त्रिपृष्ठ ने सिंह को सामने झपटता देखकर शस्त्र दूर फैंक दिये, और जैसे किसी मल्ल से कुश्ती लड़ना हो, सिंह के पंजों को हाथ से पकड़ लिया। फिर एक हाथ से उसका नीचे का जबड़ा पकड़ा, और दूसरे हाथ से ऊपर का, और यों चीर डाला जैसे पुराना कपड़ा चीर रहे हों, देखते-ही-देखते सिंह के

दो टुकड़े अलग-अलग जा गिरे। दूर खड़े दर्शक कुमार का साहस देखकर स्तब्ध रह गये, कुमार त्रिपृष्ठ के जयघोषों से गगन मण्डल गूंज उठा।[1]

सम्राट अश्वग्रीव ने कुमार त्रिपृष्ठ के अद्भुत शौर्य की कहानी सुनी तो वह दिग्विमूढ़-सा रह गया। भय व ईर्ष्या की आग में जल उठा। उसने कुमार को अपने पास बुलाया। स्वाभिमानी कुमार ने जाने से अस्वीकार कर दिया, तो अश्वग्रीव सेना लेकर युद्ध करने चढ़ आया। कुमार के अद्भुत पराक्रम के समक्ष अश्वग्रीव निस्तेज और निर्वीर्य हो गया। अन्त में उसने कुमार का सिर काटने अपना चक्र फैंका, किन्तु त्रिपृष्ठ ने चक्र को पकड़ लिया, और उल्टा अश्वग्रीव पर फैंक कर उसी का सिर काट डाला।

विजयोल्लास में देवताओं ने पुष्पवृष्टि की और त्रिपृष्ठकुमार को इस अवसर्पिणी काल का प्रथम वासुदेव घोषित किया। 'अचल' प्रथम बलदेव बने।

एक दिन कोई प्रसिद्ध संगीत मंडली वासुदेव की सभा में आई। मधुर संगीत का कार्यक्रम चला। श्रोता मन्त्र-मुग्ध हो गये। बीन पर जैसे नाग झूमता है, उन मीठी स्वर-लहरियों पर श्रोतागण झूम-झूम उठे। रात की नीरव शान्ति में संगीत और भी नशीला होता गया। वासुदेव को मीठी झपकियाँ आने लगीं। सुख शय्या पर आराम करते हुये वासुदेव ने शय्यापालक से कहा—"मुझे जब नींद लग जाय, तो संगीत का कार्यक्रम बन्द कर देना।"

वासुदेव गहरी नींद में सो गये, संगीत की मस्ती में डूबा शय्यापालक उनके आदेश को विसर गया। रातभर सभा जमी रही। समां बंधा रहा। प्रातः जब

१ महावीर चरित्रकारों ने यहाँ एक बड़ी रम्य मनोवैज्ञानिक कल्पना दी है, कि शस्त्ररहित कुमार त्रिपृष्ठ ने जब सिंह को घायल कर डाला तो वह पड़ा-पड़ा तड़प रहा था, उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। यह देख कर कुमार के सारथि ने मृगराज को आश्वासन दिया—"मृगराज! शायद तुम यह सोच कर खिन्न हो गये हो कि तुम्हारी हुंकार के सामने जहाँ बड़े-बड़े शस्त्रधारी योद्धा भी मैदान छोड़ गये, वहाँ इस निःशस्त्र युवक के हाथों तुम्हारी मृत्यु हो गई, किन्तु घबराओ नहीं, यह युवक भी तुम्हारी तरह ही एक महान नर-सिंह है। ऐसे पराक्रमी पुरुष के हाथ से मृत्यु पाना भी सौभाग्य की बात है।"

सारथी के मधुर शब्दों से सिंह की आत्मा को शान्ति मिली। यही सारथि भगवान महावीर के भव में इन्द्रभूति गणधर बने, जिन्होंने सिंह के जीव हालिक किसान को उपदेश देकर प्रतिबुद्ध किया था।

दिशाएँ लाल होने लगीं तो वासुदेव की नींद खुली। देखा कि सभा वैसी ही जमी है, संगीत चल रहा है। वासुदेव की आँखों से आग बरस पड़ी—"शय्यापालक! मुझे नींद लग जाने पर संगीत बन्द नहीं किया? क्यों?"

शय्यापालक के हाथ पैर काँप गये। घिघियाता हुआ हाथ जोड़ कर बोला—"महाराज! संगीत की मीठी तान में कुछ भान भी नहीं रहा, बड़ा आनन्द आ रहा था, इसलिये चलने दिया।"

वासुदेव क्रोध में एड़ी से चोटी तक लाल-पीले हो गये। गर्जते हुये कहा—"मेरी आज्ञा भंग करने की हिम्मत!" फिर अपने सेवकों से आदेश दिया—"इसके कान संगीत के रसिक हैं, खौलता हुआ शीशा इसके कानों में उंडेल दो।" वासुदेव की आज्ञा का पालन हुआ। तड़पते-तड़पते शय्यापालक के प्राण पखेरू उड़ गये।

इस उत्कट क्रोध एवं क्रूर कर्म के कारण त्रिपृष्ट वासुदेव का सम्यक्त्व नष्ट हो गया। अनेक भवों तक वे नरक एवं तिर्यंच योनि की यातनाएँ भोगते हुये परिभ्रमण करते रहे। अनेक जन्मों के तप से अर्जित पुण्य कुछ ही क्षणों की क्रोधाग्नि में जलकर भस्म हो गया।

साधना की दृष्टि से भगवान महावीर का यह जन्म सफल नहीं कहा जा सकता, किन्तु आत्मा के उत्थान के साथ पतन का भी लेखा-जोखा आना चाहिये और वह इसमें स्पष्ट है कि हजारों लाखों वर्ष तक आचरित सुदीर्घ तप क्रोध और क्रूरता के दावानल से भस्मसात् हो गया।[1]

पुनः सूर्योदय

महावीर का जीव त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में अपने अद्भुत बाहुबल से भले ही तीन खण्ड का आधिपत्य प्राप्त कर सका, अनुपम भोग सामग्री भोग सका, किन्तु राज्यमद, तीव्र विषयासक्ति, क्रूरता एवं हिंसाप्रियता आदि जघन्य भावनाओं के कारण वह मर कर सातवीं नरक में गया। क्रूरता के संस्कार उसके हृदय में इतने गहरे जम गये थे कि नरक व हिंस्र पशु योनि के सिवाय उसकी अन्य कोई गति संभव ही नहीं थी। नरक से निकल कर वह अनेक जन्मों में सिंह जैसे क्रूर प्राणी के रूप में क्रूरता के संस्कारों को भोगने का प्रयत्न करता रहा। चरित्रकथा लेखकों

१ त्रिषष्टि० पर्व १०, सर्ग १

ने बताया है कि उस एक जन्म के दुष्कर्मों के फलस्वरूप वह आत्मा अनेक जन्मों तक घोर यातनाओं के चक्र में में भटकता रहा। बाईसवें भव में एक राजपुत्र के रूप में जन्म लेकर घोर तपश्चर्या एवं वैराग्य युक्त साधना की। इस निष्काम साधना के पवित्र जल से पूर्वजन्म के पाप धुलकर साफ हो गये और वह तेईसवें भव में मूका नगरीं (महाविदेह) में पुनः एक राजकुमार हुआ। यहाँ इसका नाम प्रियमित्र रखा गया। प्रियमित्र बड़ा ही प्रतापी था। पूर्वार्जित साधना के पुण्य-फल के रूप में यहाँ वह छः खण्ड का अधिपति चक्रवर्ती बना।

चक्रवर्ती वासुदेव से हर दृष्टि में महान होता है, ऋद्धि, समृद्धि, भोग-ऐश्वर्य एवं बल आदि दृष्टियों से ही नहीं, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से भी। यह माना गया है कि वासुदेव का पद सकाम साधना का परिणाम है अतः वह उस जन्म में भोगों का त्याग नहीं कर सकता; जबकि चक्रवर्ती के विषय में ऐसा नहीं है। वह अपार ऐश्वर्य को भोग कर भी अन्त में उसका त्याग कर सकता है और साधना के ऊर्ध्वपथ पर आगे बढ़ चलता है। वासुदेव की जीवनदृष्टि अन्त तक भोगोन्मुखी होती है जबकि चक्रवर्ती की जीवन धारा प्रायः भोग से त्याग की ओर मुड़ जाती है।

प्रियमित्र चक्रवर्ती के समक्ष भोग की असीम सामग्री उपलब्ध थी किन्तु उसके अन्तर त्याग व संयम की प्रेरणा लहरा रही थी जो उसे भोगों के बीच भी त्याग की शिक्षा देती रहती, अंधकार में प्रकाश करती रहती। यही वैराग्य की हिलोरें उसे एक दिन उस चक्रवर्ती के नश्वर ऐश्वर्य से मोड़कर आत्मा के अनन्त ऐश्वर्य की शाश्वत सुखद छाया में ले गई। प्रियमित्र चक्रवर्ती ने पोट्टिल आचार्य के पास संयम ग्रहण कर जीवन को साधना में लगाया और खोया हुआ आत्मवैभव पुनः प्राप्त किया। अंधकार में भटकती हुई आत्मा को पुनः प्रकाश प्राप्त हुआ।[1]

विशुद्धि की पावन धारा

प्रियमित्र का जीव स्वर्ग में जाकर पुनः मर्त्य लोक में अवतरित हुआ। छत्रा नामक नगरी में एक राजपुत्र बना। 'नन्दन' उसका नाम रखा गया। राजकुमार नन्दन बचपन से ही खाने-पीने और खेल कूद के प्रति उदास रहता था। किन्तु किसी रोगी को, दीन को या भिखारी को देखता तो उसका हृदय दया से भर उठता।

१ त्रिषष्टि० पर्व १०, सर्ग १

राजकुमार होकर भी वह उनकी सेवा करने लग जाता, अपने हाथ से उन्हें सहायता करके सान्त्वना दिया करता। साधु सन्तों का तो वह भक्त था। राजकुमार के इन संस्कारों को देखकर राजा जितशत्रु उस पर कभी-कभी चिढ़ जाता था। किन्तु फिर भी वह अन्तर मन में गौरव का अनुभव अवश्य करता था कि पुत्र के हृदय में मानवता के कितने दिव्य संस्कार हैं ?

समय पर 'नन्दन' राजसिंहासन पर बैठा, अब तो उसने दीन-गरीबों, साधु-सन्तों के लिये अपना खजाना खोल दिया। अमात्य आदि उसे रोकने का प्रयत्न करते तो वह कहता—"प्रजा का यह धन क्या मेरी सुख-सुविधाओं के लिये है ? जिसका धन है, यदि उसे ही कष्ट पाना पड़ रहा है तो यह धन धूलि है। मेरा खजाना सेवा के लिये है, प्रजा का सुख ही मेरा सच्चा धन है।" लोग कहते थे कि ऐसा न्यायी, प्रजावत्सल और दयालु राजा आज तक कहीं देखा-सुना नहीं।

कुछ समय बाद नन्दन राजा को वैराग्य हो गया। अपने उत्तराधिकारी को राज्य सौंप कर स्वयं अकिंचन अणगार बनकर साधना करने में जुट गया।

नन्दन मुनि को तपस्या की धुन लगी तो ऐसी लगी कि दो-पाँच उपवास ही नहीं, किन्तु मास—मास खमण का तप करने लगे। तप के साथ क्षमा, सेवा और ध्यान की त्रिवेणी भी बहने लगी। कभी वृद्ध व रुग्ण मुनियों की सेवा में जुटते तो अपना पारणा भी भूल जाते। कभी गुरुजी कहते—"नन्दनमुनि ! जाओ पारणा तो करो। तो मुनि नन्दन हाथ जोड़कर बोलते—"गुरुदेव ! खाते-खाते तो उम्र बीत गई, उससे कोई कल्याण थोड़े ही होगा, सेवा का अवसर तो जीवन में कभी-कभी मिलता है, आत्मा की सच्ची खुराक तो यही है।" इसप्रकार नन्दन मुनि की सेवा-परायणता, क्षमा और सरलता जो भी देखता बाग-बाग हो जाता।

इस प्रकार एक लाख वर्ष तक मुनि नन्दन निरन्तर मास-खमण की तपस्या करते रहे और उसमें सेवा, गुरु भक्ति, क्षमा, ध्यान आदि की उच्चतर साधना करते रहने से आत्मा विशुद्ध दशा में पहुंच गई।

मुनि नन्दन ने तीर्थंकर गोत्र के योग्य बीस स्थानों की अनेक बार आराधना की और विशुद्धतम भावनाओं के साथ तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया।[1]

१. तीर्थंकर गोत्र उपार्जन करने के बीस स्थानक ये हैं—

१	अरिहन्त भक्ति	४	आचार्य भक्ति
२	सिद्ध भक्ति	५	स्थविर भक्ति
३	प्रवचन भक्ति	६	उपाध्याय भक्ति

दीर्घकालीन संयम साधना के बाद नन्दन मुनि ने अन्त में संथारा किया और समाधि मरण, जिसे आज की भाषा में 'शान्तिपूर्वक इच्छा मृत्यु' भी कह सकते हैं प्राप्त कर प्राणत स्वर्ग में गये। तीर्थंकर महावीर की आत्मा का यही अन्तिम भव था। इस स्वर्ग से च्यवन कर वे सीधे मनुष्य भव में आये जहाँ पर साधना के उच्चतम शिखर पर पहुंचकर सिद्धि प्राप्त की, आत्मा से परमात्मा बने।[1]

□

---

७ साधु भक्ति
८ ज्ञान भक्ति
९ दर्शन भक्ति
१० विनय की आराधना
११ चारित्र की आराधना
१२ ब्रह्मचर्य का पालन
१३ शुभ ध्यान
१४ तप (विवेक पूर्ण तपश्चरण)
१५ दान
१६ वैयावृत्य
१७ समाधि उत्पादन (मुमुक्षु जनों को औषधि आदि का सहयोग कर तथा साधना मार्ग में प्रोत्साहित कर उनको समाधि पहुंचाना)
१८ अभिनव ज्ञानग्रहण—(सूत्र-अर्थ पर चिन्तन कर उसके रहस्यों को समझते रहना)
१९ श्रुत भक्ति
२० प्रभावना

—ज्ञातासूत्र १६

इन बीस स्थानों में से किसी एक स्थान की विशिष्ट आराधना से भी तीर्थंकर गोत्र का बंधन हो सकता है। नन्दनमुनि ने सभी स्थानों की आराधना की। ऐसा माना जाता है कि प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर की आत्मा ने पूर्व भव में इन बीसों स्थानों की आराधना की, तथा मध्य के बाईस तीर्थंकरों ने एक, दो तथा सभी स्थानक की।

—आवश्यक निर्युक्ति १८२

जैन परम्परा में तीर्थंकर पद की प्राप्ति के हेतुभूत ये बीस स्थानक माने गये है, वैसे बौद्ध परम्परा में बुद्धत्व प्राप्ति के हेतु दश पारमिताओं का वर्णन मिलता है।

1 त्रिषष्टि० पर्व १०, सर्ग 1

द्वितीयखण्ड

जीवन का प्रथमचरण

[गृहवास]

कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल-मल से सदा अलिप्त रहता है। अलिप्तता का यह नैसर्गिक गुण ही उसकी सहज-स्वच्छता, मनोहारिणी-सुषमा और सतत-प्रफुल्लता का कारण है।

साधक, जीवन के कर्मक्षेत्र में रहकर भी कर्म-वासना से निर्लिप्त रहता है। यह निर्लिप्तता बाहर से ओढ़ी हुई नहीं, किन्तु हृदय के अन्तराल से उद्भूत होती है। अतः सामान्य-जन की भांति जीते हुये भी उसका जीवन-पट सदा स्वच्छ, सुन्दर और चिर नवीन रहता है।

पर्वत शिखर पर चढ़ने वाले यात्री की भांति साधक के चरण भले हीं धरती पर रहते हों, किन्तु उसकी दृष्टि शिखर के उच्चतम केन्द्र पर, क्षितिज की अन्तिम प्रकाश किरण तक पहुंचती है—उसी ध्येय से उसकी गति बंधी रहती है।

वर्धमान का गृह-जीवन उस कमल की भांति, पर्वतशिखर पर चढ़ने वाले यात्री की भांति सदा निर्लिप्त, सतत जागृत और उच्चतम ध्येय के प्रति केन्द्रित तथा गतिशील रहा है।

पुराणगाथा की जीवनदृष्टि

प्रथम खण्ड में हमने भगवान महावीर के पूर्व जन्म की कुछ विशिष्ट घटनाओं की चर्चा की है। कुछ इतिहास लेखक उन्हें पौराणिककथा (मिथोलोजी) कह कर उपेक्षित कर देते हैं, किन्तु यह उपेक्षा महावीर के समग्र जीवन-दर्शन को समझने में बाधक बनती है, ऐसा हमारा विश्वास है।

भगवान महावीर के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन को समझने के लिए महावीर को सिर्फ महावीर के रूप में ही नहीं, किन्तु महावीर को सामान्य आत्मा के रूप में उपस्थित कर दर्शन और सिद्धान्त की दृष्टि से उसकी विकास-यात्रा को समझना आवश्यक होता है। पूर्वभवों के चित्रण में भले ही कथा कुछ पौराणिक रंग में रंगी हो, किन्तु उनमें महावीर का, यों कहें कि सम्पूर्ण जैन-दर्शन का हृदय स्पष्ट बोल रहा है, वहाँ जैन-दृष्टि जीवन्त रूप में विद्यमान है। इसी कारण उस पौराणिक गाथा का दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक मूल्य है और यह जीवन के लिए प्रेरणादायी भी है तथा ऐतिहासिक साक्ष्य भी है ही, प्राचीन साहित्य के रूप में।[1]

पूर्वभवों की घटनाओं में महावीर की जीवन-दृष्टि का त्रिकोण, जो हमारे समक्ष स्पष्ट हुआ है, वह इस प्रकार है :—

(१) यह आत्मा अनादिकाल से भवयात्रा कर रहा है, इस यात्रा में जब साधना, सेवा, तपश्चर्या, एवं त्याग आदि उत्तमगुणों की आराधना की जाती है, तभी आत्मा परमात्म-पद को प्राप्त कर सकता है।

(२) प्रत्येक आत्मा का सुख-दुख, उत्थान-पतन, अपने कर्म - (क्रिया एवं तदनुसार बंधे हुये कर्म-बंध) के अनुरूप ही होता है। शुभकर्म का शुभफल एवं अशुभ कर्म का अशुभ-फल निश्चित रूप से प्राप्त होता है।

१ इतिहास को समझने के तीन साधन हैं—साहित्य, शिल्प और प्राचीन अभिलेख। भगवान महावीर के पूर्व भवों का वर्णन प्राचीन जैन साहित्य में बड़े विस्तार के साथ मिलता है अतः उन्हें सर्वथा अनैतिहासिक नहीं कह सकते।

(३) पुरुष, प्रकृति के हाथ का खिलौना मात्र नहीं है, किन्तु प्रयत्न, पुरुषार्थ एवं उद्योग करके वह स्वयं के जीवन का, अपने भविष्य का सुन्दरतम निर्माण स्वयं कर सकता है। क्षुद्र से महान और सामान्य जन से जिन के सर्वोत्तम पद को वह प्राप्त कर सकता है।

भगवान महावीर के पूर्वभवों की घटनाएँ इन तीन दृष्टियों को स्पष्ट करती है, हमारी उक्त आस्थाओं को दृढ़ धारणा का रूप देती है और हमें अपने जीवन को पुरुषार्थ की धुरी पर चलाने की प्रेरणा देती है। अस्तु।

भगवान महावीर का जीवन इतना घटनाबहुल नहीं है, जितना कि उनके समकालीन तथागत बुद्ध का। उनके जीवन का परिचय देने वाली घटनाएँ उपलब्ध साहित्य में बहुत कम अंकित हुई हैं। वे एक राजकुमार थे, स्वभावतः ही शौर्य एवं तेजस् उनकी भुजाओं में लहराता था, तत्कालीन राजनीति, समाज एवं धर्म के प्रति उनका चिन्तन बड़ा सूक्ष्म और क्रान्तिकारी था। तीस वर्ष तक एक राज-परिवार के बीच रहे। लगभग साढ़े बारह वर्ष तक साधना करते रहे और अन्तिम तीस वर्षों में तीर्थंकररूप में धर्मोपदेश देते हुये जनपद में विचरते रहे। इस तरह लगभग ७२ वर्ष के जीवनकाल में बहुविध घटनाएँ अवश्य घटी होंगी, किन्तु उनका लेखा जोखा वर्तमान साहित्य में बिखरा-बिखरा और साधारणरूप में ही प्राप्त होता है। कुछ चिन्तक यह भी सोचते हैं कि महावीर मूलतः निवृत्तिप्रिय साधक थे, घटनाएँ प्रवृत्ति-बहुल जीवन की सूचक हैं। अतः उनका जीवन, घटनाओं एवं प्रसंगों की दृष्टि से उतना व्यापक नहीं हो सकता, जितना कि चिन्तन एवं साधना की दृष्टि से। कुछ भी हो, जो घटनाएँ एवं प्रसंग मिलते हैं, उनमें महावीर का महावीरत्व, दयालुता, कष्ट-सहिष्णुता, निस्पृहता, वीतरागता और ध्येय के प्रति अडिग निष्ठा एवं अविचल साधना का रोमांचकारी वर्णन पद-पद पर दृष्टिगोचर होता है।

जन्मकालीन स्थितियाँ

भगवान महावीर का जन्म ईसा से लगभग छः सौ वर्ष (५९९ वर्ष) पूर्व भारत के पूर्वांचल में हुआ था। ईसा पूर्व की यह छठी शताब्दी विश्व के इतिहास में क्रान्तिकारी शताब्दी मानी गई है। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने लिखा है— "इस युग में सम्पूर्ण विश्व के चिन्तकों की चिन्तनधारा प्रकृति के अध्ययन की ओर से हटकर समाज और जीवन की समस्याओं की ओर मुड़ गई थी। इस युग में अनेक क्रान्तद्रष्टा महापुरुष विश्व में हुये। भारत में बुद्ध और महावीर ने क्रान्ति का तुमुल-

घोष किया। उनके साथ कुछ अन्य महापुरुष भी पैदा हुए। चीन में लाओत्से और कन्फ्यूसियस ने विचारक्षेत्र में हलचल मचा दी थी। ग्रीस में पाइथागोरस, सुकरात एवं प्लेटो ने विचार-जगत में क्रान्ति की, तो ईरान (पारस-परसिया) में जरथुस्त ने।" इस प्रकार उस युग का वायुमण्डल पुरानी धार्मिक मान्यताओं एवं रूढ़ सामाजिक परम्पराओं के प्रति एक साथ बगावत करने को मचल उठा था।

इस बगावत के मुख्य निशाने थे, धार्मिक अन्धविश्वास और सामाजिक विषम-व्यवस्थाएँ।

धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति की आत्मा के साथ होता है। उस युग में धर्म को जाति के साथ जोड़ दिया गया था। एक वर्ग-विशेष के हाथ में धर्म के सम्पूर्ण अधिकार केन्द्रित थे। पापाचरण करके भी ब्राह्मण अपने को सदा पवित्र और सबका गुरु होने का दावा करता था। वहाँ सरल और सेवाभावी शुद्र को धर्म सुनने का भी अधिकार नहीं रह गया था। सभी प्राणियों में एक ही ईश्वर का अंश प्रतिबिम्बित मानने वाला अद्वैतवादी विद्वान शूद्र की छाया को भी अपवित्र माने और उसके स्पर्श से धर्मभ्रष्ट होने की बात करे, यह कितना हास्यास्पद और अविवेक-पूर्ण आचरण था, पर इसका विरोध कौन करे ?

जिस नारी को वेदों में गृहलक्ष्मी और गृह-साम्राज्ञी कह कर सम्मान दिया गया, वह इस युग में एक पराश्रिता, उपेक्षिता, अधिकारहीन और स्वर्ण-धन-धान्य गाय, भैंस आदि की भाँति ही एक परिग्रह (गुलाम) मात्र मानली गई थी। उसके धार्मिक अधिकार और सामाजिक सम्मान छीन लिये गये थे। न जाने चन्दना जैसी कितनी सुन्दरियाँ चौराहों पर खड़ी कर गाजर-मूली की भाँति बेची जाती थी।

जिन गाय, बैल, अश्व, मृग आदि मूक पशुओं को मानव जाति के निकटतम उपकारी मानकर राष्ट्र की सम्पत्ति स्वीकार की गई थीं, और जिनकी जीवनरक्षा के लिये मेघरथ एवं नेमिनाथ जैसे महापुरुषों ने बड़े-बड़े बलिदान किये, उन मूक-निरीह पशुओं को देवपूजा के नाम पर यज्ञ में होमा जा रहा था। नारी, शूद्र और पशुओं को जैसे सुखपूर्वक जीने का भी कोई अधिकार नहीं रह गया था।

शक्तिशाली राजा एक दूसरे निर्बल राज्य पर आक्रमण कर लूट-खसोट मचाता था। वहाँ की सुन्दरियों को, पुरुषों को गुलाम बनाकर असीमित भोग और शोषण का चक्र चलाता था। काशी, कौशल, वैशाली, कपिलवस्तु आदि अनेक राज्यों में यद्यपि गणतन्त्र था, पर वह गणतन्त्र राज्य-प्रशासन तक ही सीमित था, सामान्य प्रजा को कोई विशेष लोकतन्त्रीय अधिकार मिले हों, ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता। अंग, मगध, वत्स, सिन्धु-सौवीर, अवंती आदि देशों में जहाँ राजतन्त्र था।

वहाँ भी सामान्य जन धार्मिक रूढ़ियों व सामाजिक दासता से पीड़ित था। छोटी-छोटी बातों को लेकर गणराज्यों में भी युद्ध ठन जाते थे। राजाओं की तरह धनिक व्यापारी वर्ग भी पशुओं की भाँति मनुष्यों को गुलाम बनाता था। दास-दासियों का लम्बा चौड़ा परिवार उनकी सेवा में स्वयं को समर्पित किये खड़ा रहता था।

इस प्रकार धार्मिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों की घुटन में मनुष्य की आत्मा कुण्ठित एव मूर्च्छित हो रही थी। सामाजिक विषमता और अमानुषिक यन्त्रणा मानव को सतत संत्रास एवं पीड़ा से व्याकुल किये हुये थी। भारत के पूर्वांचल की यह स्थिति न्यूनाधिक रूप में समग्र भारत को ही नहीं, किन्तु समग्र विश्व को अपनी लपेट में लिये हुए थी, ऐसा तत्कालीन इतिहासकारों का मत है।

इन परिस्थितियों में भगवान महावीर का जन्म सम्पूर्ण मानवता के लिए वरदान था, तो स्वयं उनके लिये एक कठिन तपस्या, साधना और उत्कृष्टतम आत्म-बल की अग्निपरीक्षा का प्रसंग भी था।

वैशाली गणराज्य

ईस्वी पूर्व सातवीं-छठी शताब्दी में गंगा के उत्तरी तट पर लिच्छवी क्षत्रियों का एक विशाल, प्रतापी गणराज्य उन्नति के चरम शिखर पर पहुंच रहा था। उस लिच्छवी गणराज्य की राजधानी थी वैशाली।

लिच्छवी सूर्यवंशी क्षत्रिय थे। ये मर्यादा पुरुषोत्तम राम के वंशज कहलाते थे। बौद्धधर्म के उदयकाल से पूर्व ये 'विदेह' नाम से पहचाने जाते थे। किन्तु बुद्ध-महावीर युग में लिच्छवी नाम अधिक विश्रुत हो गया था, फिर भी इनका विदेह नाम साहित्य के पृष्ठों पर सदा चिरपरिचित रहा है। जैनाचार्यों द्वारा लिच्छवी गण-तन्त्र के गणाध्यक्ष चेटक 'विदेहराज' के नाम से पुकारे गये हैं। चेटक की छोटी बहन त्रिशला विदेहदिन्ना' और स्वयं भगवान महावीर 'विदेहसुकुमाल' कहलाते थे।

लिच्छवियों के साथ ही मल्ल, वज्जी एवं ज्ञातृ आदि आठ कुलों के क्षत्रियों ने मिलकर एक संयुक्त गणराज्य की स्थापना की थी। इस गणराज्य की राजधानी वैशाली थी। वैशाली का वैभव उस युग में उन्नति के चरम शिखर को छू रहा था। वहाँ की प्रजा को अत्यन्त धन-धान्य से सुखी, स्व-परचक्र से सुरक्षित एवं सद्‌गुणों से समृद्ध देखकर तथागत बुद्ध ने कहा था—"स्वर्ग के देव देखने हों तो वैशाली के पुरुषों को देख लो और देवियों का दर्शन करना हो तो वैशाली की महिलाओं को देखो।" सचमुच वैशाली उस युग में स्वर्ग के साथ स्पर्धा करने वाली वैभवशालिनी नगरी थी।

वैशाली के उत्तरभाग में एक छोटा उपनगर था कुण्डपुर। यह दो भागों में बंटा था। उसके उत्तरभाग में ज्ञातृवंशी क्षत्रियों की बस्ती थी और दक्षिणभाग में ब्राह्मणों की। उत्तरीभाग क्षत्रिय कुण्डपुर कहलाता था। इस नगर के प्रशासक थे सिद्धार्थ क्षत्रिय। राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशलादेवी वैशाली गणाध्यक्ष चेटक की बहन थी। भारत-खण्ड के अनेक राजवंशों के साथ चेटक के घनिष्ट सम्बन्ध थे। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार चेटक का ज्येष्ठ पुत्र सिहभद्र (सिंह सेनापति) बज्जीगण का प्रधान सेनानायक था। चेटक की सात पुत्रियां थीं जिनमें चेलना का विवाह मगध-नरेश बिम्बिसार (श्रेणिक) के साथ हुआ तथा शिवा का अवन्तीपति चन्द्रप्रद्योत के साथ। मृगावती का कौशाम्बी-नरेश शतानीक के साथ, पद्मावती का चंपा-पति दधिवाहन के साथ, प्रभावती का सिन्धु-सौवीर देश के राजा उदायन (उदाई) के साथ। इन सम्बन्धों को देखते हुए सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि राजा सिद्धार्थ भी अपने युग के एक वीर व प्रतापी राजा थे और वैशाली गणतन्त्र में उनका अच्छा वर्चस्व था।

महावीर का जन्म : स्वप्नदर्शन

आचारांग आदि जैन-आगमों एवं बौद्ध-साहित्य से यह पता चलता है कि महावीर के पूर्व मगध तथा वैशाली में निर्ग्रन्थ-धर्म (जैनधर्म) का अच्छा प्रचार था। स्वयं चेटक भगवान् पार्श्वनाथ के श्रद्धालु श्रमणोपासकों में गिने जाते थे। यह माना जाता है कि शाक्यपुत्र बुद्ध ने भी पार्श्वनाथ के चातुर्याम-धर्म में दीक्षा ली, साधना की और उस धर्म-परम्परा का उनके भावी धर्मप्रचार पर गहरा प्रभाव भी पड़ा। चातुर्याम धर्म को ही चार आर्य-सत्य के रूप में बुद्ध ने आगे जाकर नये परिवेश में प्रस्तुत किया; ऐसा भी माना जाता है। अस्तु।

यह सर्वसम्मत सत्य है कि महावीर क्षत्रिय कुण्डपुर के राजा सिद्धार्थ के पुत्र एक राजकुमार थे, त्रिशलादेवी उनकी माता थी, किन्तु इसके पीछे एक पौराणिक सत्य और भी छिपा है कि महावीर पहले ब्राह्मण कुण्डपुर के विद्वान ब्राह्मण ऋषभदत्त की पत्नी देवानन्दा के गर्भ में आये।[1] देवानन्दा ने उस समय चौदह महान शुभ स्वप्न देखे और अत्यन्त आनन्द-उल्लास मनाया। किन्तु कुछ दिनों के बाद[2] देवानन्दा की खुशियाँ लुट गईं। उसके शुभ स्वप्न लौट गये। ये महान स्वप्न उसी

१ आचारांग सूत्र श्रु० २ अ २४।
२ लगभग ८२ दिन बीतने के बाद।

रात्रि में त्रिशलादेवी ने देखे। अर्थात् देवानन्दा का गर्भ त्रिशलादेवी की कुक्षि में साहरित कर दिया गया।[1]

चतुर्दश स्वप्न

जैन-परम्परा में माना गया है कि जब तीर्थंकर और चक्रवर्ती की महान आत्मा किसी भाग्यशालिनी माता के गर्भ में आती है तो माता चौदह महान शुभ स्वप्न देखती है। यह स्वप्न निम्न प्रकार हैं—(और साथ ही उनके द्वारा सूचित होने वाली फलश्रुति भी)।

स्वप्न	स्वप्न-सूचित फलश्रुति
१ श्वेतवृषभ	मोहरूप कीचड़ में धंसे हुये आत्म-रथ का उद्धार करने में समर्थ।
२ श्वेतहस्ती	महान, बलिष्ठ एवं जगत श्रेष्ठ।
३ केशरी सिंह	धीर, वीर एवं निर्भय तथा सब पराक्रम-सम्पन्न।
४ लक्ष्मी	तीन लोक की समृद्धि का स्वामी।
५ पुष्पमाला	दर्शनीय, नयनवल्लभ एवं सबको प्रिय तथा ग्राह्य हो।
६ चन्द्रमण्डल	मनोहर तथा भवताप से तप्त जगत को शीतलता एवं शान्ति प्रदान करने वाला।
७ सूर्य	अज्ञान-अंधकार का नाश करनेवाला।
८ महाध्वज	कुल एवं वंश की प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाला यशस्वी एवं सबमें उच्च।
९ कलश	अनेक गुणों एवं विभूतियों को धारण करने की योग्यता (पात्रता) से युक्त।
१० पद्मसरोवर	जगत के पाप-ताप को शान्त कर शीतलता प्रदान करने में समर्थ।
११ क्षीरसमुद्र	अपार गम्भीरता एवं मधुरता का समन्वय करनेवाला।
१२ देवविमान	दिव्यता धारण करने वाला, देवों में भी पूज्य।
१३ रत्नराशि	समस्त गुणरूप रत्नों का समूह।
१४ जाज्वल्यमान अग्नि (निर्धूम अग्नि)	क्रूरता आदि दोषों से मुक्त असाधारण तेजस्विता से सम्पन्न।[2]

---

१ आचारांग सूत्र, श्रुतस्कन्ध २ अ० २४।

२ कल्पसूत्र ३४ से ४७

ये मंगलमय स्वप्न जन्म धारण करनेवाले पुत्र की महानता के सूचक होते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह भी माना जा सकता है कि महान् आत्मा के उदर-प्रवेश के समय माता की मनोभावना इतनी पवित्र, भव्य एवं उदार हो जाती है कि उच्च-से-उच्च कल्पना एवं संकल्प उसके हृदय-सागर में हिलोरें लेने लगते हैं।

त्रिशलादेवी इन महान स्वप्नों को देखकर जागृत हो गई। अपूर्व उल्लास से उसके रोम-रोम पुलक उठे। प्रसन्नता के मारे उसके पाँव धरती पर नहीं टिक रहे थे। उसने उसीसमय दूसरे शयन-कक्ष में सोये राजा सिद्धार्थ को जगाया और गद्‌गद स्वर से अपने शुभ स्वप्नों की बात कही। राजा प्रसन्नता में झूम उठा और दोनों ही इन शुभस्वप्नों के फल पर विविध चर्चाएँ करते हुए रातभर जगते रहे। प्रातःकाल राजा सिद्धार्थ ने स्वप्न-फल-पाठकों को बुलाया और रात्रि के स्वप्नों की विस्तृत व्याख्या पूछी। स्वप्नपाठकों ने उनका फल बताया और कहा—"इन चौदह प्रकार के स्वप्नों से यह सूचित होता है कि त्रिशलादेवी अत्यन्त भाग्यशालिनी माता बननेवाली है, यह पुत्र तीर्थंकर या चक्रवर्ती बनेगा। आपके कुल, वंश एवं राज्य की सब प्रकार से सुख-समृद्धि की वृद्धि करने वाला होगा।"[१]

स्वप्नफल सुनकर समूचा राज-परिवार खुशियों में झूम उठा। कुछ ही दिनों में सबको यह अनुभव होने लगा कि स्वप्न-पाठकों की भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य हो रही है। राजा सिद्धार्थ के राज्य-कोष में सर्वतोमुखी अभिवृद्धि होने लगी, चारों ओर से प्रगति और प्रसन्नता के समाचार आने लगे। यह देखकर सिद्धार्थ एवं त्रिशला के मन में कल्पना उठी—"जब से यह पुत्र गर्भ में आया है, तब से अपने कुल, वंश एवं सम्पूर्ण राज्य में धन-धान्य, भूमि, स्वजन आदि की निरन्तर वृद्धि होती जा रही है, यह सब इस गर्भ का ही पुण्य प्रभाव है, अतः पुत्र का जन्म होने पर इसका नाम यथानाम तथागुण 'वर्धमान' रखेंगे।"[२]

मातृ-भक्ति के संस्कार

त्रिशला की गर्भावस्था के लगभग साढ़े छः मास ही बीते होंगे कि एक बड़ा ही विचित्र प्रसंग घटित हुआ। एक दिन अचानक गर्भस्थ शिशु का हलन-चलन व स्पन्दन बन्द हो गया। गर्भ को सहसा स्थिर व निस्पन्द हुआ देखकर त्रिशलादेवी चिन्तित हो उठी। हृदय पर अज्ञात आशंका का ऐसा आघात लगा

१ कल्पसूत्र ७१। २ दिगम्बर आचार्यों ने १४ स्वप्न के स्थान पर १६ स्वप्न माने हैं।
—उत्तरपुराण ७४।२५८

कि वह अचानक मूर्छित हो गई। परिचारिकाओं ने तुरन्त उपचार किये, त्रिशला कुछ देर तक गुमसुम-सी बैठी रही; उससे बोला नहीं गया। मन की पीड़ा आंखों में आँसू बन कर झलक आई। समाचार मिलते ही सिद्धार्थ उल्टेपांव चले आये। आमोद-प्रमोद और गाना-बजाना बंद हो गया। कुछ क्षण तक सर्वत्र सन्नाटा-सा छाया रहा, फिर त्रिशला अचानक फूट-फूटकर रोने लगी। कुछ देर रो लेने व आंसू बहा लेने के बाद मन हलका हुआ, तो वह बिलखती हुई बोली—"मेरे उदरस्थ शिशु को सहसा क्या हो गया है, हे भगवान्! यह न हिलता है, न चलता है। उसकी गति बन्द–जैसी हो गई है?" यह सुनते ही सिद्धार्थ भी स्तब्ध हो गये। जैसे किसी ने कलेजे पर बर्फ की सिल्ली रख दी हो। परन्तु तुरन्त ही संभल गये और रानी को धीरज बंधाने लगे।

अचानक गर्भस्थ शिशु की गति चालू हो गई। रानी की आँखों में ज्योति आ गई। वह हर्षविभोर होकर बोल उठी—"कुछ नहीं! सब ठीक है। ये मंगल गीत बंद क्यों कर दिये। जाओ, खुशी के नगाड़े बजाओ, मेरा बहुमूल्य रत्न सुरक्षित है, सब ठीक-ठाक है।" दर्शकों को लगा जैसे गर्भस्थ शिशु ने माँ के साथ आंख-मिचौनी खेली हो।

कथाशिल्प की दृष्टि से भी यह घटना बड़ी रोचक है। कवियों और कथा लेखकों ने इस पर एक सुरम्य सात्विक कल्पना की रंगीन कूँची फेरकर और भी उभार दिया है। एक कवि ने उत्प्रेक्षा की है—"महावीर गर्भ में भी मोह पर विजय पाने हेतु प्रयत्नशील हुए होंगे, और इसीलिए कुछ देर तक अपने शरीर को स्थिर कर ध्यानयोग के अभ्यास में लीन हो गए होंगे। किन्तु माता के करुण विलाप ने उनका ध्यान भंग कर डाला और वे पुनः पूर्वस्थिति में आ गये।"

कल्पसूत्र में आचार्य ने लिखा है—"गर्भस्थ महावीर के मन में अनुकम्पा जगी कि मेरे हलन-चलन से माता को कष्ट होता होगा। अतः माता के सुख के लिये मुझे अपनी गति को नियन्त्रित कर लेना चाहिए और वे स्थिर-निश्चल हो गये, जैसे कोई योगी ध्यान-योग में।"

किन्तु माता के मन पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। शिशु का हलन-चलन बन्द होना, उसे भयानक अपशकुन लगा और वह मोहाकुल हो विलाप करने लग गई। माता का विलाप और शोक पुत्र से देखा नहीं गया। सोचा, कहीं लाभ के बदले हानि न हो जाय, प्रतिकूल स्थिति में अमृत भी जहर का काम कर जाता है। अतः पुत्र ने पुनः हलन-चलन प्रारम्भ कर दिया।

माता के करुण विलाप से शिशु महावीर के मन पर एक और भी असर पड़ा। सोचा—"मेरे कुछ क्षण के वियोग की आशंका से ही माँ का हृदय जब इस प्रकार तड़पने लग गया और हा-हाकार करने लग गया तो मैं जब बड़ा होकर प्रव्रजित होऊँगा तो माँ के मन की क्या स्थिति होगी? माता को कितनी असह्य पीड़ा और कितना दारुण संताप होगा? माता के हृदय को यों तड़पाना क्या उचित होगा? मातृ-स्नेह के उमड़ते वेग में महावीर ने संकल्प कर लिया—"जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे, मैं इनकी सेवा करूँगा, इनकी आँखों के सामने गृह-त्याग कर श्रमण नहीं बनूँगा।"[1]

इस घटना में अनेक प्रश्नों को अवकाश हो सकता है। पर यह तो मानना चाहिये कि महावीर, जिन्हें हम निवृत्ति-परायण एवं वीतराग पुरुष के रूप में चित्रित कर रहे हैं, अपने कर्तव्य एवं माता-पिता के उपकार के प्रति कितने जागरूक हैं कि दीक्षा से भी अधिक माता-पिता की सेवा को महत्व दिया। उन्होंने आत्म-साधना से पहले कर्तव्य-पालन का पाठ पढ़ाया और आध्यात्मिकता के नाम पर सामाजिक दायित्व को न भुलाने का संदेश दिया।[2]

माता के मानसिक संकल्प

"होनहार विरवान के होत चीकने पात" और "पूत के पैर पालने" आदि लोकोक्तियों में यदि कुछ सत्य है तो मानना चाहिए कि महावीर के गर्भ में आने से राजा सिद्धार्थ के पूरे राज्य व परिवार का वातावरण ही बदल गया था। वायुमंडल में ही जैसे स्नेह, करुणा और शुभ विचारों की तरंगें लहराने लग गई थीं।

आचार्य भद्रबाहु ने लिखा है—"गर्भ-प्रभाव से त्रिशलादेवी के मन में अनेक प्रकार के उत्तम दोहद (गर्भवती की मनोकामना) उत्पन्न होने लगे। वह राजमहलों

१ (क) कल्पसूत्र ८७। (ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व १०, सर्ग २

२ सामान्य लोक-व्यवहार की दृष्टि से गर्भस्थ शिशु का चिन्तन और आचरण इतना विकसित हो पाना कठिन व असंगत लग सकता है, किन्तु हमें भूल नहीं जाना है कि महावीर एक लोकोत्तर पुरुष के रूप में अवतरित हुए। गर्भदशा में ही उन्हें तीन ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, एवं अवधिज्ञान प्राप्त थे। उनके जीवन की अगणित अलौकिक घटनाओं की कड़ी में ही यह घटना जुड़ी हुई है। दिगम्बर-परम्परा इस घटना पर सर्वथा मौन है।

के गवाक्ष में बैठी जब नगर की हलचल का अवलोकन करती तो कहीं गरीबों का उत्पीड़न, कहीं मूक-पशुओं का करुणक्रन्दन व बलिदान और कहीं दास-दासियों की व्यथा भरी परतन्त्र जिन्दगी देखती, तब उसके मन में ये मनोविकल्प जगने लगते "मैं सम्पूर्ण राज्य में और हो सके तो पूरे देश में अमारि-घोषणा करवा दूँ। कोई भी किसी मूक पशु-पक्षी का वध न करे। राजकर्मचारी किसी गरीब को, दीन को उत्पीड़ित न करें। जेलखानों से बंदियों को मुक्त कर उन्हें अपने स्वजनों के पास भेज दूँ। भूखे और दीन-गरीबों को खूब दान दूँ। दासों (गुलामों) को दासता के बंधन से मुक्त कर दूँ। स्वधर्मी बन्धुओं एवं परिवारजनों को मधुर भोजन कराऊँ आदि।"[१]

त्रिशलादेवी के इन उत्तम मनोभावों को जानकर सिद्धार्थ राजा के अन्तःकरण में गहरी हर्षानुभूति होती। वह स्वयं भी श्रमणोपासक था। दान व करुणा के संस्कार उसकी क्षत्रियोचित वीरता के साथ घुलमिल गये थे। अतः रानी की इन मनोभावनाओं को उसने प्रसन्नता के साथ पूर्ण किया।

जन्मोत्सव और नामकरण

लगभग नव मास और साढ़े सात दिन की गर्भस्थिति पूर्ण होने पर चैत्र शुक्ला १३ (ईस्वी पूर्व ५६६, ३० मार्च) के दिन त्रिशलादेवी ने एक दिव्य पुत्ररत्न को जन्म दिया। त्रिशला की निकटतम परिचारिका प्रियंवदा ने राजा सिद्धार्थ को पुत्रजन्म की बधाई दी। इस शुभ संवाद की खुशी में सिद्धार्थ ने दासी को अपने शरीर पर के समस्त आभूषण (मुकुट को छोड़कर) आदि तो दे ही डाले, साथ ही उसे जीवनभर के लिये दासता के बँधन से भी मुक्त कर दिया। मुक्ति के संदेशवाहक महावीर के जन्मक्षण से ही जैसे मुक्ति का यह प्रथम अभियान प्रारम्भ हो गया। वे विश्व के लिये प्रकाशपुंज बनकर अवतरित हुए, इसलिये यह सहज ही था कि उनके जन्म-प्रसंग पर एक बार सम्पूर्ण विश्वमंडल किसी अपूर्व प्रकाश से जगमगा उठे। सिर्फ मनुष्यलोक और स्वर्गलोक की धरती ही नहीं, किन्तु निरंतर अंधकारमय रहने वाली नरक की भूमि पर भी प्रकाश की किरणें इस दिव्यता से फैलीं कि वहाँ के निवासी क्षणभर के लिये प्रकाश का दर्शन कर पुलक-पुलक हो उठे।[२]

महापुरुषों के जन्मकाल में इसप्रकार के सुखद व आनन्ददायी क्षणों का आना कोई आलंकारिक वर्णन या सुखद कल्पना मात्र नहीं, किन्तु एक वास्तविकता

१ कल्पसूत्र ८२।　　२ स्थानांगसूत्र ३

है। ऐसे मधुर प्रसंग का काव्यात्मक वर्णन बौद्ध साहित्य में भी वर्णित है जो बोधिसत्व के गर्भावतरण पर अनुभव किया गया था।[1] लगभग वैसा ही मधुर व आनन्दमय वातावरण महावीर के जन्म काल में आया।

शास्त्रों की प्राचीन मान्यता के अनुसार तीर्थंकर का जन्म सम्पूर्ण प्राणी-जगत् के लिये मंगलमय होता है, इसलिये उनके जन्म-प्रसंग पर मनुष्य ही नहीं, स्वर्ग के देव-देवियाँ, इन्द्र एवं इन्द्राणी तक खुशी मनाते हैं। दिक्कुमारी नामक छप्पन देवियाँ आकर उनका प्रसूतिकर्म करती हैं।[2] यद्यपि व्यवहारिक रूप में तो उनका प्रसूति-कर्म मानवी दासियाँ ही करती हैं, किन्तु उनकी देव-पूज्य विशिष्ट स्थिति पर सम्मान व प्रसन्नता व्यक्त करने का यह एक औपचारिक रूप माना जा सकता है, जिसमें स्वर्ग के देव-देवी भी सम्मिलित होते हैं।

इसी प्रसंग में कहा गया है कि महावीर की जन्मबेला में देवताओं में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। इस खुशी को व्यक्त करने के लिये इन्द्र व अगणित देवी-देवताओं ने मिलकर महावीर का जन्म-अभिषेक करने का निश्चय किया। देवताओं ने त्रिशलादेवी को गहरी नींद दिला कर नवजात शिशु को वहाँ से उठाया और मेरुपर्वत पर ले गये। स्वर्णकलशों में जल भर-भर कर देवतागण महावीर का जलाभिषेक करने को प्रतिस्पर्धा के साथ आगे बढ़ने लगे। एक साथ निरन्तर जलधारा गिरने से कहीं वह नवजात शिशु को असह्य न हो जाय—इस आशंका से देवराज जरा आगे बढ़कर देवताओं को रोकना ही चाहते थे कि तीन ज्ञानधारी वर्धमान ने देवराज के मन की शंका को जान लिया। सहज बाललीला के रूप में उन्होंने बांयें पांव के अंगूठे से मेरुपर्वत को जरा-सा दबाया तो बस पर्वत-शिखर काँप उठा—जैसे प्रलयकाल का तूफान आ गया हो। देवगण आशंकित हो गये, इन्द्र स्वयं भी चकित-भ्रान्त होकर देखने लगा कि तभी उसने जाना—अनन्त शक्तिधर प्रभु की यह तो बाललीला है। देवराज चरणों में विनत हो गया। "प्रभो! क्षमा कीजिये। आपके

१ प्रकाश की उस कान्ति को देखने के लिये मानो अंधों को आँखें मिल गईं, बधिर सुनने लगे, मूक बोलने लगे, बेड़ी-हथकड़ी आदि से जकड़े हुये प्राणी मुक्त हो गये। सभी नरकों की आग बुझ गई। प्रेतों की क्षुधाव पिपासा शान्त हो गई। सभी प्राणी प्रियभाषी हो गये। सुखद मृदुल व शीतल हवा बहने लगी। महासमुद्र का पानी मीठा हो गया। उद्यानों में पुष्प खिल उठे, आकाश में दिव्य वाद्य बजने लगे।

—आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन पृ० १५२

२ त्रिषष्टि १०।२।५२।

अनन्त सामर्थ्य का ज्ञान होते हुए भी मैंने उसकी अवमानना कर दी। क्षमा करें, प्रभु !" और फिर आनन्दपूर्वक सभी देवों ने जलाभिषेक कर शिशु को पुनः त्रिशला-देवी के पास लाकर सुला दिया।[१]

तीर्थंकर आत्मा की अनन्तशक्ति का परिचय देने वाला यह बड़ा ही रोचक प्रसंग है। काव्यात्मक सौन्दर्य की बात छोड़ दें, तब भी यह तो ध्वनित होता ही है कि महापुरुष अपनी शक्ति का परिचय वचन से नहीं, किन्तु कर्म से ही देते हैं।[२]

प्रातःकाल राजा सिद्धार्थ की ओर से नगर में पुत्रजन्म की बधाई बाँटी गई। घर-घर में मिठाई तो बँटी ही, मंगलमय गीत गाये गये और हँसी-खुशी भी मनाई गई, पर इससे भी अधिक प्रसन्नता हुई उन जन्म-जात गुलामों को, कारावास में जीवन-बन्दी कैदियों को, ऋणभार से दबे दम तोड़ते गरीब व कर्जदारों को और धन के अभाव में भूखे-पेट फिरते दरिद्रों, भिखारियों तथा मजदूरों को, जिनके लिये राजा सिद्धार्थ ने पूरे राज्य में यह घोषणा करवा दी—"बन्दीगृहों से समस्त कैदियों को मुक्त कर दो, कर्जदारों को ऋणमुक्त कर दो, जिनके पास आवश्यक साधन न हों, वस्तु खरीदने के लिये धन न हो, वे बाजार से आवश्यक वस्तुएँ खरीद लेवें, उनका भुगतान राजकोष से कर दिया जायेगा।"

यह विशेष ध्यान देने की बात है कि आनन्द व खुशी के प्रसंग पर मनुष्य अपने सम्बन्धियों, मित्रों एवं पड़ौसियों को मिठाई खिलायें, घर व मुहल्ले में चहल-पहल कर दें, गाने-बजाने व आमोद-प्रमोद में धन को पानी की तरह बहा दें, यह एक सामान्य बात है, किन्तु उस प्रसंग पर गरीब, दरिद्र, ऋणी, रोगी और असहाय लोगों को याद कर उनकी पीड़ा को कम करें, उनके मन को भी एक बार प्रसन्नता से गुदगुदा दें, यह एक महत्व की बात है। महावीर जैसे महापुरुष के जन्म पर सिद्धार्थ जैसे धर्मप्रिय प्रजापालक राजा द्वारा ऐसी घोषणा होना वास्तव में एक नई सामाजिक दृष्टि है, मानव-कल्याण की भावना की एक सुन्दर झलक है, और है पुत्र-जन्म का सच्चा उत्सव।

नामकरण

जन्म के बारहवें दिन राजा सिद्धार्थ ने एक विशाल प्रीतिभोज किया. अपने स्वजनों, मित्रों आदि को भोजन-पान से सत्कृत कर प्रसन्न किया, फिर सबको

१ मेरु-कंपन की घटना का उल्लेख मूल आगमों में नहीं, किन्तु उत्तरवर्ती श्वेताम्बर साहित्य में एक स्वर से किया गया है।

२ अँगूठे के स्पर्श से मेरुपर्वत को हिलाकर भ० महावीर ने यह भी व्यक्त कर दिया कि मेरे शरीरबल को मत देखो, आत्मबल को देखो। शरीरबल से अनन्तगुना बढ़कर आत्मबल है।

संबोधित करते हुए उसने कहा—"जब से यह बालक त्रिशलादेवी के गर्भ में आया है, धन, धान्य, कोष्ठागार, स्वजन और राज्यकोष में हर प्रकार की अभिवृद्धि हुई है, अतः इसका गुणसम्पन्न 'वर्धमान' नाम रखा जाय, ऐसा हमारा अभिप्राय है।" सिद्धार्थ का उक्त प्रस्ताव सभी को प्रिय लगा, सर्वानुमति से अनुमोदन किया गया और बालक का यथार्थ नाम 'वर्धमान' रखा गया।

'वर्धमान' नामकरण में माता-पिता के समक्ष भले ही भौतिक समृद्धि की वृद्धि ही मुख्य रही हो, पर वह बालक भौतिक व आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से निरन्तर वर्धमान (बढ़ता हुआ) रहा, उसका बाह्य वैभव तो एक सीमा तक ही बढ़ा, पर आत्म-वैभव असीम होता गया, अनन्त होता गया, इसलिये यह स्पष्ट है कि बालक महावीर का प्रथम नाम वर्धमान' यथार्थ था, अपने लिये भी, समाज व राष्ट्र व धर्म के लिये भी और सम्पूर्ण मानव-जाति के लिये भी।

परिवार

वर्धमान अपने माता-पिता की तीसरी संतान थे। उनके मुख्य तीन नाम प्रसिद्ध थे—वर्धमान, महावीर और सन्मति। वीर, अतिवीर, अंत्यकाश्यप ये उनके गौण नाम थे। आगम एवं त्रिपिटक साहित्य में उनको नातपुत्र या ज्ञातपुत्र तथा वैशालिक के नाम से भी संबोधित किया गया है।

वर्धमान की माता का प्रसिद्ध नाम त्रिशला था, विदेहदिन्ना और प्रियकारिणी उनके गौण नाम थे।

वर्धमान के चाचा का नाम था—सुपार्श्व। बड़े भाई का नाम था नंदीवर्द्धन। भाभी का नाम था ज्येष्ठा और बहन का नाम था सुदर्शना। सुदर्शना के पुत्र का नाम था जमालि।

वर्धमान बड़े होने पर विवाहित हुए, उनकी पत्नी का नाम था यशोदा। एक पुत्री हुई, जिसका नाम रखा गया प्रियदर्शना (अनवद्या)। वर्धमान के मामा थे—वैशाली गणराज्य के अध्यक्ष चेटक। मामी का नाम था सुभद्रा। मामा चेटक के दस पुत्र थे; जिनमें सबसे बड़ा था सिंहभद्र। यही सिंहभद्र वज्जीगण का प्रधान सेनापति था। सिंह सेनापति का वर्णन बौद्ध-साहित्य में अनेक स्थानों पर आता है, चेटक की सात पुत्रियाँ थीं, जिनके सम्बन्धों की चर्चा पीछे की जा चुकी है। इसप्रकार वर्धमान के पारिवारिक सम्बन्ध अंग, मगध, अवंती से लेकर सिन्धु-सौवीरदेश तक के राजवंशों के साथ जुड़ हुए थे।

पालन-पोषण

वर्धमान एक वैभवशाली यशस्वी राजवंश के राजकुमार तो थे ही; किन्तु उनके आसपास में जो सुख-सुविधा और आमोद-प्रमोद के साधन जुटे हुए थे; उन्हें देखकर उनको देवकुमार भी कह सकते हैं। किन्तु देवकुमार को माता-पिता का वह प्यार-दुलार कहाँ नसीब होता है, जिसका अपार सागर महावीर के आस-पास लहराता था, महारानी त्रिशला स्वयं पुत्र का लालन-पालन करती थी, फिर भी उसकी विशेष सार-संभाल के लिये पाँच निपुण धाइयाँ (आया) भी रखी गई थीं। उन पाँचों के काम बंटे हुए थे—दूध पिलाना, स्नान कराना, वस्त्र-आभूषण पहनाना, गोद में लिये घूमना और विविध खेल-कूद कराना।

साहस-परीक्षा

वर्धमान जन्म से ही अनन्त बलशाली थे, यह पहले कहा जा चुका है। उनके अद्भुत पराक्रम व साहस से भले ही पास-पड़ौस वाले कम परिचित रहे हों, पर ज्ञानी व देवताओं से यह तथ्य छिपा हुआ नहीं था। एकबार शक्रेन्द्र ने अपनी देव-सभा में चर्चा करते हुये कहा था "राजकुमार वर्धमान बालक होते हुये भी बड़े पराक्रमी और साहसी हैं। कोई देव, दानव व मानव उनको पराजित व भयभीत नहीं कर सकता।"

एक आठ वर्ष से कम आयु के बालक की शक्रेन्द्र द्वारा प्रशंसा करना आश्चर्यजनक बात थी। साथ ही देवताओं के लिये ईर्ष्या का भी विषय था। एक देव ने देवराज के इस कथन को अतिशयोक्ति माना और वर्धमान के बल व साहस की परीक्षा करने की नीयत से कुण्डपुर के उद्यान में आ पहुंचा। वर्धमान वहाँ अपने साथियों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। यह खेल आमलकी क्रीड़ा कहलाता था, जिसमें एक वृक्ष को निशाना बना कर सब बालक उस ओर दौड़ते। जो सबसे पहले वृक्ष पर चढ़कर उतर आता वह जीत जाता, और पराजित बालकों के कन्धों पर चढ़कर जहाँ से दौड़ प्रारम्भ हुई, वहाँ तक जाता। वर्धमान दौड़ कर सबसे पहले उस वृक्ष पर चढ़ गये थे। परीक्षक देव ने एक काले नाग का रूप धारण किया और उस वृक्ष के तने पर लिपट गया। वर्धमान ज्यों ही नीचे उतरने लगे, नाग ने फन उठाकर फुंकारा। यह दृश्य देखकर दूर खड़े अन्य बालकों की आँखों के सामने अँधियारी छा गई, भय के मारे पसीना छूट गया, और वे चीख पड़े—"वर्धमान ! सावधान ! नीचे मत उतरो ! काला नाग है।"

बालकों की चीख-चिल्लाहट से वातावरण भयाक्रान्त बन गया, तभी "डरो मत, शान्त रहो !" वर्धमान ने कहा और ऊपर से ही छलांग लगाई, नाग फुंकारता हुआ जैसे ही वर्धमान पर झपटा, वर्धमान ने उसका फन पंजे में पकड़ लिया और एक झटका देकर उसे यों फेंक दिया जैसे पुरानी अधजली रस्सी का टुकड़ा हो।

इस साहसी कृत्य पर बालकों ने वर्धमान की पीठ थपथपा कर बधाई दी। कुछ समय बाद दूसरा खेल प्रारम्भ हुआ, जिसे 'तिंदूषक-क्रीड़ा' कहते थे। इस खेल में विजेता बालक दूसरे की पीठ पर सवार होकर खेल प्रारम्भ होने के स्थान तक जाता। खेल चल रहा था कि बालक रूप-धारी देव वर्धमान की टोली में जा मिला। खेलते-खेलते हारकर उसने वर्धमान को अपनी पीठ पर चढ़ाया और क्षणभर में ही उसने सात ताड़ जितना विशाल रौद्र रूप बना लिया। उसका भयानक रूप देखकर सभी बालक भौंचक्के-से रह गये। भय के मारे उनके प्राण सूखने लगे। तभी साहसी वर्धमान ने रौद्ररूपधारी बालक की पीठ पर कसकर एक मुक्का मारा। उसके मुंह से चीत्कार निकल पड़ी। क्षणभर में ही वह छोटा-सा रूप बनाकर वर्धमान के चरणों में झुक गया। वर्धमान व अन्य साथी उसे घूरकर देख रहे थे कि तभी मायावी बालक गायब हो गया और उसके स्थान पर एक दिव्यरूपधारी देव वर्धमान को नमस्कार कर उनकी प्रशंसा कर रहा था—"कुमार! तुम महान बलशाली हो, तुम्हारी निर्भीकता प्रशंसनीय है, मैं आया था तुम्हारे साहस की परीक्षा लेने परीक्षक बनकर और अब जा रहा हूं प्रशंसक बनकर।"

अनुश्रुति के अनुसार आठ वर्ष की आयु में ही कुमार वर्धमान अपने अपूर्व व अपराजेय साहस के कारण 'महावीर' कहलाने लग गये। देवता द्वारा संबोधित उनका यह विशेषण आगे चलकर सम्पूर्ण रूप में सार्थक हुआ।

विद्याशाला की ओर

उपलब्ध साहित्य में वर्धमान के साहसी जीवन का परिचय देने वाली ये दो घटनाएं मिलती हैं। पर इनके प्रकाश में यह तो स्पष्ट हो ही जाना चाहिये कि वे एक क्षत्रियकुमार थे, इसलिये भी साहस, शौर्य और पराक्रम प्रदर्शन के अनेक प्रसंग सहजरूप से ही उनके जीवन में घटित हुए होंगे। क्षत्रियोचित धनुर्विद्या का अभ्यास भी किया होगा, किन्तु शक्ति-प्रदर्शन के इन हिंसा-बहुल प्रयोगों में उनकी रुचि कभी नही हुई होगी। वे गम्भीर और शान्तिप्रिय थे, न खेल-कूद में उनकी अत्यधिक रुचि थी और न शस्त्र-विद्या सीखने में। उनकी उदासीन वृत्ति देख कर

माता-पिता ने सोचा होगा—"कुमार वर्धमान को शस्त्र-विद्या में जब कोई रुचि नहीं है तो शब्द-विद्या में तो निपुण करना ही चाहिये। क्योंकि शब्दविद्या में प्रायः ब्राह्मणों का प्रभुत्व चला आ रहा है, विदेहराज जनक, कैकेय नरेश, प्रवाहण जैवालि, तथा पार्श्वकुमार जैसे कुछेक क्षत्रिय-पुत्र ही ऐसे हुए हैं जो शस्त्रविद्या के साथ-साथ शब्दविद्या एवं आत्मविद्या के क्षेत्र में भी प्रभुत्वसम्पन्न थे। वर्धमान को भी सम्भवतः उसी विद्या में विशेष रुचि हो, अतः माता-पिता ने कुमार को विद्याशाला भेजने का निश्चय किया।

यहां पर यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वर्धमान तो जन्मजात ज्ञानी थे। शुकदेव जैसे गर्भ में ही वेदविद्या के पारगामी बन गये थे, कुमार वर्धमान भी उसी प्रकार गर्भ में ही मति, श्रुत एवं अवधिज्ञान से सम्पन्न थे। किन्तु उन्होंने शक्ति की भाँति ज्ञान को भी पचा लिया था। शक्ति-प्रदर्शन के सहज प्रसंग आ गये तो लोगों को उनकी वीरता का पता चल गया। किन्तु ज्ञान-शक्ति के प्रदर्शन का अभी तक कोई ऐसा प्रसंग नहीं बना था।

एक दिन माता-पिता ने शुभमुहूर्त देखकर एक नये विद्यार्थी के रूप में वर्धमान को पाठशाला में भेजा। वर्धमान फिर भी गंभीर थे। वे माता-पिता की इच्छा का आदर करते थे, आचार्य का भी सम्मान रखते थे। इसलिये विज्ञ होते हुये भी एक साधारण बालक की भाँति गुरु का आदर करके चुपचाप उनके समक्ष बैठ गये। आचार्य ने उन्हें वर्णमाला का पहला पाठ पढ़ने को दिया। वर्धमान चुपचाप बैठे रहे। कुमार जन्मजात विद्वान हैं, इसका ज्ञान आचार्य को न था और न माता-पिता को। कुमार ने स्वयं भी अपने मुँह से कुछ कहा नहीं, फिर भेद खुले तो कैसे? रहस्य का पर्दा उठे तो कैसे?

तभी एक प्रसंग बना। एक तिलकधारी वृद्ध ब्राह्मण ने पाठशाला में प्रवेश किया। उसकी मुख-मुद्रा से लगता था कोई गम्भीर विद्वान है, ब्रह्मतेज से सम्पन्न ऋषि जान पड़ता है। आचार्य उनके सम्मान में खड़ा होना ही चाहते थे कि विप्रदेव ने कुमार वर्धमान की ओर मुड़कर अत्यन्त नम्रतापूर्वक प्रणाम किया। पाठशाला के अन्य विद्यार्थी चकित-से, आचार्य स्वयं दिग्विमूढ़-से खड़े देख रहे थे। विप्रदेव ने वर्धमान से शब्द-शास्त्र के अनेक गम्भीर प्रश्न पूछे। व्याकरण की जटिल पहेलियाँ भी पूछी और कुमार अस्खलित-रूप से सबका उत्तर देते चले गये।

आचार्य के पैरों के नीचे से धरती खिसकने लगी। वे समझ नहीं पाये कि अष्टवर्षीय कुमार वर्धमान में क्या अलौकिक प्रतिभा है; जो इतने गम्भीर प्रश्नों का यों अस्खलित उत्तर दिये जा रहे हैं? और यह ब्रह्मर्षि कौन हैं? कहाँ से आये

हैं ? और मेरी पाठशाला में बिना मेरी अनुमति के मेरे छात्रों से क्यों, किसलिये इतने जटिल प्रश्न पूछ रहे हैं ? अनेक अव्यक्त प्रश्न आचार्य के मन को कचोटने लगे।

आचार्य-सहित पूरी पाठशाला वर्धमान के चरणों में झुक गई। सचमुच ज्ञानी कभी बोलकर अपने ज्ञान का प्रदर्शन नहीं करता। राजा सिद्धार्थ ने जब यह चमत्कारी घटना सुनी तो वे उल्टे पाँवों दौड़े आये, स्नेह-विह्वल होकर राजकुमार को गोदी में उठा लिया और सिर पर हाथ फिराकर बोलने लगे—"कुमार ! मैंने तुम्हारी अपूर्व ज्ञानशक्ति को नहीं पहचाना, मुझे क्षमा कर देना। पर तुमने भी कभी नहीं बताया। इतनी गम्भीरता किस काम की ?"

वर्धमान धीरे-से मुस्करा भर दिये और पिता के साथ पुनः राजमहलों में चले गये।

यौवन के द्वार पर

विद्याशाला से वापस आकर कुमार वर्धमान की क्या, कैसी प्रवृत्तियाँ रहीं, वे कहाँ रहते, क्या करते और किसप्रकार के मित्र-परिवार के बीच समय बिताते इसका लेखा-जोखा महावीर से सम्बन्धित जीवन-चरित्र साहित्य में कहीं नहीं मिलता। पर, बचपन से यौवन के द्वार पर पहुंचने तक की यात्रा में वे चुपचाप आँखें मूँदे चले हों अथवा राजमहलों या एकान्त उद्यानों में ही बैठे ध्यान लगाते रहे हों—यह भी कम सम्भव है। उनकी जागृत-प्रज्ञा, धर्म और समाज के प्रति क्रान्तदृष्टि अवश्य ही भीतर में एक नव-निर्माण की भूमिका बना रही होगी। समाज में धर्म के नाम पर चल रहे अन्धविश्वास, रूढ़ियाँ, यज्ञों में क्रूर पशु-बलि, नारी का अवाछित अपमान और शूद्रजातियों के प्रति अमानवीय व्यवहार—ये सब ज्वलन्त समस्याएँ वर्धमान की बुद्धि और हृदय को अवश्य ही झकझोरती रही होंगी। वे अन्तर्दृष्टि से इन समस्याओं की गहराई में जाते होंगे और एक अनुकम्पा और दिव्यकरुणा से उनका मन और आँखें डबडबा आती होंगी। वे उनके स्थायी समाधान का दृढ़संकल्प भी करते रहे होंगे। अवश्य ही इस वयःसन्धिकाल में महावीर एक अन्तर् संघर्ष में से गुजरे होंगे और समता की नई सृष्टि की पृष्ठभूमि बनाते रहे हों—यह सहज कल्पना होती है। इस सन्दर्भ में हो सकता है कुछ क्रान्तिकारी घटनाएँ भी घटी हों, पर साहित्य के पृष्ठों पर वे आज अंकित नहीं हैं, इसलिये किसी घटना की नव-सर्जना करना अब तक के चरित्रकारों के साथ न्याय नहीं होगा।

यौवन के द्वार पर पहुंचते-पहुंचते वर्धमान गम्भीर चिंतक, साथ ही शान्ति, समता एवं करुणा की सजीवमूर्ति के रूप में समाज में चमक उठे थे ! माता-पिता ने महावीर के विवाह की योजना बनाई। गृही-जीवन के रंगीन स्वप्न उनकी कल्पना में थिरकने लगे थे। वे चाहते थे कि वर्धमान की यह अति गम्भीरता और अति शान्तिप्रियता टूटनी चाहिये और इसका सहज मनोवैज्ञानिक उपाय है विवाह। यौवन का स्वतन्त्र उपभोग। वे भूल गये थे, वर्धमान इसी जन्म में वीतराग तीर्थंकर बनने वाले हैं, उनकी वृत्ति में न मोह है न राग, न भोग की आकांक्षा और न किसी प्रकार का भौतिक आकर्षण। उनके अन्दर तो अनन्तकरुणा, निःस्पृहता, वैराग्य, असीम समता का सागर लहरा रहा है।

राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला ने एक दिन एकान्त में गम्भीर विचार-विनिमय कर निश्चय किया कि कुमार वर्धमान को अब विवाह-बन्धन में बाँध देना चाहिये, ताकि हमारे पश्चात् भी वे इस गृहस्थ-जीवन की गाड़ी को यथावत् चलाते रहें। त्रिशला ने अनेक राजकुमारियाँ देखीं, उनमें महासामन्त समरवीर की कन्या 'यशोदा' उन्हें कुमार के लिये सर्वथा योग्य लगी। यशोदा सुन्दर भी थी, धर्म एवं राजनीति का उचित ज्ञान भी था उसे। माता-पिता ने वर्धमान से यशोदा के साथ पाणिग्रहण करने का प्रस्ताव किया, पर वे टालते रहे। किन्तु जब बार-बार के आग्रह को ठुकराने पर त्रिशला की आँखें भर आईं, उसकी मुखकान्ति म्लान हो गई तो, वर्धमान ने आग्रह की डोर ढीली छोड़ दी। माता के कोमल हृदय को दुखाना उन्हें किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं था। वे मौन हो गये। इस मौन को स्वीकृति मानकर त्रिशला ने विवाह की तैयारियाँ शुरू कर दीं और एक दिन यशोदा के साथ राजकुमार वर्धमान का पाणिग्रहण कर दिया गया।[1]

यशोदा को पत्नी रूप में स्वीकारने में भी महावीर की नारी जाति के प्रति असीम अनुकम्पा ही मुख्य कारण थी; क्योंकि नारी को धन-धान्य की भांति ही एक परिग्रह माना जाता था, इससे अधिक कुछ नहीं। महावीर उसे धर्मसहायिका के रूप में प्रतिष्ठा देना चाहते थे। यदि वे नारी से दूर भागते रहते तो शायद जनता इस तथ्य को सरलता से स्वीकार नहीं करती।

विवाह के पश्चात् यशोदा ने स्वयं को महावीर के प्रति सर्वथा समर्पित ही नहीं कर दिया, किन्तु उनकी धर्म-साधना में भी सदा सर्वात्मभाव से सहयोग दिया और नारी पुरुष की धर्म-सहायिका होती है, इस तथ्य को प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया।

१ दिगम्बर-परम्परा के आचार्यों ने महावीर के विवाह-सम्बन्ध का निषेध करके उन्हें आजन्म ब्रह्मचारी बताया है।

समय पर एक पुत्री का जन्म हुआ, जिसका नाम प्रियदर्शना रखा गया। शिक्षा-दीक्षा पूर्ण करने के पश्चात् प्रियदर्शना का विवाह उसी नगर के क्षत्रिय कुमार जमालि से कर दिया गया। जमालि वर्धमान की बड़ी बहन सुदर्शना का पुत्र था। यह विवाह-सम्बन्ध वर्धमान के गृह-त्याग के पश्चात ही सम्पन्न हुआ ऐसा अनुमान किया जाता है, क्योंकि २८वें वर्ष में तो वर्धमान सांसारिक प्रवृत्तियों से निवृत्त होकर दो वर्ष तक एकान्त जीवन ही बिताते रहे और अठाईसवें वर्ष में पुत्री का विवाह हो जाना कम सम्भव लगता है। पर इतिहासकारों ने इस पर अपनी खोज-पूर्ण कलम नहीं चलाई, अतः निश्चित कुछ कह पाना कठिन है।

बाह्याभ्यन्तर व्यक्तित्व

वर्धमान एक क्षत्रिय कुमार थे, इसलिये वे अत्यन्त बलिष्ठ, सुन्दर एवं सुगठित शरीर वाले होंगे— यह तो सहज ही कल्पना की जा सकती है। उनका शरीर सात हाथ ऊँचा था, उनकी आंखें विकसित नील-कमल की भाँति विशाल एवं सदा प्रफुल्लित रहती थीं। उनकी भुजाएँ सुदीर्घ, मांसल एवं सुदृढ़ थीं। वे अतुल बल एवं पराक्रम तथा साहस के धनी थे। उनकी देह का वर्ण तपे हुये सोने की तरह तथा प्रज्वलित निर्धूम अग्निशिखा की भाँति गौर था। उनके दर्शन मात्र से ही मन प्रियता तथा भव्यता से उमग उठता था।[1] आगमों में उनके शारीरिक सौन्दर्य का जो संक्षिप्त वर्णन मिलता है, उससे पता चलता है कि उनका बाह्यव्यक्तित्व बड़ा ही प्रभावशाली एवं आकर्षक था ही, मगर उनका आन्तरिक व्यक्तित्व तो और भी प्रभावपूर्ण और अद्वितीय कहा जा सकता है। वे चिन्तनशील थे, मितभाषी थे। उनकी प्रतिभा बड़ी अनूठी थी, निरीक्षण शक्ति बड़ी अद्भुत। वर्तमान युग के मानव-शरीरविश्लेषक मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि—साधारण मनुष्य के मस्तिष्क की ज्ञान-कोशिकाएँ (सेल्स) हजारों की संख्या में खुली रहती हैं। तीव्र मेधावी व्यक्ति के यह सेल्स कई हजार व अधिक-से-अधिक कई लाख तक खुले रह सकते हैं। अनुमान है कि वर्धमान के मस्तिष्क में सात करोड़ से भी अधिक सेल्स खुले थे। इस विश्लेषण से यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है कि वर्धमान महावीर अपने युग के सर्वोत्कृष्ट प्रतिभासम्पन्न व मेधावी पुरुष थे। इसलिये उन्हें मेधावी[2], आशुप्रज्ञ[3] और दीर्घप्रज्ञ[4] जैसे

१ (क) भगवती सूत्र २।१।१४। (ख) औपपातिक० १।

२ मेहावी, ३ आसुपन्ने, ४ दीहपन्ने।

—देखें सूत्रकृताङ्गसूत्र का वीरत्थुइ अध्ययन तथा आचारांग १।६।

विशेषणों से बार-बार सम्बोधित किया गया है। इतनी प्रखर प्रतिभा होते हुये भी वे अपने दैनिक व्यवहारों में बड़े विनम्र, सरल एवं कुशल थे। इसीलिये उनके गृहजीवन के साथ ये विशेषण जोड़े गये हैं—'**दक्खे**—वे बड़े दक्ष, कुशल थे," "**दक्खपइण्णे**—अपने संकल्प एवं प्रतिज्ञा में बड़े दृढ़ थे।" "**भद्दये**—बड़े सरल, भद्र थे, "**विणीये**—विनीत थे"[1], माता-पिता के प्रति ही नहीं, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के प्रति उनका व्यवहार बड़ा मधुर, करुणा एवं स्नेहपूर्ण रहता था। इस प्रकार उनका वाह्य एवं आभ्यन्तर व्यक्तित्व बड़ा ही अलौकिक व अद्वितीय था।

अभिनिष्क्रमण की तैयारी

भगवान महावीर के सम्बन्ध में यह माना गया है कि वे प्रारम्भ से ही एकान्तप्रिय, चिन्तनशील व विरक्त थे व उनकी आत्मचेतना जागृत थी, इस कारण उनके समक्ष वैराग्य एवं गृहत्याग कर संन्यस्त होने के निमित्त पाकर उनकी अन्तरात्मा जागृत हुई हो, ऐसा कोई उल्लेख भी जैन साहित्य में नहीं मिलता। वे द्रष्टा थे और द्रष्टा के लिये उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती—"**उद्देसो पासगस्स नत्थि**" ऐसा वे स्वयं ही कहते थे। फिर भी माता-पिता के स्नेहानुबन्धन के कारण उन्होंने एक प्रतिज्ञा कर रखी थी—"उनके जीवित रहते गृह-त्याग नहीं करूँगा।" इस कारण वे राजभवन में बैठकर ही 'वन' की साधना कर रहे थे। भवन और वन सर्वत्र ही समता का 'नन्दादीप' प्रज्वलित था।

माता-पिता का जब स्वर्गवास हुआ तब वर्धमान अट्ठाईस वर्ष पूर्ण कर चुके थे।[2] अब वे अपनी प्रतिज्ञा से मुक्त थे, इसलिये गृहत्याग कर एकान्त जीवन बिताने के लिये एकाकी श्रमण बनकर विचरण करना चाहते थे। जब बड़े भाई 'नन्दीवर्द्धन' के समक्ष उन्होंने अपनी भावना प्रकट की तो नन्दीवर्द्धन डबडबाई आंखों से वर्धमान को निहारने लगे। वे बोले—'बन्धु! स्वजन अपने स्वजन के घाव पर कभी नमक नहीं छिड़कता। किन्तु मरहमपट्टी कर घाव को भरने की चेष्टा करता है। तुम्हारे जैसा समर्थ, विवेकी एवं करुणाशील अनुज अग्रज के घावों को और गहरा करे—क्या यह उपयुक्त है? इधर माता-पिता के वियोग का दुःख, राज्य का गुरुतर उत्तर-

१ आचारांग १।६।१।

२ दिगम्बर-परम्परा के कुछ काव्य ग्रन्थों में वर्धमान की प्रव्रज्या के समय माता-पिता के जीवित होने तथा त्रिशला के करुणविलाप का काव्यात्मक चित्रण किया गया है—देखें भट्टारक सकलकीर्ति-कृत वीरवर्धमान-चरित्र।

दायित्व और इधर तुम मुझे एकाकी छोड़कर जाना चाहते हो ? क्या मेरी स्थिति विकट नहीं बन जायेगी ? व्यवस्थाचक्र गड़बड़ा जायेगा और चिन्ता तथा परेशानियों के पहाड़ मुझ पर टूट पड़ेंगे। जब तुम २८ वर्ष माता-पिता की सेवा के लिये रुके रहे, तो मेरे लिये भी कुछ नहीं रुक सकते ?"

अग्रज के शब्दों में एक टीस थी, जो वर्धमान के हृदय को बींध गई। वे कुछ बोल नहीं पाये, सिर्फ इतना पूछ सके—"तो क्या मुझे आपके लिए भी रुकना होगा ?"

"हाँ—जरूर !" नन्दीवर्धन ने कहा और वे वर्धमान की आँखों में आंखें गड़ाकर देखने लगे।

"कब तक ?"

"कम से कम दो वर्ष तक तो रुकना ही चाहिए।"

"एक शर्त है"—वर्धमान ने अग्रज के कथन को स्वीकार करते हुए अपनी भावना स्पष्ट की – "मैं आपकी भावना का आदर कर दो वर्ष तक घर में और रहूँगा, किन्तु गृह-सम्बन्धी प्रवृत्तियों से बिलकुल दूर। घर में मेरा होना, न होना एक जैसा रहेगा। मेरे निमित्त कुछ भी आरम्भ—समारम्भ न हो, मैं एकान्त साधना में ही अपना समय व्यतीत करूँगा।"

नन्दीवर्धन ने दबे स्वर से वर्धमान की शर्त स्वीकार कर ली, यह सोचकर कि घर में अनुज की उपस्थिति-मात्र मुझे अपना कार्य सम्भालने में बल देती रहेगी।

प्रत्येक क्षण अप्रमाद और त्याग में बिताने का आग्रह रखनेवाले वर्धमान दो वर्ष तक और गृह-जीवन में रहने को तैयार हो गये, यह एक आश्चर्यजनक प्रसंग है। किन्तु इसके पीछे महावीर की चिन्तनधारा का एक निर्मल रूप उजागर होता है। तीव्र वैराग्य-वृत्ति और संसार के प्रति उदासीनता होते हुये भी उनमें उत्कृष्ट भ्रातृ-प्रेम व उदात्त व्यवहार दृष्टि भी थी। वीतरागता के नाम पर बड़ों का अनादर व अवज्ञा करना उन्हें पसन्द नहीं था। साथ ही विचारों की दृढ़ता के नाम पर वे हठवाद को उचित नहीं समझते थे। समय व परिस्थिति पर उचित निर्णय और व्यावहारिक समझौता करना उनकी सहज, सरल, मधुर जीवनदृष्टि का एक अंग था; यह इस घटना से स्पष्ट होता है।

यशोदा चुप क्यों रही ?

चरित्र लेखकों ने यशोदा-सुन्दरी के साथ वर्धमान का पाणिग्रहण कराकर भी उनके दाम्पत्य-जीवन के प्रति सर्वथा उपेक्षा दिखाई है। यशोदा उनके जीवन में आई, एक सन्तान भी हुई, पर इसके सिवाय उसका कोई अता-पता नहीं है। उसने स्नेह एवं अनुराग की आग में वर्धमान की भावनाओं को पिघलाने की चेष्टा की या नहीं ? पति-पत्नी का प्रणय-सम्बन्ध और एक दूसरे के जीवन में कौन कितने समर्पित थे ? इस प्रसंग पर किसी की कलम नहीं चली है। और तो क्या ! गृह-त्याग के समय नन्दीवर्धन तो दो वर्ष के लिये वर्धमान को रोक लेते हैं किन्तु यशोदा तब कहाँ थी ? उसके प्यार का स्वर क्यों मन्द हो गया था ? उसके स्नेहभरे आँसुओं का सरोवर क्यों सूख गया था ? इसकी कोई कल्पना तक हमारे चरित्र-लेखकों ने नहीं दी। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यशोदा तब जीवित भी थी या नहीं ? यदि जीवित थी तो क्या उसके प्यार भरे दिल को ठोकर मारकर प्रव्रजित होने का कठोर संकल्प वर्धमान कर सके ? या उसी ने अपने समस्त आँसुओं को पीकर विश्व-कल्याण के लिये अपने स्वार्थों का बलिदान कर वर्धमान की दीक्षा का पथ प्रशस्त कर दिया ? इस कारुणिक, भावना-प्रधान एवं प्रेरक विषय पर लेखनी चलना चाहती है, पर प्राचीन उल्लेखों के अभाव में उसकी स्याही सूख गई है। और यह प्रश्न, प्रश्न बनकर ही रह गये हैं। एकबार त्याग का संकल्प कर लेने के बाद वर्धमान वापस भोग की ओर नहीं लौटे, बन्धु व सज्जनों के आग्रह पर वे दो वर्ष तक गृहि-वेष में जरूर रहे, पर रहे बिलकुल त्यागी की भाँति, अगार में भी अनगारभूत बनकर ! ब्रह्मचर्य की कठोर साधना तो पहले से ही कर रहे थे, अब तो किसी भी प्रकार की भोग-सामग्री का स्पर्श भी त्याग दिया। इन दो वर्षों का साधना-काल सचमुच में जल-कमल की साधना का आदर्श था। यदि उस चर्चा का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता तो गृहस्थ-जीवन में उच्चतम आध्यात्मिक साधना की एक स्वस्थ दृष्टि उजागर हो जाती।

मुक्तहस्त से दान

साधना के अन्तिम वर्ष में अर्थात् २९ वर्ष पूर्ण हो जाने के बाद वर्धमान ने दीन-दुखी एवं याचकों को दान देना प्रारम्भ किया। प्रातःकाल से दान देने बैठते तो एक प्रहर तक मुक्तहस्त से दान दिये जाते, जो भी याचक आता बिना किसी भेद-

भाव के वर्धमान के हाथ का प्रसाद पाकर धन्य-धन्य होकर जाता। आचार्यों की गणना के अनुसार प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान किया जाता था। इस हिसाब से वर्ष भर में कई अरब स्वर्ण-मुद्राओं की राशि जलधर की भाँति बरसा कर जनता की गरीबी व दुखों को दूर करने का प्रयत्न वर्धमान ने किया। राजा नन्दीवर्धन ने स्थान-स्थान पर दानशालाएँ व भोजनशालाएँ खुलवाकर जनता-जनार्दन की सेवा में असंख्य स्वर्णमुद्राएँ दान कीं।

भवन से वन की ओर

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, वर्धमान के हृदय में अभिनिष्क्रमण का संकल्प तीव्र से तीव्रतर होता गया। तभी परम्परानुसारी लोकान्तिक देवों ने उपस्थित होकर वर्धमान के दृढ़ संकल्प का हार्दिक अनुमोदन करते हुये कहा—"हे विश्व-कल्याण के इच्छुक महामहिम! आपकी जय हो! हे क्षत्रियश्रेष्ठ! आप शीघ्र ही धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कीजिये, जिससे समस्त जीवों को सुख एवं कल्याण की प्राप्ति हो।"

दो वर्ष का समय पूर्ण होने पर अब नन्दीवर्धन भी वर्धमान के दीक्षा-महोत्सव की तैयारी करने लगे।

मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी का दिन व चौथा प्रहर था।[1] सूर्य की किरणें पश्चिम की ओर जा रही थीं। तभी वर्धमान राजभवन से निकले। चन्द्रप्रभा नाम की पालकी में बैठकर ईशान दिशा में स्थित ज्ञातखण्ड नामक उद्यान की ओर चले। उनके पीछे हजारों नर-नारियों का भाव-विह्वल समूह था। असंख्य देव इस दृश्य को देखने धरा पर उतर रहे थे। धरती-आकाश एक हुआ जा रहा था। ऐसा लगता था, समता का संदेशवाहक आज धरती पर समता की वृष्टि किये जा रहा है।

विशाल जुलूस ज्ञातखण्ड उद्यान में पहुंचा, अशोकवृक्ष के समीप रुका। वर्धमान पालकी से नीचे उतरे। शरीर पर सुसज्जित वस्त्रों एवं आभूषणों को उतार कर उन्होंने एक ओर रख दिया, मन से जब ममता हटी तो स्वर्ण एवं हीरों के आभूषण भी भार प्रतीत होने लगे। वर्धमान सचमुच भारमुक्त हो गये, ग्रन्थियों से

१ उस दिन महावीर छट्ठ-भक्त उपवास-अर्थात् बेले की तपस्या में थे। ई० पू० ५६६, २६ दिसम्बर, सोमवार।

मुक्त निर्ग्रन्थ-दशा में पहुंच गये। उन राजसी वस्त्रों में भी उन्हें बन्धन की गन्ध आने लगी, बस, क्षण भर में वे राजसी परिधान से मुक्त हो गये, अब उनके विशाल-काय स्कन्ध पर एक अत्यन्त शुभ्र हिम-सा उज्ज्वल देवदूष्य लहरा रहा था। वर्धमान ने, पूर्वाभिमुख होकर स्थिर खड़े हुये, अपने हाथों से पंच मुष्टिक केश लोच किया। और मेघ-गम्भीर स्वर में सिद्धों को नमस्कार कर भावी जीवनचर्या के लिये यह कठोर प्रतिज्ञा स्वीकार की "मैं समभाव की साधना को स्वीकार करता हूं। आज से मन, वचन और कर्म से सावद्य (सपाप) आचरण का त्याग करता हूं। पूर्व-कृत पाप आचरण से निवृत्त होता हूं और भविष्य के लिये संकल्पबद्ध होता हूं। मैं प्रत्येक स्थिति में समभाव रखूंगा, हर प्रकार के कष्ट, संकट और उपसर्ग को सम-भावपूर्वक सहन करूंगा। आपत्तियों के तूफानों में भी मेरी समता का नन्दादीप सदा-सर्वदा प्रज्वलित रहेगा। मैं अविचलित मन से साधना के इस आग्नेय पथ पर बढ़ता चलूंगा सिद्धि के अन्तिम द्वार तक—प्राणों के अन्तिम उच्छ्वास तक।[1]"

चारों ओर एक अजब शान्ति छाई हुई थी, दिशाएं मौन थीं, पवन जैसे स्थिर था, असंख्य देव-देवियाँ एवं अगणित नर-नारियाँ शान्त और उत्सुकता के साथ वर्धमान महावीर की साधना का दिव्य उद्घोष सुन रहे थे।

सहसा असंख्य-असंख्य कंठों से एक साथ घोष गूंज उठा—"श्रमण वर्धमान की जय!" असंख्य-असंख्य स्वरों में श्रद्धा ललक रही थी। श्रद्धा और औत्सुक्य के आवेग में हजारों नयन एक साथ बरसने लगे, हाथ स्वतः जुड़ गये, मस्तक महावीर के चरणों में झुक गये।

राजकुमार वर्धमान अब श्रमण वर्धमान महावीर बन गये। भोग में योग की साधना करने वाले अब कठोर योग मार्ग पर एकाकी चल पड़े।

दीक्षा के पवित्र संकल्प के साथ ही श्रमण महावीर को 'मनःपर्यव' ज्ञान की प्राप्ति हो गई जिसके द्वारा प्रत्येक समनस्क प्राणी के मनोभावों का बोध हो जाता।[2]

श्रमण महावीर के सशक्त कदम एकान्त वन की ओर बढ़ गये, श्रद्धा-पूत असंख्य-असंख्य आंखें उन्हें अपलक निहारती रह गईं। पवित्र आंसुओं ने उस महा तपस्वी को विदा दी। वे चल पड़े एकाकी—भवन से वन की ओर···· !

१ करेमि, सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि। —आवश्यक चूर्णि पृ० २६७

२ आचारांग २।२४।३३

तृतीयखण्ड

साधना के महापथ पर

श्रमण वर्धमान का साधक-जीवन—इस युग (अवसर्पिणीकाल) के श्रेष्ठतम साधक का जीवन था। उस जीवन की अनन्त गरिमा और असीम उच्चता को शब्दों की सीमा में बाँधना सागर की विशालता को भुजाओं द्वारा नापने जैसा बाल-प्रयत्न होगा। उस दिव्य-भव्य, शौर्य-सम्पन्न एवं संयमी जीवन की एक छोटी-सी झाँकी अगले पृष्ठों में पाठक को मिलेगी, पर उसमें पूर्णता का नहीं, कुछ अंशों का ही दर्शन होगा।

श्रमण महावीर के जीवन की समग्र-साधना को उपमा-अलंकार द्वारा व्यक्त करने का एक ऐतिहासिक प्रयत्न कल्प-सूत्र में किया गया है, उससे अधिक सुन्दर, भव्य और कलात्मक अभिव्यक्ति और कौन कर सकता है? अतः कल्प-सूत्र की इक्कीस अलंकृतियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं—

१ **कांस्यपात्र** की भांति उनका जीवन निर्लेप था।

२ **शंख** की भांति उनका हृदय निरंजन (नीराग-उज्ज्वल रागमुक्त) था।

३ **जीव** की भांति उनकी जीवनचर्या अप्रतिहत (बे-रोक) थी।

४ **आकाश** की भांति वे सदा पराश्रयरहित (स्वावलम्बी) थे।

५ **पवन** की भांति वे अप्रतिबद्धविहारी थे।

६ **शारदीयजल** – शरदऋतु के जल की भांति उनका अन्तःकरण निर्मल, स्वच्छ एवं सदा शीतलता-युक्त था।

७ **कमलपत्र** की भांति वे अलिप्त व अनासक्त रहते थे।

८ **कच्छप** की भांति वे जितेन्द्रिय एवं संयमी थे।

९ **गेंडे के सींग** की भांति वे सदा एकाकी (बाह्य एवं अन्तर दोनों दृष्टियों से ही) रहते थे।

१० **पक्षी** की भांति वे उन्मुक्त-विहारी थे।

११ **भारण्ड-पक्षी** की भांति साधना में सदा अप्रमत्त (जागरूक) रहते थे।

१२ **श्रेष्ठ हस्ती** की भांति वे संकटों में वीरता रखते थे।

१३ **वृषभ** की भांति दृढ़ पराक्रमी थे।

१४ **सिंह** की भांति दुर्धर्ष (कष्टों में घबरानेवाले नहीं) थे।

१५ **सुमेरुगिरि** की भांति परीषह-उपसर्गों में अविचल रहते थे।

१६ **सागर** की भांति सदा गम्भीर रहते थे।

१७ **चन्द्रमा** की भांति सदा सौम्य (अमृतवर्षी) थे।

१८ **सूर्य** की भांति तेजोदीप्त रहते थे।

१९ **स्वर्ण** की भांति मनोहर कांतियुक्त थे।

२० **पृथ्वी** की भांति सुख-दुख में समभावी थे।

२१ **अग्निशिखा** की भांति सदा ज्योतिर्मान (तेजस्वी) थे।

□

साधक जीवन

महावीर के साधक जीवन का यह उज्ज्वल अध्याय समता की साधना से प्रारम्भ हो कर समता की सिद्धि में परिसमाप्त होता है। इसकी वर्णमाला का प्रथम वर्ण 'अभय' से आरम्भ होकर धीरता, वीरता, समता, क्षमा की साधना के साथ 'ज्ञान' (केवलज्ञान) पर जाकर परिपूर्ण होता है। सम्पूर्ण जैन साहित्य में, समस्त तीर्थंकरों की साधना में महावीर की साधना का अध्याय एक अद्वितीय है, एक आश्चर्यकारी आभा से दीप्त है। इसका प्रत्येक पृष्ठ, प्रत्येक पंक्ति, प्रत्येक शब्द ध्वनिरहित होकर भी एक ऐसे नाद से गुंजित है, जिसमें समता, सहिष्णुता, क्षमा, अभय, धीरता-वीरता, संयम-समभाव, तपस्या, ध्यान, त्याग और वैराग्य का मधुर-मधुर नाद प्रतिक्षण, प्रतिपल गुंजायमान हो रहा है। उनके साधक-जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है—'अभय' और 'समभाव'। उपसर्गों के पहाड़ टूट-टूट कर गिरे, प्राकृतिक, मानवीय एवं दैविक उपद्रवों एवं संकटों के प्राणघातक तूफान प्रलय-काल की तरह पद-पद पर उमड़ते रहे। साढ़े बारह वर्ष के साधना-काल में जैसे हर पथ पर और हर कदम पर नुकीले विषभरे कांटे बिछाये गये थे। हर दिशा के हर प्रान्तर में दैत्यों के क्रूर अट्टहास हो रहे थे। सिंहों की दहाड़ें गूंज रही थी। अंगारे बरस रहे थे। तूफान मचल रहे थे। संकट, कष्ट और उपद्रव की आँधियाँ आ रही थीं। और महावीर अदम्य साहस, अपराजेय संकल्प और अनन्त आत्मबल के साथ उन कांटों को कुचलते चले गये, संकटों के बादलों को चीरते चले गये, आँधियों के सामने चट्टान बन कर डट गये और दैत्यों को अपनी दिव्यता से परास्त करते चले गये, अनन्त प्रकाश, अनन्त शान्ति और अनन्त आत्मसुख के उस अन्तिम छोर तक। उनका साधक-जीवन बड़ा ही रोमांचक, प्रेरक और शौर्यपूर्ण रहा है। आचार्य भद्रबाहु ने इसीलिये तो इस सत्य को मुक्त मन से उद्धृत किया है—"एक ओर तेबीस तीर्थंकरों के साधक जीवन के कष्ट और एक ओर अकेले महावीर के। तेबीस तीर्थंकरों की तुलना में भी महावीर का जीवन अधिक कष्ट-प्रवण, उपसर्गमय एवं तपःप्रधान रहा।"

भगवान महावीर के साधक-जीवन का वर्णन चरित्र-लेखक आचार्यों ने काल-क्रम से करने के लिये चातुर्मास-क्रम की संयोजना की है, और किस-किस चातुर्मास

में कौन-कौन सी घटनाएँ कहां-कहां घटित हुईं, इसका विस्तृत लेखा-जोखा भी दिया है। वर्णन की यह परिपाटी ऐतिहासिक जरूर हो सकती है, किन्तु इसमें महावीर की जीवन-कथा का स्वारस्य पाठक के हृदय को रसाप्लावित कम ही कर पाता है। रसधारा उस ग्रीष्मकालीन नदी-सी बहती है, जो कहीं कटि तक जल से भरी है तो कहीं एकदम शुष्क रेतीली। अतः हमारा प्रयत्न भगवान महावीर के साधक-जीवन को मात्र काल-क्रमानुसारी बनाने का न होकर घटनाओं की प्रेरकता, तेजस्विता और समरूपता को बनाये रखने का रहा है। जीवन के समस्त घटनाचक्र को शब्दायित करना भी हमें इष्ट नहीं, मात्र उसी रूप को देखना है, जिस रूप में महावीर की महावीरता, वीतरागता, समता और दयालुता आदि उदात्त वृत्तियाँ अपनी निर्मल ज्योति विखेर रही हैं, जिस दिव्य-स्वरूप का दर्शन कर मानवता धन्य-धन्य हो उठती है और उनके जीवन का प्रेरणांश हर जन को जिनत्व की ओर सम्प्रेरित करता है।

आर्यसुधर्मा की वाणी में

भ० महावीर की साधक-चर्या

भगवान महावीर के साधक-जीवन का प्राचीनतम वर्णन आचारांग सूत्र में प्राप्त होता है। उस वर्णन की शैली भी प्राचीन सूत्र-शैली जैसी नोट्स-प्रधान है। उसमें कथात्मकता कम, वर्णनात्मकता अधिक है। वर्णन में स्वारस्य, प्रवाह-पूर्णता एवं यथार्थता है। ऐसा लगता है जैसे आर्यसुधर्मा एक प्रत्यक्ष द्रष्टा के रूप में डायरी के पन्ने खोले बैठे हों। आर्यसुधर्मा ने भगवान महावीर की साढ़े बारह वर्ष की साधक-चर्या का वर्णन बड़ा ही सजीव, रसप्रद और हृदयस्पर्शी भाषा में किया है। उस शब्दावली के प्रत्येक शब्द में श्रमण भगवान् महावीर की रोमांचकारी कष्ट सहिष्णुता अपूर्व तितिक्षा, शरीर के प्रति व्युत्सर्गभाव, विदेहदशा तथा अनासक्ति, अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों में मुदित समभाव, तपस्या, अविचल ध्यानयोग एवं अन्तर्लीनता मुखरित हो रही है। पाठक के सामने महावीर की साधक-चर्या का एक सजीव चित्र उपस्थित हो जाता है। उक्त शब्दावली का कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

कठोर तितिक्षा

वर्धमान ने दीक्षा ली, उस समय उनके शरीर पर एक ही वस्त्र था।

उन्होंने तेरह मास तक उस वस्त्र को अपने कन्धे पर डाले रखा। दूसरे वर्ष आधी शरद्-ऋतु बीत चुकी, तब उस वस्त्र को त्यागकर वे सम्पूर्ण अचेलक अर्थात् अनावार हो गये। वे बाहुओं को सीधा नीचे फैलाकर विहार करते। ठंड से घबरा-कर कभी बाहुओं को समेटते नहीं, कन्धों से बाहुओं को सिकोड़ कर भी नहीं रखते।[१] शिशिर-ऋतु में जब पवन जोरों से सांय-सांय करता चलता, जब अन्य श्रमण-भिक्षु किसी छाये हुए स्थान की खोज करते, वस्त्र कंबल आदि लपेटना चाहते और तापस लकड़ियाँ जला कर शीत दूर करते—ऐसी दुःसह कड़कड़ाती सर्दी में भी वर्धमान खुले स्थान में बिना वस्त्र रहते और किसी प्रकार के बचाव की इच्छा तक नहीं करते। कभी-कभी तो शीतकाल में खुले में ध्यान करते।[२] नंगे बदन होने के कारण सर्दी-गर्मी के ही नहीं, पर दंस-मशक तथा अन्य कोमल-कठोर स्पर्श के अनेक कष्ट भी उन्हें झेलने पड़े।[३]

अनिकेत-चर्या

साहसी वर्धमान कभी निर्जन झोंपड़ों में, कभी धर्मशालाओं में, कभी पानी पीने की पोहों (प्याऊओं) में वास करते, तो कभी लुहार की शाला में, कभी मालियों के घरों में, कभी शहर में, कभी श्मशान में, कभी सूने घर में, तो कभी वृक्ष के नीचे रहते और कभी घास की गंजियों के नीचे रात्रि बिताते।[४] ऐसे-ऐसे स्थानों में रहते हुए वर्धमान को नाना प्रकार के उपसर्ग हुए। सर्प आदि जीव-जन्तु और गीध आदि पक्षी उन्हें काट खाते। दुराचारी मनुष्य उन्हें नाना प्रकार की यातना देते, गाँव के रखवाले उन्हें हथियारों से पीटते, विषयातुर स्त्रियाँ कामभोग के लिये सतातीं। इस तरह मनुष्य और तिर्यंचों के नाना प्रकार के दारुण, कठोर एवं कर्कश अनेक प्रकार के उपसर्ग उन पर आये। जार पुरुष उन्हें निर्जन स्थानों में देखकर चिढ़ते और पीटते तथा कभी उनका तिरस्कार कर उन्हें दूर चले जाने को कहते। मारने-पीटने पर भी भगवान् समाधि में तल्लीन रहते और चले जाने को कहने पर अन्यत्र चले जाते।[५]

क्षुधा विजयी

वर्धमान के भोजन-नियम बड़े कठिन थे। नीरोग होते हुए भी वे मिताहारी,

१ आचारांग सूत्र अ. ६।उ० १।गा० २२-२३
२ आचारांग ६।२।१३-१४-१५
३ वहीं ६।३।१
४ वहीं ६।२।२-३
५ वहीं ६।२।७-८

खान-पान में बड़े संयमी थे ।[1] मानापमान में समभाव रखते हुए घर-घर भिक्षाचर्या करते । कभी दीनभाव नहीं दिखाते थे । रसों में उन्हें आसक्ति न थी और रसयुक्त पदार्थों की कभी आकांक्षा नहीं करते थे ।[2] भिक्षा में रूखा-सूखा, ठंडा, बहुत दिनों के पुराने उरद का, पुराने धान या यवादि नीरस धान्य का जो भी आहार मिलता, उसे वे शान्तभाव से और सन्तोषपूर्वक ग्रहण करते । भिक्षा न मिलने पर भी वैसी शान्तमुद्रा और सन्तोष रखते । स्वादविजय उनका मुख्य लक्ष्य रहता । कई बार वे कोरे ओदन (चावल) मंथु और कुल्माष (बाकले) ही खाकर रहते ।[3]

शरीरव्युत्सर्ग तथा देहातीतभाव

शरीर के प्रति वर्धमान की निरीहता बड़ी रोमांचकारी थी । रोग उत्पन्न होने पर भी वे औषधि-सेवन की इच्छा नहीं करते थे । जुलाब, वमन, तेल-मर्दन, स्नान और दन्तप्रक्षालन को वे जरूरत नहीं रखते थे । आराम के लिए पगचंपी नहीं कराते थे । आँखों में रजकण गिर जाता तो वह भी उन्हें विचलित नहीं करता । ऐसी परिस्थिति में भी वे आँख नहीं खुजलाते थे ।[4] शरीर में खाज चलती तो उसे भी वे जीतते थे । इस तरह उन्होंने अपूर्व मनःसंयम और देह-दमन की साधना की । देह-वासना से वे सर्वथा मुक्त थे ।

निद्राविजय

श्रमण वर्धमान ने कभी पूरी नींद नहीं ली । उन्हें जब नींद अधिक सताती, तब वे बाहर निकलकर शीत में मुहूर्तभर चंक्रमण कर निद्रा पर विजय पा लेते थे ।[5] वे अपने को हमेशा जागृत रखने की चेष्टा करते रहते । ध्यानयोगी महावीर रात-दिन प्रत्येक क्षण जागृत रहते ।[6]

मौन, ध्यान एवं अकषाय भाव

उत्कुटुक, गोदोहिका, वीरासन आदि अनेक आसनों द्वारा वर्धमान निर्विकल्प ध्यान किया करते । कितनी ही बार ऐसा होता कि जब वे गृहस्थों की बस्ती में ठहरते, तो रूपवती स्त्रियां उनके शरीर-सौन्दर्य पर मुग्ध हो, उन्हें विषय-सेवन के

१ ओमोयरियं चाएइ अपुट्ठे भगवं रोगेहिं । —आचारांग ९।४।१

२ आचारांग ९।१।२०

३ वहीं ९।४।४

४ वहीं ९।१।२०

५ वही ९।२।५-६ । (बहिं चंकमिया मुहुत्तागं)

६ वही ९।२।२१ ।

लिए आमंत्रित करतीं। ऐसे अवसर पर भी वर्धमान आंख उठाकर देखते तक नहीं और अन्तर्मुख हो ध्यान में लीन हो जाते। गृहस्थों के साथ वे कोई संसर्ग नही रखते थे। ध्यानावस्था में कुछ पूछने पर उत्तर नहीं देते। वर्धमान अबहुवादी थे, अर्थात् अल्पभाषी जीवन बिताते थे। किसी के पूछने पर भी वे प्रायः मौन रहते।[1] वे शून्य खण्डहरों में ध्यान करते, तब कोई पूछता—**अयमंतरंसि को अत्थ**? यहां भीतर कौन है? तब वे इतना ही उत्तर देते—**अहमंसि ति भिक्खु—**मैं भिक्षु हूं।[2] सहे न जा सकें, ऐसे कटु व्यंग्यवचनों के सामने भी शान्तचित्त और मौन रहते। कोई गुणगान करता तो भी मौन और डण्डों से पीटता या केश खींचकर कष्ट देता, तो भी शान्त मौन। इस तरह वर्धमान निर्विकार, कषाय-रहित, निर्मल ध्यान और आत्म-चिंतन में समय बिताते।[3]

दृष्टियोग

विहार करते चलते समय वर्धमान आगे की पुरुष-प्रमाण भूमि पर दृष्टि डालते हुए चलते। अगल-बगल या पीछे की ओर नहीं ताकते थे, केवल सामने के ही मार्ग पर दृष्टि रख सावधानी पूर्वक चलते। रास्ते में उनसे कोई बोलना चाहता, तो भी नहीं बोलते थे।[4]

उग्र तपश्चरण

शीतकाल में श्रमण वर्धमान छाया में बैठकर ध्यान करते। गर्मी के दिनों में उत्कुटुक जैसे कठोर आसन लगा कर धूप में बैठकर ताप सहन करते।[5]

शरीरनिर्वाह के लिये सूखे भात, मंथु और उड़द का आहार करते। एक वार आठ महीनों तक वर्धमान इन्हीं चीजों पर रहे।

वर्धमान पन्द्रह-पन्द्रह दिन, महीने-महीने, छः-छः महीने तक जल नहीं पीते थे। उपवास में भी विहार करते। अन्न भी ठण्डा और वह भी तीन-तीन, चार-चार या पांच-पांच दिन के अन्तर से किया करते।[6]

चरम कोटि की अहिंसा एवं तितिक्षा

भगवान ने पल-पल अहिंसा और अनुपम तितिक्षाभाव की आराधना की। ऐसी घटनाओं का उल्लेख मिलता है कि भिक्षा के लिये जाते समय रास्ते में कबूतर

१ पुट्ठो विणाभिभासिसु —आचारांग ६।१।७
२ आचारांग ६।२।१२
३ वही ६।२।११-१२
४ वही ६।१।५
५ वही ६।४।५
६ वही ६।४।६

आदि पक्षी अनाज चुगते दिखाई देते तो वर्धमान दूर हट कर चले जाते, जिससे कि उन जीवों के चुगने में विघ्न उपस्थित न हो। यदि किसी घर में ब्राह्मण, श्रमण, भिखारी, अतिथि, चाण्डाल, बिल्ली या कुत्तों को कुछ पाने की आशा में या याचना करते हुये खड़े देखते, तो उनकी आजीविका में कहीं बाधा न पहुंचे, इस आशय से वे दूर से ही निकल जाते। किसी के मन में द्वेषभाव उत्पन्न होने का वे मौका ही नहीं आने देते थे।[१]

दुर्गम विहारचर्या

भगवान ने दुर्गम्य लाढ़ देश की वज्रभूमि और शुभ्रभूमि दोनों—पर विचरण किया। वहां उन पर अनेक विपदायें आयीं। वहां के लोग भगवान को पीटा करते। उन्हें खाने को रूखा-सूखा आहार मिलता। उतरने के लिये असुविधाजनक स्थान मिलते, उन्हें कुत्ते चारों ओर से घेर लेते और कष्ट देते। ऐसे अवसरों पर ऐसे लोग विरले ही होते, जो कुत्तों से उनकी रक्षा करते। अधिकांश तो उलटा भगवान को ही पीटते और ऊपर से कुत्ते लगा देते। ऐसे विकट विहार में भी अन्य साधुओं की तरह श्रमण भगवान ने कभी दण्डादि का प्रयोग नहीं किया। दुष्ट लोगों के दुर्वचनों को वर्धमान बड़े क्षमाभाव से सहन करते।[२]

कभी-कभी तो ऐसा होता कि चलते रहने पर भी वर्धमान गांव के निकट नहीं पहुंच पाते थे; ज्यों ही वे गांव के नजदीक पहुंचते, त्यों ही अनार्य लोग उन्हें पीटते और कहते—"तू यहां से चला जा।"

कितनी ही बार अनार्यदेश के लोगों ने लकड़ियों, मुट्ठियों, भाले की नोंकों, पत्थरों तथा हड्डियों के खप्परों से पीट-पीट कर उनके शरीर में घाव कर दिये।[३]

जब वे ध्यान में होते, तो दुष्ट लोग उनके मांस को नोंच लेते, उन पर धूल डाल कर चले जाते। उन्हें ऊंचा उठाकर नीचे पटक देते, उन्हें आसन पर से नीचे ढकेल देते। कुछ लोग उनका मजाक करते।[४]

श्रमण वर्धमान साधना-काल में इस प्रकार कठोर तितिक्षा एवं समता से परिपूर्ण तथा सतत जागरूक जीवन जीते रहे। उनके ध्यान-योग की निर्मल धारा साढ़े बारह वर्ष तक निरन्तर प्रवहमान रही।

१ आचारांग ९।४।९-१२
२ आचारांग ९।३।७
३ वही ९।३।१०
४ वही ९।३।१२

सब कुछ दे डाला

सूर्य जब यात्रा के अन्तिम पड़ाव पर पहुंच रहा था, तब श्रमण वर्धमान की यात्रा का प्रथम पड़ाव प्रारम्भ हुआ। ज्ञातखण्ड वन से जैसे ही वे आगे बढ़े, एक दीन स्वर पीछे से पुकारता हुआ सुनाई पड़ा। कुछ ही क्षणों में एक कृशकाय, दीन व्यक्ति उनके चरणों में आ गिरा। यह था महाराज सिद्धार्थ का परिचित सोम ब्राह्मण! आंसुओं की धारा से वह गीला हो रहा था, कातरस्वर में कहा—'राजकुमार! आपने वर्षभर महामेघ की तरह असंख्य मणि-मुक्ता-स्वर्ण की वृष्टि की। समस्त जनपद की दरिद्रता धो डाली, मैं ही एक ऐसा अभागा रह गया; जिसे तुम्हारे हाथ का एक दाना भी नहीं मिल पाया। कल्पवृक्ष की छाया में बैठ कर भी दरिद्रता से मेरा पिण्ड नहीं छूटा; मेरे बच्चे दाने-दाने को तरस रहे हैं। दरिद्रता से पीड़ित ब्राह्मणी मुझे चिमटे से मार कर भिक्षाटन के लिये बाहर भगा देती है। गाँव-गाँव, दर-दर भटकता हुआ मैं अब आपके चरणों में आ पहुंचा हूं। प्रभो! मेरी दरिद्रता दूर कर दो।" दीन ब्राह्मण महावीर के चरणों से लिपट गया और उन्हें आंसुओं से भिगोने लगा।

श्रमण महावीर ने कहा—"विप्रदेव! अब तो मैं सब कुछ त्याग चुका हूं, अकिंचन-निष्कंचन हूं। तुम्हें देने जैसा कुछ भी मेरे पास नहीं है।"

ब्राह्मण ने फिर भी प्रभु के पांव नहीं छोड़े और बार-बार कंधे पर हवा में लहराते देवदूष्य की ओर देखने लगा, जैसे कह रहा हो—और कुछ नहीं तो यही दे दो।

परम उदारचेता महावीर प्रभु ने देवदूष्य का एक पट[1] ब्राह्मण के हाथों में थमा दिया। ब्राह्मण को जैसे कुबेर का खजाना मिल गया, वह खुशियों से नाचता हुआ उस पट को लेकर घर गया। उसकी सारी दरिद्रता घुल गयी।

अकिंचन होते हुये भी महावीर का मन कितना उदार था कि जो एक वस्त्र पट पास में था, उसका भी आधा भाग, उन्होंने एक दीन याचक को दे डाला।

इस वस्त्र खण्ड (एक पट) को ठीक कराने के लिये ब्राह्मण एक रफूगर के पास गया तो उसने पूछा—"यह अमूल्य देवदूष्य तुझे कहां मिला?' ब्राह्मण ने सही बात बताई। रफूगर ने कहा—"इसका आधा पट और ले आओ तो सम्पूर्ण वस्त्र को जोड़कर पूर्ण शाल तैयार कर दूं।" वस्त्र का लोभी ब्राह्मण फिर भगवान महावीर के पीछे दौड़ा। इस बार उसे मांगने की हिम्मत नहीं हुई, किन्तु बराबर तेरह मास

१ दुपट्टे या दुशाले की भाँति इस देवदूष्य के भी दो पट (खण्ड) थे—ऐसा प्रतीत होता है।

पीछे-पीछे घूमता रहा। एक दिन वह वस्त्र भगवान महावीर के कन्धे से नीचे गिर पड़ा। भगवान ने पीछे मुड़ कर भी नहीं देखा, तब ब्राह्मण वह वस्त्र उठाकर ले आया और रफू कराकर महाराज नन्दीवर्धन को उसने लाख दिनार में बेच दिया।[1]

स्वावलम्बी महावीर

जन्मभूमि एवं स्वजनों से अन्तिम विदा लेकर श्रमण महावीर ज्ञातखण्ड से आगे चल पड़े थे। मुहूर्तभर दिन शेष रहते-रहते वे कर्मारग्राम की सीमा में पहुंच गये।

सध्या का झुरमुटा था, एक ग्वाला अपने बैलों को लेकर उधर आया। दिन भर खेतों में काम करने से वह बहुत थक गया था, गांव में उसे गायें दुहने के लिये जाना था। बैल कहां छोड़ें ? वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ महावीर दिखाई दिये। उसने श्रमण महावीर को पुकारते हुये कहा —"बाबा ! बैलों की तरफ जरा देखना, मैं अभी आ रहा हूं।"

कार्य से निवृत्त हो ग्वाला लौटा, देखा तो बैल गायब ! उसने ध्यानस्थ श्रमण महावीर से पूछा—"देवार्य ? मेरे बैल कहां गये ?"

महावीर पाषाण-प्रतिमा की भांति मौन खड़े थे। कुछ भी उत्तर न पाकर ग्वाला बैलों को खोजने इधर-उधर गया। वह रात भर भटकता रहा, बैल नहीं मिले। पौ फटने का समय हुआ, वह थक कर चूर-चूर हो गया था, निराश हो कर जैसे ही वापस वह महावीर के निकट आया तो बैलों को वहीं पास में बैठे जुगाली करते देखा।

ग्वाले को महावीर पर बड़ा क्रोध आया—"अरे धूर्त ! जानते हुये भी तूने मुझे बैल नहीं बताये और रातभर जंगल में चक्कर कटाये ! साधु होकर भी तुम इतने धूर्त !" क्रोध में वह आपा भूल गया और बैलों को मारने के बजाय, रास लेकर महावीर पर ही टूट पड़ा।

ग्वाले का क्रोधावेश में उठा हाथ ऊपर का ऊपर ही रह गया, उसके पांव भूमि में जैसे गड़ गये। महावीर के तपस्तेज से वह स्तब्ध हो गया। तभी महावीर के भक्त इन्द्र ने उसे ललकारते हुये कहा—"दुष्ट ! तूझे होश भी नहीं, किस पर हाथ उठा रहा है ? यह तेरे बैलों के चोर नहीं, राजा सिद्धार्थ के पुत्र राजकुमार वर्धमान हैं। घरबार छोड़कर साधना करने निकल चले हैं- एकाकी !"

---

1 घटना वर्ष वि० पू० ५१२। वर्णन—त्रिषष्टि० १०।३ तथा महावीर चरियं (गुणचन्द्र)

ग्वाले ने गिड़गिड़ा कर क्षमा मांगी, देवार्य के चरणों में गिरा। देवार्य तो अब भी मौन थे अन्तर्लीन ! **अप्पा अप्पम्मिरओ**—स्वयं अपने भीतर में रमण कर रहे थे।

इन्द्र ने प्रभु की वन्दना, संस्तुति कर प्रार्थना की—"प्रभो ! ऐसे हजारों अज्ञान पुरुष जो आपके साधना-मार्ग से अपरिचित हैं, आपको भयंकर कष्ट देंगे, विविध सन्त्रास व उपसर्गों से उत्पीड़ित करेंगे, अतः मुझे स्वीकृति दीजिये कि मैं देवार्य की सेवा में रहकर आगत कष्टों का निवारण कर कृतार्थ होता रहूँ।"

इन्द्र की प्रार्थना सुन कर श्रमण महावीर बोले—"देवराज ! ऐसा कभी नहीं हुआ और न कभी होगा, अर्हन्त किसी देवेन्द्र, असुरेन्द्र आदि किसी पर-बल के सहारे साधना कर केवलज्ञान प्राप्त करें। साधना तो स्वयं के बल वीर्य एवं पुरुषार्थ के सहारे ही होती है और स्व-बल पर चलनेवाला साधक ही केवलज्ञान एवं निर्वाण-सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।"

स्वावलम्बन एवं पुरुषार्थ की इस दिव्य घोषणा के समक्ष देवराज विनत हो गये। शायद पहली बार उन्होंने देखा—साधकों के आत्मबल के समक्ष देवराज और स्वर्ग की असीम शक्तियां भी पानी भरती हैं।[1]

विदेहभाव

भगवान महावीर में चरम कोटि की अनासक्ति थी। वे जिस दिन प्रव्रजित हुये, उसी दिन से उन्होंने एक प्रकार से शरीर को छोड़ दिया था। आर्यसुधर्मा के शब्दों में—"**वोसट्ठ चत्तदेहे**" मानो शरीर को व्युत्सर्ग ही कर दिया था। वे अपने ध्येय के प्रति निछावर हो गये थे। शरीर पर क्या बीतती है, कौन प्रहार करता है कौन काटता है और कौन अर्चना करता है ? इसका विकल्प भी कभी उनके मन में नहीं उठा। देह में देहातीत—विदेहदशा में विचरने वाले परम अनासक्त साधक थे वे।

दीक्षा के प्रसंग पर वर्धमान के शरीर पर नाना प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों का विलेपन किया गया था। पवन जब शरीर से स्पृष्ट हो कर बहता तो एक भीनी सुगन्ध से पूरित हो जाता था। इस सुगन्ध से आकृष्ट होकर भ्रमर आदि जन्तु शरीर पर मंडराते, उनके शरीर के मांस को नोचते, काटते और लहू पीते, पर श्रमण

१ (क) घटना वर्ष वि० पू० ५१२। (ख) त्रिषष्टि० १०।३

वर्धमान ने कभी उन्हें दूर हटाने की इच्छा तक नहीं की, वे सदा अनाकुल एवं देहाध्यास से मुक्त रहे। लगभग चार मास तक उन्हें यह वेदना सहनी पड़ी।

अनेक मनचले युवक-युवतियां उनके निकट आते, शरीर से फूटती फूलों की मधुर महक को देखकर मुग्ध हो उनके पीछे-पीछे घूमते, उनके देवोपम सहज सौन्दर्य पर मुग्ध युवतियां शरीर-स्पर्श करने की चेष्टा करतीं, करुण काम-याचनाएँ करतीं, हाव-भाव एवं विकार पूर्ण भ्रूभंगिमाओं के द्वारा महावीर के मन को चचल बनाने की चेष्टाएं करतीं और जब वे अपने प्रयत्न में असफल हो जातीं तो तीखी झुंझलाहट के साथ उन्हें उत्पीड़ित करने लगतीं, कभी-कभी उन पर प्रहार भी करने लगतीं। महावीर दोनों ही स्थितियों में स्थिर व देहभाव से मुक्त रहते।[1]

अप्रतिबद्ध विहारी

कर्मारग्राम से विहार कर भगवान कोल्लागसन्निवेश में गये, छट्ठ तप का पारणा कर फिर आगे चल पड़े। इस दीर्घयात्रा में रुकना तो कहीं था ही नहीं। चलते-चलते प्रभु मोराकसन्निवेश के बाहर एक आश्रम में पहुंच गये। यह आश्रम दुईज्जंतक नामक तापसों का था और वहां का कुलपति महाराज सिद्धार्थ का मित्र था। श्रमण महावीर को आश्रम की ओर आते देखकर कुलपति ने उन्हें पहचान लिया। प्रसन्न होकर वह उठा और महावीर का स्वागत किया। हाथ बढ़ा कर महावीर ने भी पूर्व परिचय प्रदर्शित किया। दूसरे दिन जब महावीर आगे चलने को हुए तो आश्चर्यचकित कुलपति ने कहा—"कुमार! यह क्या? कुछ समय तक तो यहां ठहरते। यह आश्रम किसी दूसरे का नहीं, अपना ही समझिये।"

महावीर तो अनगार थे, अपनी आत्मा के सिवाय उनका अपना कहीं कुछ था ही नहीं। फिर वे ठहरे एकान्तप्रिय, पूर्व-परिचय-त्यागी! रुकने का आग्रह जब स्वीकार नहीं किया तो कुलपति ने कहा "खैर, अभी न रुकें तो कोई बात नहीं, किन्तु आगामी वर्षावास तो यहीं बिताना होगा, मेरा हार्दिक आग्रह है।"

स्वीकृति-सूचक संकेत देकर महावीर आगे चल पड़े। शीत एवं उष्ण-ऋतु के लगभग सात मास छोटे-छोटे गांवों, जंगलों एवं खण्डहरों में बिताकर वर्षावास के लिये पुनः दुईज्जंतक आश्रम में आ गये। कुलपति ने स्नेहपूर्वक महावीर को एक झोंपड़े में ठहरा दिया।

१ घटना वं० वि० पू० ५१२। आचारांग ६।२

आश्रम में अन्य भी अनेक तापस अलग-अलग झोंपड़ों में रहते थे। महावीर की कठोर चर्या और सतत ध्यानलीनता उनके लिये बड़ी आश्चर्यजनक तथा रुक्ष साधना थी। वे महावीर को कुछ विचित्र दृष्टि से देख रहे थे, इसी बीच एक घटना घटी।

उस प्रदेश में दूर-दूर तक अकाल की छाया मंडराई हुई थी। वर्षा बहुत कम हुई थी। इस कारण घास-फूस भी नहीं उगा था। भूखे-प्यासे पशु आश्रम की झोंपड़ियों का घास उखाड़ने लगे। आश्रमवासी तापस दण्ड लेकर इधर-उधर घूमते और अपनी-अपनी झोंपड़ी की रक्षा करते। उस आश्रम में महावीर ही एक ऐसे थे जो सतत ध्यान में खड़े रहते, उन्हें अपनी देहरक्षा का भी कोई विकल्प नहीं था, तब झोंपड़ी की रक्षा वे कैसे करते ?

महावीर की यह परम निवृत्ति, उपेक्षावृत्ति आश्रमवासियों की आंखों में चुभने लगी। शायद वे सोचने लगे—यह तपस्वी स्वयं को परमहंस प्रदर्शित कर हम सब को निम्नकोटि का जताना चाहता है, कुछ भी हो, महावीर की इस उत्कृष्ट उपेक्षावृत्ति से वे क्षुब्ध हो गये, कई बार मन-ही-मन बड़बड़ाते —महावीर को संकेत कर कहते—"गायें झोंपड़ों को खा रही हैं, आप किस ध्यान में लीन हैं ?" महावीर ने उनके बड़बड़ाने पर कभी ध्यान नहीं दिया। तब वे कुलपति के पास शिकायत लेकर पहुंचे— 'आपने किस औघड़ को आश्रम में ठहरा दिया है। हम गायों को भगाते दिनभर परेशान होते हैं और वह कभी अपनी झोंपड़ी की रक्षा के लिये एक हांक भी नहीं मारता, इस तपस्वी की लापरवाही के कारण गायों का झुण्ड बार-बार उधर घुस आता है और आश्रम की झोंपड़ियों पर टूट पड़ता है, हमारी नाक में दम आ गया है, उसकी झोंपड़ी बचाते-बचाते।"

एक दिन कुलपति स्वयं महावीर के निकट आया और कहा—"कुमार ! यह क्या ? एक पक्षी भी अपने घोंसले के लिये जी-जान लगा देता है, तुम क्षत्रियपुत्र होकर भी अपने आश्रय-स्थान की रक्षा नहीं कर सकते ?'

आश्रमवासियों की वृत्ति और कुलपति के कथन ने महावीर के मन को झकझोर डाला। जिसने देह का मांस और खून खींचते भ्रमर आदि कीट-पतंगों को भी नहीं उड़ाया; उसे झोंपड़ी की रक्षा का उपदेश कितना हास्यास्पद था। महावीर को लगा—उनकी उपस्थिति आश्रमवासियों की अप्रीति का कारण बन रही है। सबका प्रेम-क्षेम चाहने वाले, मृगराज की भांति मन-इच्छित विहार करने वाले महावीर को वहां रहना इष्ट नहीं लगा। वर्षाकाल के पन्द्रह दिन बीत जाने पर

भी महावीर वहाँ से प्रस्थान करके कहीं अन्यत्र चले गये। उनकी अनगार-वृत्ति का यह उत्कृष्ट आदर्श था।

आश्रमवासियों की वृत्तियों से भगवान महावीर को जो कटु अनुभव हुये, उन्हें ध्यान में रखकर उन्होंने भविष्य के लिए पाँच प्रतिज्ञायें कीं—

१ भविष्य में अप्रीतिकारक स्थान में नहीं रहूँगा।
२ ध्यान में सतत लीन रहूँगा।
३ सदा मौन रहूँगा।
४ हाथ में ग्रहण करके भोजन करूँगा।
५ गृहस्थ का विनय नहीं करूँगा।[1]

अभय की उत्कृष्ट साधना

प्रेम-क्षेमदर्शी महावीर दुईज्जंतक आश्रम से विहार कर निकट के एक छोटे-से 'अस्थिक ग्राम' में आये। आसपास का वातावरण बड़ा ही भयावह व हृदय को कंपा देने वाला था। गाँव के बाहर एक टेकरी पर शूलपाणि यक्ष का मन्दिर था। एकान्त स्थान देखकर महावीर ने वहाँ ठहरने के लिये ग्रामवासियों से अनुमति माँगी। महावीर की दिव्य सौम्य आकृति देखकर लोगों का हृदय द्रवित हो गया, वे बोले—"देवार्य! आप अन्यत्र कहीं ठहर जाइये। यह शूलपाणि दैत्य का चैत्य है, यक्ष बड़ा ही क्रूर है, रात में किसी भी मनुष्य को यहाँ ठहरने नहीं देता। यदि कोई ठहरने की चेष्टा भी करता है तो बस उसे खत्म कर डालता है। इसलिये ऐसे भय-भैरव स्थान पर आपका ठहरना उपयुक्त नहीं होगा।"

स्थान की भयानकता और यक्ष की क्रूरता-दुष्टता की गाथा सुनकर महावीर का संकल्प और दृढ़ हो गया, वे बोले—"आप लोग अनुमति दें तो मैं यहीं ठहरना चाहता हूं।"

लोगों को हँसी आई। फिर लगा इस भोले तपस्वी को अभी शूलपाणि यक्ष की क्रूरता का पता नहीं है। वे कहने लगे—"देवार्य! आप जिस चैत्य में ठहरना चाहते हैं उसके पूर्व वृत्त का पता है आपको? इसी यक्ष ने इस गाँव को श्मशान बना दिया था। जहाँ हम खड़े हैं, वहाँ हजारों नर-कंकाल पड़े सड़ते

1 घटनावर्ष वि० पू० ५११। —त्रिषष्टि० १०।३।

थे। जिन पर गिद्ध मंडराया करते थे। भूल एक प्रकार से ग्रामवासियों की ही थी; किन्तु इस भूल का भयंकर परिणाम हजारों मनुष्यों की मृत्यु के रूप में आया।"

महावीर को क्षणभर रुका देखकर गाँव के एक वृद्ध पुरुष ने बताया—"किसी समय में यह वर्धमान नाम का सुन्दर नगर था। इसके बाहर वेगवती नाम की नदी बहती थी। गर्मियों में नदी का पानी सूख जाता और गहरा कीचड़ हो जाता। एक बार धनदेव नाम का कोई व्यापारी पाँच सौ गाड़ियाँ लेकर यहाँ आया। नदी पार करते समय उसकी गाड़ियाँ कीचड़ में फँस गईं, बैल उन्हें खींच नहीं सके। तब व्यापारी ने बैलों को खोल दिया। उसके पास एक बैल था, बड़ा ही बलवान, पुष्ट स्कन्धोंवाला, सफेद हाथी जैसा। उस एक ही बैल ने धीरे-धीरे पाँच सौ गाड़ियों को खींचकर किनारे लगा दिया। पर, इस अत्यधिक श्रम से बैल का दम टूट गया, उसके मुँह से रक्त बहने लगा, और वह भूमि पर गिर पड़ा। अनेक प्रयत्न करने पर भी बैल फिर से खड़ा नहीं हो सका। तब व्यापारी ने गाँव के लोगों को बुलाया और वहाँ अधिक रुकने में अपनी असमर्थता जताकर बैल की सेवा-परिचर्या करने के लिए एक बड़ी धनराशि यहाँ दे गया।

गाँव के लोगों ने व्यापारी से बैल की सेवा के लिए धन तो ले लिया, पर बेचारे बैल की कभी किसी ने संभाल नहीं की। सारा धन हजम कर गये। उधर भूखे-प्यासे संतप्त बैल ने एक दिन दम तोड़ दिया। वही बैल मरकर शूलपाणि यक्ष बना। गाँव के लोगों द्वारा की गई अपनी दुर्दशा को देखकर वह क्रुद्ध हो उठा, और महाकाल बनकर बरस पड़ा। उसने घर-घर में रोग, पीड़ा, त्रास एवं भय का आतंक फैला दिया। सैकड़ों प्राणी मृत्यु के मुख में जाने लगे। लोगों ने अनेकों देव-यक्ष-असुर, गंधर्व आदि की पूजा की; मगर गाँव का आतंक नहीं मिटा। घबराकर लोग गाँव छोड़कर भाग गये। तब भी उसने पिण्ड नहीं छोड़ा। वे पुन: गाँव में लौटकर आये और नगर-देवता को बलि देकर सबने क्षमा मांगी 'हमारा अपराध क्षमा करिये! हम आपकी शरण में हैं, जो कुछ भी हमारी भूल हुई है, उसे प्रकट कीजिये।"

तब यक्ष ने पूर्व-परिचय देकर, अपने साथ किये गये दुर्व्यवहार की बात कही और लोगों को खूब आड़े हाथों लिया। भय-ग्रस्त गाँववासियों ने पुन:-पुन: क्षमा माँगी और उसकी पूजा की। यक्ष के कहे अनुसार उन्हीं हड्डियों के ढेर पर उसका यह चैत्य बनाया गया। यहाँ प्रतिदिन इसकी पूजा की जाती है।

इस घटना को सुनाते हुये भी गाँववासी जहां भय से काँप रहे थे, वहाँ महावीर अभय की साक्षात्मूर्ति बने प्रसन्नभाव से उसी यक्ष-मन्दिर में ठहरने की

स्वीकृति माँग रहे थे। उन्हें लग रहा था, इस भय-भैरव स्थान में अभय की उत्कृष्ट साधना तो होगी ही, साथ ही उस क्रूर यक्ष का भी उद्धार हो सकता है। इस प्रकार एक पथ, दो काज सिद्ध हो सकते हैं। महावीर को सब कुछ जान लेने पर भी अविचल एवं मुदित देखकर गाँववासियों ने कहा—"इस पर भी देवार्य मृत्यु को सिर पर लेकर ठहरना चाहें तो हम मना नहीं करते।"

महावीर प्रसन्नतापूर्वक यक्षमन्दिर में प्रविष्ट हुए तथा एक शुद्ध स्थान देखकर एकाग्र ध्यान-मुद्रा में स्थिर हो गए।

जैसे ही अन्धकार की काली चादर पृथ्वी पर फैली, शूलपाणि यक्ष हुंकारता हुआ अपने स्थान पर आया। एक अज्ञात मनुष्य को अपने स्थान पर निर्भय खड़ा देखकर वह आग-बबूला हो गया। पहले उसने एक भयंकर हुंकार की। दिशायें काँप गईं, दीवारें गूँज उठीं, पर महावीर का एक रोम भी चलायमान नहीं हुआ। यह देखकर यक्ष के क्रोध में ज्वार आ गया—"यह धृष्ट मानव मेरी शक्ति का अनादर करने, मुझे चुनौती देने यहाँ आया है, तो इसे धृष्टता का, इस दुःसाहस का मजा भली-भाँति चखा देना चाहिये।" और प्रलयकाल के तूफान की तरह उफनता हुआ शूलपाणि भयंकर अट्टहास कर रौद्र नृत्य करने लगा। उसके हाथों में भयकर शूल चमक रहा था बिजली की भाँति। यह भयावह काल-रात्रि! प्राणों को डसने वाली अपार शून्यता! साँय-साँय करता हुआ खण्डहरों का निर्जन एकान्त! पहले ही भयानक था। यक्ष के रौद्र अट्टहास से तो भय की घनघोर वृष्टि होने लगी। सामान्य मनुष्य के तो प्राण वहीं घुट जाते, पर अभय के देवता महावीर सहस्रपल की प्रस्तर-प्रतिमा की भाँति अविचल, अकंपित खड़े रहे, नासाग्र पर दृष्टि स्थिर किये। जिसके अन्तर्तम में अचल आत्म-श्रद्धा जग गई हो, उसे वध, बन्धन, भय, शोक, वेदना और प्रलोभन के द्वन्द्व क्या कभी चंचल बना सकते हैं?

महावीर की स्थिरता से खीझा हुआ यक्ष मदोन्मत्त हाथी की तरह विफर गया। पिशाचों की सेना खड़ी कर क्रूर अट्टहास के साथ महाकाल का रौद्र नृत्य करने लगा, शेषनाग की तरह विष उगलती तूफानी फुंकारें भरने लगा। विचित्र-विचित्र रूप धारण कर महावीर को उत्पीड़ित करने लगा। कभी मदोन्मत्त हाथी की भाँति पैरों से रौंदता, कभी गेंद की तरह आकाश में उछालता, कभी बिच्छू की की तरह तीव्र जहरीले डंक मारता, कभी शिकारी कुत्तों की तरह मांस नोंच डालता और कभी जहरीली चींटियों की भांति पूरे शरीर को काट डालने की चेष्टा करता। यक्ष ने सोचा होगा—इन प्राणान्तक पीड़ाओं से शायद महावीर तिलमिला उठेंगे, पर हुआ उल्टा ही। महावीर स्थिर रहे और हार खाया हुआ यक्ष दांत पीस कर रह

गया। उसने अपने अन्तस् की सम्पूर्ण दुष्टता और क्रूरता को खींचकर महावीर पर उंडेल दिया, महावीर फिर भी स्थिर रहे, तो दैत्य की धृष्टता का नशा उतर गया, उसका विश्वास टूट गया, वह महावीर के समक्ष हार गया। जैसे विषधर पत्थर पर फन मार-मार कर निर्वीर्य हो जाता है, आग पानी से लड़-लड़ कर निस्तेज हो जाती है, वैसे ही दुष्टता आज साधुता से भिड़-भिड़ कर निष्प्राण हो गई। शूलपाणि यक्ष पुष्पपाणि महावीर के समक्ष हतप्रभ हो गया। उसका अज्ञान, द्वेष और वासना से दूषित चित्त अपने आप पर घृणा करने लगा। वह प्रभु महावीर के अनन्त सामर्थ्य, अक्षय-असीम धैर्य और उत्कट अभयवृत्ति के समक्ष विनत होकर क्षमा मांगने लगा—"देवार्य! आपका बल-वीर्य अद्वितीय है, आपका सामर्थ्य अनन्त है, आपकी साधुता असीम है। लगता है मेरी क्रूरता को जीतने के लिये ही आज आपकी समता का अक्षय सागर उमड़ आया है। प्रभो! मैं हार गया, मेरी दुष्टता, दानवता क्षमा चाहती है। आप कौन हैं, परिचय दीजिये और मुझ पापात्मा का भी उद्धार कीजिये।"

कहा जाता है, आत्मग्लानि से आत्मबोध का उदय हो जाता है। सचमुच शूलपाणि के सम्बन्ध में ऐसा ही हुआ। सिद्धार्थ नामक यक्ष, जो शायद अब तक इस दुष्टता और साधुता, भय और अभय के द्वन्द्व को चुपचाप देखता रहा होगा, प्रकट होकर बोला—"शूलपाणि, क्या तुम नहीं जानते, ये राजा सिद्धार्थ के पुत्र श्रमण वर्धमान हैं, ये ही हैं इस युग के अन्तिम तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर।"

शूलपाणि की आंखों में जैसे ज्योति जगमगा उठी। एक ओर पश्चाताप, दूसरी ओर अपार हर्ष के आवेग में वह नाच उठा, लोहे को जैसे पारस का स्पर्श हो गया, महाप्रभु के चरणों के स्पर्श से शूलपाणि यक्ष में भक्ति एवं स्नेह की लहर उमड़ पड़ी। दिल दहलाने वाले अट्टहासों के स्थान पर अब मधुर संगीत की भक्तिपूर्ण स्वर-लहरियां गूंजने लगीं। शान्त रात्रि के अन्तिम पहर में शीतल पवन के साथ बहता हुआ मधुर संगीत चारों दिशाओं में जैसे माधुर्य, भक्ति, प्रेम और करुणा का रस बहाने लगा।

प्रथम रात्रि के अट्टहासों से भयभीत ग्रामवासियों ने जब रात्रि के अन्तिम पहर में मधुर संगीत की ध्वनियां सुनीं तो अतीव आश्चर्य में डूब गये। उन्हें लगा, दुष्ट यक्ष ने देवार्य की हत्या कर डाली है और अपनी विजय पर खुशियां मना रहा है।

इस अपूर्व संघर्ष में शारीरिक एवं मानसिक श्रम के कारण श्लथ महावीर

की आंखों में भी नींद की क्षणिक झपकी आ गई और उसी झपकी में उन्होंने दस स्वप्न भी देखे।[1]

प्रातःकाल ग्रामवासी आये और यक्ष को अत्यन्त भक्ति के साथ प्रभु की उपासना करते देखा तो सबके विस्मय का ठिकाना नहीं रहा। यक्ष ने समस्त ग्रामवासियों को आज से सदा-सदा के लिये अभयदान दे दिया। पूरा ग्राम प्रभु की भक्ति में लीन हो गया। वहां उपस्थित उत्पल नामक नैमित्तक ने लोगों को प्रभु के द्वारा देखे गये स्वप्नों का यथार्थ अर्थ भी स्पष्ट कर बताया कि श्रमण महावीर इस युग के अन्तिम तीर्थंकर होने वाले हैं।[2]

---

१ श्रमण महावीर द्वारा देखे गये दस स्वप्न और उनका फलितार्थ :—

श्रमण महावीर के १० स्वप्न	उत्पल द्वारा कथित फल
१ अपने हाथ से ताल पिशाच को मारना।	१ आप मोहनीय कर्म का शीघ्र नाश करेंगे।
२ सेवा में रत श्वेतपक्षी (पुंस्कोकिल)।	२ आप शुक्लध्यान में लीन रहेंगे।
३ सेवारत चित्रकोकिल पक्षी।	३ विविध ज्ञानमय द्वादशांगी की प्ररूपणा करेंगे।
४ दो सुगन्धित पुष्पमालाएं।	४ उत्पल नहीं समझ पाया, अतः महावीर ने ही स्पष्ट किया "मैं साधुधर्म एवं श्रावकधर्म—यों दो प्रकार के धर्म की प्ररूपणा करूंगा।"
५ सेवा में उपस्थित श्वेत गो वर्ग।	५ श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ आपकी सेवा में रहेगा।
६ पुष्पित कमलों वाला पद्म-सरोवर।	६ चतुर्विध देव सेवा करते रहेंगे।
७ महासमुद्र को भुजाओं से पार करना।	७ संसार-समुद्र को पार करेंगे।
८ जाज्वल्यमान सूर्य का आलोक चारों ओर फैल रहा है।	८ केवलज्ञान शीघ्र प्राप्त करेंगे।
९ अपनी अंतड़ियों से मानुषोत्तर पर्वत को आवेष्टित करना।	९ सम्पूर्ण लोक को अपने निर्मल यश से व्याप्त करेंगे।
१० मेरुपर्वत पर चढ़ना।	१० सिंहासन पर विराजमान होकर धर्म-प्रज्ञापना करेंगे।

२ घटना वर्ष वि० पू० ५१०। त्रिपष्टि० १०।३

पर-दुःखकातर महावीर

धीरता-वीरता की मूर्ति महावीर ने चातुर्मास पूर्ण कर अस्थिक ग्राम से वाचाला की ओर प्रस्थान किया। बीच में पड़ता था मोराकसन्निवेश। वहाँ एक छोटा-सा उजड़ा हुआ उद्यान था। महावीर ने एकान्त देखकर वहीं पर कुछ दिन ध्यान करने का निश्चय किया।

गांव के भद्र-प्रकृति एवं साधुताप्रेमी लोगों ने जब शिशिर-ऋतु की कड़-कड़ाती सर्दी में महावीर को एकान्त वन में कठोर साधना करते देखा तो वे बड़े प्रभावित हुये। उनकी तेजोदीप्त सौम्य आकृति से जहाँ देवोपम सुन्दरता एवं सुकुमारता झलकती थी, वहीं कठोर तप, एकाग्र ध्यान एवं उत्कृष्ट ज्ञान की आभा भी दर्शकों को प्रभावित कर लेती थी। धीरे-धीरे श्रद्धालु जनता की भीड़ महावीर के आस-पास जमने लगी और उनके दर्शन तथा सान्निध्य मात्र से अनेक कार्य चमत्कारी ढंग से सिद्ध होने लगे। अतः पूरा गांव ही महावीर की भक्ति में मग्न हो गया।

महावीर के प्रति लोकश्रद्धा उमड़ती देखकर वहाँ के निवासी अच्छंदक जाति के ज्योतिषी घबरा गये। वे ज्योतिष एवं निमित्त (टोने-टोटके) के सहारे ही अपनी वृत्ति चलाते थे। अतः उन्हें लगा—श्रमण महावीर ज्ञानी हैं, कहीं हमारी पोल खोल दी तो हमारा धन्धा ही चौपट हो जायगा। वे एकान्त में महावीर के पास आये और दीनतापूर्वक प्रार्थना करने लगे—"देवार्य ! हमें शंका है, यहाँ आपकी उपस्थिति से हमारे धन्धे को चोट पहुंचेगी। कहीं हमारे बाल-बच्चों को भूखों मरने की नौबत न आ जाय। आप तो श्रमण हैं, स्वयंबुद्ध हैं, कहीं भी जाकर अपनी साधना तपस्या कर सकते हैं. हम बाल-बच्चेवाले गृहस्थी कहां जायेंगे ? कृपा कर हमारी रक्षा कीजिये।"

महावीर अपने कष्ट में वज्र से भी कठोर थे, तो दूसरों के कष्ट के प्रति नवनीत से भी अधिक कोमल, शिरीष पुष्प से भी अधिक मृदु ! यद्यपि वे कठोर सत्य के उपासक थे, पाखण्ड और अन्धविश्वास के कट्टर विरोधी थे, उनकी उपस्थिति से सहजरूप में ही जनता अन्धविश्वासों के चंगुल से मुक्त हो रही थी, झूठे टोने-टोटकों के चक्र से वह छुटकारा पा रही थी। यह उन्हें इष्ट भी था, पर साथ ही अच्छंदकों की वृत्ति (आजीविका) पर सीधा प्रहार हो रहा था उनके मन में श्रमण महावीर के प्रति अप्रीति, द्वेष और रोष के भाव उमड़ रहे थे। अहिंसा के परम आराधक महावीर को यह भी कैसे अभीष्ट होता ? फिर उनका संकल्प था अप्रीति-कर स्थान में नहीं रहना। जहां प्रेम-क्षेम नहीं, वहां क्षणभर भी ठहरना नहीं।

पर-दु:खकातर महावीर एक दिन किसी से कहे बिना ही मोराकसन्निवेश से आगे वाचाला के पथ पर चल पड़े।[1]

इस घटना ने महावीर की कठोर सत्यनिष्ठा पर अहिंसा व करुणा का मृदु-मधुर अमृतलेप चढ़ा दिया।[2]

अहिंसा का अमृतयोग
(नाग को प्रबोध)

भगवान महावीर का साधनाकाल क्षमा, सहिष्णुता, स्थितप्रज्ञता, निस्पृहता, सत्य एवं अहिंसा के विविध प्रयोगों की एक विचित्र प्रयोगभूमि रही है। मोराक-सन्निवेश से उत्तर-वाचाला की ओर उनका प्रयाण—अहिंसा के अमृत-प्रयोग का एक इतिहास-प्रसिद्ध उदाहरण बन गया है।

भगवान महावीर दक्षिण-वाचाला से होकर उत्तर-वाचाला नामक सन्निवेश को जा रहे थे। बीच में सुवर्णवालुका नाम की छोटी नदी थी। इसी नदी तट पर झाड़ी में उलझकर कंधों पर टिके देवदूष्य वस्त्र का अर्ध पट गिर गया था। उपेक्षा-भाव के साथ वे आगे चल पड़े। इसके पश्चात् महावीर ने कभी वस्त्र धारण नहीं किया।

उत्तर-वाचाला जाने के लिये महावीर ने एक सीधा मार्ग पकड़ा। वह कनक-खल नामक आश्रमपद के बीच से जाता था। श्रमण महावीर इस मार्ग पर कुछ ही आगे बढ़े थे कि पीछे से जंगल में घूमते हुये ग्वाल-बालों की भयभरी पुकार सुनाई दी—"देवार्य! रुक जाओ! यह मार्ग बड़ा विकट और भयावह है, इस रास्ते में एक काला नाग रहता है, जो दृष्टिविष है, अपनी विष-ज्वालाओं से उसने अगणित राहगीरों को भस्मसात् कर डाला, हजारों पेड़, पौधे और लतायें उसकी विषैली फुंकारों से जलकर राख हो गईं। आप इस मार्ग मे मत जाइये। आश्रम से बाहर-

१ यह भी कहा जाता है कि सिद्धार्थदेव ने महावीर के मुख से अनेक भविष्यवाणियां करवाईं, कई गुप्त रहस्य खोले—जिससे साधारण जनता महावीर के प्रति आकृष्ट हो गई और वहां के निवासी अच्छन्दक ज्योतिषियों का प्रभाव कम हो गया, उनके पाखण्डों की पोल खुलने लग गई; जिससे घबराकर वे महावीर के चरणों में आये।

२ घटना वर्ष वि० पू० ५०६। त्रिषष्टि० १०१३

बाहर जो मार्ग जाता है उसी से जाइये, भले ही वह लम्बा है, पर निरापद है - इस काले नाग के चक्कर से तो पथ का थोड़ा-सा चक्कर अच्छा है—रुक जाइये, आगे मत जाइये !"

ग्वाल-बालों की पुकार में एक छितरा हुआ-सा भय, एक गहरी संवेदना थी, अनजान किन्तु एक साधु-श्रमण के प्रति श्रद्धा और स्नेह का कंपन था। महावीर दो क्षण रुक गये। मुस्कराते हुये उन्होंने ग्वाल-बालों की ओर देखा, अपना अभय सूचक हाथ ऊपर उठाया, जैसे संकेत दे रहे थे; घबराओ मत ! उस विष को जीतने के लिए ही अमृत जा रहा है, आग को बुझाने के लिए ही शीतल जलधारा उस ओर बढ़ रही है।

महावीर के संकेत को शायद ग्वालों ने नहीं समझा। वे तपस्वी की हठ-वादिता पर कभी झुंझला रहे थे और कभी खीझ कर कह रहे थे—"जो अपनी भलाई की बात भी नहीं सुनता उसका बुरा हाल होगा, देख लेना !" उन्हीं में से एक बड़ी उम्र का ग्वाला उन्हें समझा रहा था, "तुम घबराते क्यों हो ! यह श्रमण कोई सिद्ध-पुरुष लगता है, जरूर नाग-मन्त्र सिद्ध किया हुआ है, आज इस कालिये नाग को कील डालेगा—देख लेना।"

अभयमूर्ति महावीर धीर-गम्भीर गति से चलते हुये जंगल के बीच नागराज की बांबी के निकट पहुंच गये। पास ही एक फटा हुआ-सा देवालय था, वहीं वे ध्यानमुद्रा में स्थिर हो गये।

जंगल में घूमता हुआ सर्प अपनी बांबी के पास पहुंचा। सामने एक मनुष्य को आंख मूंदे निश्चल खड़ा देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। बहुत दिनों के बाद—इस निर्जन प्रदेश में यह मनुष्य दिखाई दिया है, शायद रास्ता भूल गया होगा या मृत्यु ने ही इसे मेरे पास ला खड़ा कर दिया होगा। अपनी विषमयी तीव्र दृष्टि से उसने महावीर की ओर देखा, अग्निपिण्ड से जैसे ज्वालाएं निकलती हैं वैसे ही उसकी विषाक्त आंखों से तीव्र विषमयी ज्वालाएं निकलने लगीं। साधारण मनुष्य तो तत्काल जलकर खाक हो जाता। पर महावीर पर तो कोई प्रभाव नहीं हुआ। नाग ने पुनः सूर्य के समक्ष देखकर तीक्ष्णदृष्टि से महावीर की ओर देखा, इस बार भी उसका प्रभाव खाली गया। दूसरा प्रयास भी निष्फल ! नाग क्रोध में आग-बबूला हो गया। फन को तानकर पूरी शक्ति के साथ उसने महावीर के अंगूठे पर डंक मारा, और जरा पीछे हट गया कि कहीं यह मूर्छित होकर मुझ पर ही न गिर पड़े।

क्रोधाविष्ट नागराज का तीसरा आक्रमण भी निष्फल गया। उसके आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा, जब देखा, अंगूठे पर जहाँ डंक मारा है, वहाँ से तो दूध-सी श्वेत-रक्त की धारा बह रही है। जैसे भूख से छटपटाता बालक झुंझलाकर मां के स्तन पर दांत मारता है और उस स्तन में से श्वेत-मधुर दुग्ध-धारा फूट आती है—वैसा ही दृश्य नागराज की आंखों के सामने नाचने लगा। जैसे महावीर का अनन्त वात्सल्य (मातृत्व) उस अबोध नागशिशु को दुग्धपान कराने मचल रहा है। तीव्र विष के बदले मधुर दुग्धधारा को देखकर नागराज चकित-भ्रमित-सा होकर बार-बार उस दिव्यपुरुष की ओर देखने लगा। उसने देखा—तीन-तीन बार तीव्र डंक मारने पर भी इस दिव्यपुरुष की मुखमुद्रा वैसी ही शान्त, स्थिर और प्रशमरस से परिपूर्ण है। उसकी मुखाकृति से शान्ति का मधुर रस टपक रहा है। बार-बार देखने पर नागराज के संतप्त मन को अपूर्व शान्ति, अद्भुत शीतलता का अनुभव हो रहा था। वह विचारों की गहराई में डूब गया 'आखिर यह दिव्य पुरुष है कौन ?'

"चंडकौशिक ! समझो ! समझो ! अब शान्त हो जाओ ! अपना क्रोध शान्त करो !" महावीर ने ध्यान समाप्त कर अमृतभरी दृष्टि से नागराज की ओर देख कर कहा।

प्रभु के वचनामृत सुनकर नागराज का क्रोध पानी-पानी हो गया। वह सोचने लगा—"चंडकौशिक ?" मुझे आज तक किसी ने इस नाम से नहीं पुकारा। नाम तो परिचित-सा लग रहा है", वह विचारों में गहरा उतरा, उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। पूर्व जीवन की घटनाएँ चलचित्र की भाँति उसकी स्मृतियों में छविमान हो उठीं।

अनेक जन्म पूर्व वह गोभद्र नामक एक तपस्वी श्रमण था। एक-एक मास का उपवास करता था। एकबार गोभद्र श्रमण भिक्षा के लिये जा रहा था, मार्ग में उसके पैर के नीचे एक मेंढकी आ गई और दबकर मर गई। तपस्वी गुरु के पीछे उनका एक सरल स्वभावी शिष्य चल रहा था। उसने गुरु से मेंढकी की हिंसा हुई देखी और देखा कि गुरु के मन पर उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई है, तो उसे लगा, शायद गुरुजी को पता नहीं चला है। उसने विनयपूर्वक कहा—"गुरुदेव ! आपश्री के पैर से एक मेंढकी की हिंसा हुई लगती है, कृपया प्रायश्चित्त ले लें"—हितबुद्धि के साथ सरलतापूर्वक कही गई बात सुनकर गुरुजी क्रोध में लाल-पीले हो गये।

लाल-लाल आंखों से शिष्य की ओर देखते हुये कहा—'क्या मार्ग में मरी पड़ी सभी मेंढकियां मैंने ही मारी हैं ? मूर्ख ; गुरु की आशातना करता है—'

'आग के सामने पानी की ही जीत होती है'—यही सोचकर शिष्य चुप रहा। सांयकालीन प्रतिक्रमण के समय उसने पुनः गुरुजी को उस बात की आलोचना करने की याद दिलाई। बस, गुरु जी के तो एड़ी से चोटी तक आग लग गई। क्रोधांध होकर अपना रजोहरण उठाया और उसे ही मारने दौड़े। बेचारा शिष्य घबराकर इधर-उधर हो गया, अन्धेरे में गुरुजी एक खंभे से टकरा गये, उनका सिर फट गया और वहीं गिर पड़े। अत्यन्त क्रोध दशा में मृत्यु होने पर वे ज्योतिषी देव बने और वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर इसी कनकखल आश्रमपद में कुलपति का पुत्र हुआ। कौशिक उसका नाम रखा गया। किन्तु स्वभाव अत्यन्त क्रोधी (चंड) होने के कारण सभी आश्रमवासी उसे चंडकौशिक नाम से पुकारने लगे। एक बार आश्रम के उद्यान में श्वेताम्बी के कुछ राजकुमार आये और वे मनचाहे फूल तोड़ने लगे, चण्डकौशिक ने मना किया। राजकुमारों ने उसकी बात अनसुनी कर दी तब क्रुद्ध होकर चण्डकौशिक हाथ में कुल्हाड़ा लेकर उन्हें मारने को दौड़ा। राजकुमार तेजी से भाग गये, चंडकौशिक उनका पीछा करता हुआ एक खड्डे में जा गिरा और उसी कुल्हाड़े से सिर में गहरी चोट लगी, वह वहीं पर समाप्त हो गया।

वनखण्ड में अत्यन्त आसक्ति और क्रोधाविष्ट दशा में मृत्यु होने से चंडकौशिक दृष्टिविष सर्प बना।

उसकी जहरीली फुंकारों से समूचा आश्रमपद निर्जन और ऊजड़ प्रदेश बन गया था। उद्यान जलकर राख हो गया था। प्रारम्भ में जो अनेक मनुष्य इधर आये, दृष्टिविष सर्प की एक विषबुझी दृष्टि से ही काल-कवलित हो गये। जंगल में सर्वत्र आतंक छा गया, और तब से वह मार्ग सर्वथा जन-शून्य हो गया।

बहुत समय बाद आज श्रमण महावीर उस पथ पर आये। चंडकौशिक नाग को अपना दबा हुआ क्रोध निकालने का अवसर मिला, पर जब इस दिव्यपुरुष ने जहर के बदले उसे अमृतपान कराया तो उसकी बुद्धि चकित हो गई, क्रोध शान्त हुआ और चण्डकौशिक नाम सुनकर जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त किया। अपने पूर्व जीवन के इन दुर्दशापूर्ण रोमांचक चित्रों को देखकर उसकी अन्तश्चेतना जाग उठी। तीव्र क्रोध के कारण कितने-कितने कष्ट उठाये और कैसी दुर्गति हुई, यह उसके समक्ष स्पष्ट हो गया। वह शान्त होकर बार बार प्रभु के चरणों में लिपट कर अपने अपराध के लिये क्षमायाचना करने लगा।

दूसरे दिन अनेक ग्वाले कुतूहल वश उधर आये, दूर से वृक्षों पर चढ़कर देखा तो श्रमण महावीर स्थिर खड़े दिखाई दिये। उन्हें आश्चर्य हुआ-यह श्रमण अब तक

जीवित है ? नागदेवता ने काटा नहीं ?' धीरे-धीरे कुछ नजदीक आये। देखा, नाग बिल में मुंह डालकर स्थिर पड़ा है। वे और निकट आये, नाग को कंकड़ आदि फेंककर छेड़ने लगे। पर वह तो शांत, स्थिर ! मुर्दे की भांति बिल में मुंह किये पड़ा रहा। ग्वालों ने खुशियां मनाई—श्रमण के प्रभाव से नागदेवता शान्त हो गये। अब आस-पास की सैंकड़ों स्त्रियां दूध, घी, और खीर लेकर नाग की पूजा करने आईं। घी और खीर के कारण हजारों चींटियां नाग के शरीर पर चिपक कर उसे काटने लगीं। पर नागदेवता तो अब सचमुच शान्ति का देवता बन गया था। अपने दुष्कृत्यों पर पश्चात्ताप करते हुए उसने अनशन कर लिया और पन्द्रह दिन बाद मृत्यु प्राप्त कर वह सहस्रार स्वर्ग में उत्पन्न हुआ।

श्रमण महावीर की इस अहिंसा के अमृतयोग की आस-पास के जनपद में सर्वत्र चर्चा होने लगी। वास्तव में ही उनकी अहिंसा, अभय और मैत्री—इतनी सजीव, इतनी सतेज और इतनी प्रभावशाली थी कि क्रूर हिंसक और तीव्र विषधर भी उसके योग से शान्त और समभावी बन गये।

यही तो चमत्कार था उस अमृतयोगी की अहिंसा में ![1]

क्षेमंकर महावीर

विषधर चंडकौशिक का उद्धार कर श्रमण महावीर उत्तर-वाचाला में पधारे और नागसेन नामक गृहस्थ के घर पर पन्द्रह दिन के उपवास का पारणा किया।

गंगानदी की धारा की भांति महावीर की गति सदा प्रवहमान रहती थी। उत्तर-वाचाला से वे सेयंबिया (श्वेताम्बिका) नगरी में पधारे, वहां के राजा प्रदेशी ने इस दिव्य तेजस्वी श्रमण को नगर में आया देखा तो हृदय सहज श्रद्धा से आप्लावित हो उठा। जिस प्रकार बुद्ध को राजगृह में भिक्षाटन करते देख कर उनकी तेजस्वी एवं सौम्य आकृति से महाराज बिम्बिसार आकृष्ट हो, उनके चरणों में पहुंचे थे, कुछ उसी प्रकार का आन्तरिक आकर्षण और भक्तिभाव प्रदेशी के हृदय में उमड़ा। वह श्रमण महावीर की सौम्याकृति, तेजस्विता और आकृति से प्रतिपल टपकती समता-शान्ति से प्रभावित हो उनकी भक्ति करने लगा। पर, समतायोगी महावीर तो प्रदेशी के इस भक्तिभाव में भी उसी प्रकार तटस्थ रहे, जिस प्रकार चंडकौशिक के दंश मारने में। सेयंविका से प्रभु सुरभिपुर को जा रहे थे। मार्ग में

१ घटना वर्ष वि० पू० ५१०। त्रिषष्टि० १०।३

प्रदेशी राजा के मित्र पांच नैयक राजाओं ने प्रभु के दर्शन किये, भक्ति की और अपने भाग्य को सराहते हुये आगे चल पड़े।

सुरभिपुर और राजगृह के बीच में गंगानदी पड़ती थी। महावीर को गंगा पार करने के लिये नाव में बैठना था। नाविक की अनुमति लेकर वे नाव में बैठ गये। अनेक यात्री उस नाव में थे। और उनके बीच खेमिल नामक नैमित्तिक भी बैठा था। नाव कुछ दूर चली कि दाहिनी ओर एक उल्लू बोलने लगा। खेमिल ने यात्रियों को सावधान करते हुये कहा—"आप लोग सावधान होकर—अपने-अपने इष्टदेव का स्मरण कीजिये। दायें उल्लू का बोलना बड़ा ही अपशकुन है, लगता है हम सब पर कोई प्राणान्तक कष्ट आने वाला है।"

खेमिल की चेतावनी सुनते ही यात्रियों के चेहरे पीले पड़ गये। तभी सभी की दृष्टि महावीर की ओर गई जो एक कोने में बैठे स्थिर, प्रशांत भाव से ध्यान-मग्न थे। खेमिल को घोर अन्धकार में एक आशा की किरण चमकती हुई दिखाई दी, यात्रियों को धीरज बँधाते हुये वह बोला—"संकट तो बहुत बड़ा आने वाला है, लेकिन इस नाव में एक ऐसा महापुरुष भी बैठा है, जिसके असीम पुण्य-प्रताप से हम सब बाल-बाल बच जायेंगे। धीरज रखिये और सभी इस महापुरुष की वंदना-स्तुति कीजिये।"

खेमिल की बात पूरी भी नहीं हुई थी कि नदी में तूफान आ गया। पानी बांसों उछलने लगा, लहरें नाव को यों उछालने लगीं जैसे बालक गेंद को इधर-उधर उछालते हों। यात्रियों का हृदय दहल रहा था, भय के कारण कुछ चीखने-चिल्लाने भी लगे, पर खेमिल के कहने से सभी ध्यानस्थ महावीर के चरणों में सिर नवा रहे थे— 'हे प्रभो! हे महाश्रमण। हमें इस संकट से बचाइये। आप ही हमारे रक्षक है।"

भक्ति में शक्ति का स्रोत छिपा रहता है। जिस महापुरुष का नाम-स्मरण ही मनुष्य को संकटों से मुक्त कर सकता है, उसका सान्निध्य संकटों से न बचा पाये, यह कैसे संभव हो सकता है? श्रमण महावीर के दिव्य प्रभाव से धीरे-धीरे तूफान शान्त हो गया, लहरों का आलोडन कम हुआ और नाव अपनी सहजगति पर आ गई। यात्रियों के जी-में-जी आया। वे प्रभु की वंदना करने लगे। नाव किनारे पहुंची और सभी यात्री कुशल-क्षेमपूर्वक उतरकर अपने-अपने गंतव्य की ओर चल दिये।

गंगा में तूफान उठना और स्वतः शान्त हो जाना एक सहज घटना-सी प्रतीत होती है, किन्तु कथाकार आचार्यों ने इसके पीछे दैविक चमत्कार का प्रभाव भी

बताया है। बताया गया है कि प्रभु ने त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में जिस गुहावासी सिंह को हाथ से चीर डाला था, वह कई भवों के बाद सुदंष्ट्र नाम का नागकुमार हुआ और प्रभु महावीर को नाव में यात्रा करते देखकर उसे पूर्व वैर का स्मरण हो आया। प्रभु तो द्वेष-मुक्त थे, पर नागकुमार ने द्वेषवश गंगा में यह तूफान उठा कर उन्हें कष्ट देना चाहा, तभी कम्बल-संबल नामक दो भक्त नागकुमारों ने सुन्दष्ट्र को इस दुष्कर्म के लिए धिक्कारा। सुन्दष्ट्र लज्जित होकर अपने दुष्कृत्य से बाज आया। और सभी यात्री लोक-क्षेमंकर श्रमण महावीर का नाम स्मरण करते-करते कुशलतापूर्वक अपने-अपने घरों को पहुंच गये।[1]

लक्षण मुंह बोलते हैं

रत्न यदि मिट्टी में भी पड़ा रहे तो भी उसकी निर्मल कीर्ति और महार्घता छिपी नहीं रहती। महापुरुष चाहे जिस वेष, देश और परिवेष में रहे, उसके दिव्य लक्षण, उसकी महत्ता स्वयं मुँह बोलते रहते हैं, इसीलिए कहा जाता है—
"भाग छिपे न भभूत लगाये।"

श्रमण भगवान् महावीर नाव से उतरकर गंगा के शान्त रेतीले मैदान पर चलते हुए 'थूणाक' सन्निवेश के परिसर में पहुंचे और एकान्त में ध्यानारूढ़ हो गये।

कुछ समय बाद गंगा तट पर पुष्य नामक एक सामुद्रिक घूमता हुआ आया। तट की स्वच्छ धूलि पर महावीर के चरणचिन्ह अंकित थे। देखते ही पुष्य चौंक उठा, उसने पदचिह्नों में अंकित रेखाओं को सूक्ष्मता के साथ देखा और मन-ही-मन सोचने लगा—"ये दिव्य लक्षण तो किसी चक्रवर्ती के हैं सचमुच कोई चक्रवर्ती सम्राट् विपत्ति में फँसा हुआ अकेला ही अभी-अभी इस रास्ते से नंगे पैरों गुजरा है। ऐसे अवसर पर उसके पास पहुंच कर सेवा करनी चाहिए; ताकि भविष्य में जब वह चक्रवर्ती बनेगा तो मेरा भी सितारा चमक उठेगा।"

सामुद्रिक पुष्य पद-चिन्हों का अनुसरण करता हुआ सीधा थूणाक सन्निवेश के परिसर में पहुंच गया। वहाँ उसने एक श्रमण को ध्यान-स्थित देखा। यद्यपि उनकी मुखाकृति पर चक्रवर्ती के तुल्य अपूर्व तेजस्विता और दिव्य आभा चमक रही थी, किन्तु साथ ही एक श्रमण की सौम्यता और समता भी थी। पुष्य कुछ क्षण भ्रमित-सा, चकित-सा देखता रहा, फिर एकदम निराश हो गया। सिर पीटते

१ घटनावर्ष वि० पू० ५१०। —त्रिषष्टि० १०।३

हुये उसने कहा—"हाय ! आज तो मुझे अपना शास्त्र भी धोखा दे गया। लक्षण, रेखायें और चिन्ह सब चक्रवर्ती के से हैं, पर सामने खड़ा है एक श्रमण। जिसके तन पर बित्तभर वस्त्र भी नहीं। क्या चक्रवर्ती भी भिक्षुक बनकर यों दर-दर भटकता है ? लगता है शास्त्र सब झूठे हैं, ऐसे झूठे शास्त्रों को तो गंगा में बहा देना चाहिए।" पुष्य इन्हीं निराशायुक्त विचारों के थपेड़ों में डगमगाता हुआ उठा, शास्त्रों की गठरी जलशरण करने जा रहा था कि एक दिव्यवाणी (देवेन्द्र द्वारा) उसके कानों से टकराई- पुष्य ! क्या तू पढ़-लिख कर भी मूर्ख ही रहा ? श्रमण है तो क्या इसकी अद्‌भुत कान्ति और तेज आँखों से नहीं दीख रहा है ? तू जिसे चक्रवर्ती न मानने की भूल कर रहा है, वह महापुरुष धर्म-चक्रवर्ती, सम्राटों का भी सम्राट् और असंख्य देवेन्द्रों का भी पूजनीय महाश्रमण तीर्थंकर महावीर है, आँखें खोलकर देख जरा !"

पुष्य के अन्तश्चक्षु खुल गये। उसने देखा कि सचमुच यह भिक्षुक ही विश्व का सर्वोत्तम सत्पुरुष है। श्रद्धा और विनय के साथ मस्तक प्रभु के चरणों में झुक गया।[१]

महान् आश्रयदाता

(गोशालक को शरणदान)

भगवान् महावीर का जीवन एक महावृक्ष की भांति सदा-सर्वदा सबके लिए आश्रयदाता रहा है। असहाय को सहाय देना और शरणागत की रक्षा करना; यह उनके क्षत्रिय स्वभाव का सहज संस्कार-जैसा प्रतीत होता है। महावृक्ष की छाया में साधु, सज्जन और दीन प्राणी भी शरण लेते हैं और चोर, दुष्ट एवं क्रूर हिंसक प्राणी भी। वृक्ष का धर्म आश्रय देना है, यदि दुष्ट उसका आश्रय पाकर भी अपनी दुष्टता न छोड़े तो इसमें वृक्ष का क्या दोष ? श्रमण महावीर के चरणों में अनेकों भव्य, सज्जन और सुशील प्राणियों ने आश्रय लेकर आत्म-कल्याण का अमरपथ प्राप्त किया, शूलपाणि यक्ष और चंडकौशिक नाग जैसे क्रूर एवं हिंसक प्राणियों ने भी आत्मबोध पाकर शान्ति का पथ अपनाया तो गोशालक और संगम जैसे दुष्ट एवं अभव्य प्राणियों ने आश्रय लेकर अग्नि की भाँति अपने आश्रय-स्थल को ही नष्ट करने का विफल प्रयत्न भी किया।

१ घटना वर्ष वि० पू० ५१०। —त्रिषष्टि० १०।३

श्रमण महावीर की साधना का दूसरा वर्ष ही चल रहा था कि दुष्ट गौशालक उनके संपर्क में आया और निरन्तर छह वर्ष तक उनको अनेक प्रकार के त्रास, पीड़ाएँ और कष्ट पहुंचाता रहा। गोशालक का संपर्क महावीर के जीवन में सदा त्रासदायी रहा। तीर्थंकर काल में तो वह उनकी मृत्यु का परवाना लेकर एक दुष्ट प्रतिद्वन्द्वी की भांति भी सामने आ डटा। पर क्षमावीर महावीर सदा ही उसे क्षमा, अभय और शरण देते रहे। चन्दन की भांति घिसनेवाले को भी वे सुगन्ध और शीतलता से प्रीणित करते रहे।

नालन्दा, राजगृह का उपनगर था। वर्षाऋतु के प्रारम्भ में श्रमण महावीर वहीं आकर चातुर्मास बिताने के लिये किसी एकांत शून्यस्थान की खोज करने लगे। एक तंतुवायशाला (जुलाहे की दुकान या कारखाना) उन्हें मिल गई और वे वहीं चातुर्मास के लिये ठहर गये। इसी तंतुवायशाला में एक ओर मंखजातीय (मस्करी—एकदन्डी तापस) युवा भिक्षुक भी ठहरा हुआ था। जिसका नाम था गोशालक।[1] गौशालक स्वभाव से उच्छृंखल, कुतूहलप्रिय और मुँहफट तो था ही, साथ ही रसलोलुपी और झगड़ालू भी था।

श्रमण महावीर इस चातुर्मास में एक-एक मास का तप करते थे। उनके ध्यान, तप और अन्य दिव्य विभूतियों को देखकर गौशालक उनकी ओर आकृष्ट हो गया। प्रभु जब मासक्षपण का पारणा लेने बस्ती में जाते तो गौशालक उनके पास आकर प्रार्थना करता कि—"प्रभु, मैं भी आपका शिष्य बनना चाहता हूं।"

१ परम्परागत अनुश्रुतियों के अनुसार गौशालक किसी डाकौत का पुत्र था, वह लोगों का मनोरंजन करके अथवा शनि आदि ग्रहों की बलिपूजा आदि लेकर अपनी आजीविका चलाता था। किन्तु भगवती-सूत्र के कुछ उल्लेखों एवं आजीवक सम्प्रदाय पर हुये अब तक के अनुसंधानों से उक्त अनुश्रुतियों की पुष्टि नहीं होती। इतिहासकारों ने उसे आजीवक संप्रदाय का प्रवर्तक तो नहीं, किन्तु एक प्रभावशाली आचार्य माना है। श्रमण महावीर के संपर्क में आया तब तक वह एक सामान्य भिक्षुक ही था, किन्तु बाद में भगवान महावीर के साथ में रहकर उसने कुछ विभूतियां व तेजोलेश्या जैसी लब्धि प्राप्त कर ली और पश्चात् पार्श्वापत्य दिशाचरों के संपर्क में रहकर निमित्त-शास्त्र भी पढ़ा, इन शक्तियों के बल पर वह आगे जाकर स्वयं को आजीवक संप्रदाय का तीर्थंकर भी घोषित करने लग गया था।

गौशालक की प्रार्थना का महावीर कोई उत्तर नहीं देते। चार मास यों ही निकल गये।

कार्तिक पूर्णिमा का दिन था। नगर में उत्सव मनाया जा रहा था। प्रभु ध्यान पूर्ण करके विहार करने को प्रस्तुत हुये, गौशालक उनसे बात करने की ताक में था ही, वह चट से उनके निकट आया और उनकी भविष्यज्ञान की परीक्षा करने के लिए पूछा "देवार्य ! मैं भिक्षा के लिये जा रहा हूं, बताइये, मुझे आज भिक्षा में क्या मिलेगा ?"

सहजभाव से प्रभु ने उत्तर दिया—"कोदों के बासी चावल, खट्टी छाछ और एक खोटा सिक्का।"

'हैं !' आश्चर्य के साथ गौशालक ने महावीर की ओर देखा, फिर हँसा— "आज तो त्यौहार का दिन है, घर-घर में मिष्ठान्न बन रहे हैं, आज मुझे बासी चावल ? वाह ! क्या खूब भविष्यवाणी की है आपने !" गौशालक महावीर की भविष्यवाणी को असत्य सिद्ध करने के लिये गया, किन्तु कहीं कुछ न मिला। मध्याह्न के बाद एक कर्मकार (कारीगर) ने उसे अपने घर कोदों का बासी धान और खट्टी छाछ का भोजन कराया तथा दक्षिणा में एक रुपया दिया, जो परखने पर सचमुच ही खोटा निकला।

इस घटना ने गौशालक के मन को आन्दोलित कर दिया। वह एक ओर महावीर के भविष्यज्ञान की ओर आकृष्ट हुआ तो दूसरी ओर नियतिवाद में उसका विश्वास भी दृढ़ हो गया। उसकी धारणा बन गई—'जो होना होता है, वह पहले से ही निश्चित रहता है, होनी कभी टलती नहीं।'

गौशालक मध्याह्न के बाद लौटकर अपने स्थान पर आया, देखा, तो श्रमण महावीर वहाँ नहीं थे। वह उनकी खोज करने पुनः बस्ती में गया, नालन्दा और राजगृह की गली-गली खोज डाली, पर महावीर नहीं मिले। उसने फिर भी पीछा नहीं छोड़ा। पास के कोल्लाकसन्निवेश में पहुंचा। वहाँ लोग चर्चा कर रहे थे "आज एक तपस्वी ने बहुल ब्राह्मण के घर पर भिक्षा ग्रहण की है, उसके दिव्य प्रभाव से आकाश में देवदुंदुभि बजी, और अनेक प्रकार के पुष्प, रत्न आदि की वृष्टि हुई।"

गौशालक ने सोचा—'ऐसा दिव्य प्रभाव तो उन देवार्य का ही हो सकता है।' वह नगर में आगे गया तो मार्ग में लौटते हुये श्रमण महावीर उसे मिल गये। गौशालक ने नमस्कार करके कहा—'भगवन् ! आपने जैसा कहा, आज वैसी ही भिक्षा मुझे मिली, वास्तव में आपकी भविष्यवाणी सच्ची निकली। अब मैंने आपको

ही अपना धर्माचार्य मान लिया है, आप भी मुझे अपना शिष्य मान लीजिये।' गोशालक की बात का महावीर ने कोई प्रतिरोध नहीं किया, "मौनं स्वीकृतिलक्षणं" मानकर गोशालक अब महावीर के साथ-साथ घूमने लगा।[1]

खीर धूल में मिल गई

कोल्लाकसन्निवेश से महावीर सुवर्णखल की ओर जा रहे थे, गोशालक भी उनके साथ पीछे-पीछे चल रहा था। रास्ते में एक स्थान पर ग्वालों की टोली जमी हुई थी। गोशालक ने उत्सुकतावश उधर देखा, हंडिया में वे कुछ पका रहे थे। पूछा —"भाई! हंडिया में क्या पका रहे हो?" ग्वालों ने गोशालक की ओर जरा तिरछी नजर से देखा और बोले—"खीर।" नाम सुनते ही गोशालक के मुंह में पानी छूट आया, उसने प्रभु से कहा—"देवार्य! ग्वाले खीर पका रहे हैं, जरा ठहर जाइये, हम भी खीर खा कर चलेंगे।"

भगवान् ने कहा—"यह खीर पकेगी ही नहीं। बीच ही में हंडिया फट जायेगी, और खीर मिट्टी में मिल जायेगी।"

गोशालक ने ग्वालों को सावधान करते हुये कहा—"सुनते हो! ये त्रिकाल-ज्ञानी देवार्य कहते हैं, यह हंडिया फट जायेगी और खीर मिट्टी में मिल जायेगी।"

ग्वालों ने गोशालक की ओर तिरस्कार भरी आंखें तरेरते हुए कहा—"देखते हैं कैसे फटेगी हंडिया!" उन्होंने बाँस की खपाटियों से हंडिया को कस कर बाँध दिया, और चारों ओर से घेर कर बैठ गये।

प्रभु महावीर आगे चले गये थे, पर गोशालक खीर की लालसा से वहीं रुका रहा। हंडिया दूध से भरी थी और चावल भी मात्रा से अधिक थे। जब दूध उबला, चावल फूले तो हंडिया तड़ाक से दो टुकड़े हो गई, खीर धूल में मिल गई और साथ ही गोशालक की आशा भी। वह बहुत निराश हुआ और यह कहते हुये आगे चला गया "होनहार किसी भी उपाय से टलती नहीं।"[2]

गोशालक श्रमण महावीर के साथ-साथ घूमता रहा। जहाँ भी जाता, लोगों में स्वयं को देवार्य का शिष्य बताता, पर उसका आचरण इतना अभद्र और अविवेक-

१ घटना वर्ष वि. पू. ५१०

२ घटना वर्ष वही, (शीतऋतु)

पूर्ण होता कि कहीं अपमान, कहीं तिरस्कार और कहीं ताड़ना एवं यातनाओं का पुरस्कार भी उसे मिल जाता। फिर भी वह अपनी हरकतों से बाज नहीं आता।

परम्परा का आदर

श्रमण महावीर ने अपनी साधना का मार्ग स्वयं चुना था, और अपने ही विवेक एवं आत्मसाक्ष्य से उस पर अबाध गति से चलते रहे। उनके समय में भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्य-परम्परा भी विद्यमान थी और उनके आचार में कुछ सामान्य-सा अन्तर भी था, परन्तु सत्य के अनन्तस्वरूप के द्रष्टा महावीर ने अपनी साधना-विधि के साथ उस प्राचीन साधना परम्परा का विरोध नहीं दिखाया, बल्कि उस पुरानी परम्परा का भी आदर किया और उसे भी सत्य की साधना मानी। यह उनकी समन्वय-प्रधान सत्य-प्रज्ञा का एक रूप था।

साधना काल के चतुर्थ वर्ष में श्रमण महावीर कुमारसन्निवेश में एक उद्यान में कायोत्सर्ग करके खड़े थे। गौशालक उनके साथ था ही। भिक्षा का समय होने पर गौशालक ने कहा—"देवार्य, भख लगी है, भिक्षा के लिए चलिये।"

प्रभु ने कहा—"मुझे आज उपवास है।" गौशालक गुरु के साथ उपवास नहीं कर सका। वह भिक्षा के लिये सन्निवेश में गया। वहाँ पार्श्वनाथ-परम्परा के स्थविर मुनिचन्द्र अपनी शिष्यमडली के साथ एक कुम्हार की शाला में ठहरे हुए थे। चंचल और क्षुद्रस्वभावी गौशालक ने उनसे पूछा—"तुम लोग कौन हो?"

पार्श्वापत्य श्रमण ने कहा— "हम निर्ग्रन्थ श्रमण हैं।" गौशालक ने उनके उपकरणों की ओर देखकर कहा—"वाह रे निर्ग्रन्थ! इतना सारा ग्रन्थ (उपकरण) तो जमा कर रखा है, फिर भी अपने को निर्ग्रन्थ बताते हो? कैसा मजाक है यह! निर्ग्रन्थ तो मेरे धर्माचार्य हैं, जो तप, त्याग और संयम की साक्षात्मूर्ति हैं।"

गौशालक की क्षुद्रवृत्ति को देखकर निर्ग्रन्थ बोले—'लगता है जैसा तू है, वैसे ही स्वयं गृहीत-लिंग तेरे गुरु होंगे। गुरु जैसा चेला ··।'

गौशालक को क्रोध आ गया, बोला—"तुम मेरे गुरु की निन्दा करते हो, मेरे धर्माचार्य के तपस्तेज से तुम्हारा उपाश्रय जल कर राख हो जायगा। तभी तुम्हें पता चलेगा।"

यों पार्श्वापत्य श्रमणों के साथ बहुत देर तक झड़प करके गौशालक अपने स्थान पर आया और झुंझला कर प्रभु के पास आकर बोला—'भगवन्! आज तो

सारंभ और सपरिग्रह श्रमणों से मेरा पाला पड़ गया, ढेर सारे वस्त्र, उपकरण रखते हुए भी अपने को निग्रंन्थ बताने का ढोंग रचा रखा है उन्होंने !"

सत्य के परम आराधक महावीर ने कहा—"गौशालक, तुम मिथ्याभ्रम में हो। वे पार्श्वापत्य अनगार हैं और सच्चे श्रमण हैं। तुमने उनका अनादर किया है।"

महावीर के मुख से अन्य परम्परा के श्रमणों की प्रशंसा सुनकर अपने आपको सत्य का ठेकेदार समझनेवाले गौशालक के मिथ्या अहंकार को जरूर एक चोट पहुंची होगी, भ्रम का पर्दा उसकी आंखों पर से हटा या नहीं, पर सत्य की एक दूसरी किरण का अनुभव तो अवश्य ही हुआ होगा—महावीर की समन्वय-प्रधान सत्य-प्रज्ञा के द्वारा।[१]

अभूतपूर्व आत्म-गुप्ति

दीक्षा के पश्चात श्रमण महावीर ने एक वज्रसंकल्प लिया था कि—वे कभी किसी को अपना पूर्व-परिचय नहीं देंगे। जनता के समक्ष वे सदा एक श्रमण, भिक्षुक और साधक के रूप में ही उपस्थित होते थे, न कि राजकुमार वर्धमान के रूप में। वैशाली, कौशाम्बी और मगध जैसे विशाल साम्राज्यों से उनके गृहिजीवन के घनिष्ट सम्बन्ध थे, पर निःस्पृह क्षमावीर श्रमण ने कहीं भी विकट-से-विकट संकट एवं उपसर्ग के समय भी उन सम्बन्धों की चर्चा करके संकट से छूटने की चेष्टा नहीं की। कष्टों और उपसर्गों को तो वे निमंत्रण देते थे, फिर स्वतः आये कष्टों से किनारा-कसी करने की तो बात ही क्या? उनका आदर्श था—"आयगुत्ते सया जये" निरन्तर यतना से युक्त रहना, और आत्म गुप्त, अपने गौरव को, अपने महत्व को और अपने प्रभाव को भीतर ही गुप्त रखना। आत्मगुप्ति की इस उग्रतम साधना में कभी-कभी तो प्रभु को मारणान्तिक वेदनाएं भी सहनी पड़ीं, फांसी के फंदे भी गले में लटकवा दिये गये—पर फिर भी उन्होंने स्वयं के मुख से स्वयं का कोई पूर्व परि-चय नहीं दिया। उनका परिचय सिर्फ यही था—मैं एक श्रमण हूं, भिक्षु हूं, साधक हूं![२]

विहार करते हुए प्रभु एक बार चोराकसन्निवेश[३] में गये। उन दिनों सीमांत राज्यों में परस्पर कलह और युद्ध का वातावरण चल रहा था। एक-दूसरे पर शत्रु-

१ घटना समय वि. पू. ५०६-५०८ शीतऋतु। २ अहमंसि ति भिक्खु। —आचारांग ९।२।१२।
३ पूर्वबिहार (प्राचीन अंग-जनपद)।

राजा का भय छाया हुआ था। इसलिये एक सीमांत से दूसरे सीमांत में प्रवेश करने पर बड़ी छानबीन और तलाशी ली जाती थी।

चोराकसन्निवेश में आने पर आरक्षकों ने महावीर का परिचय पूछा। वे श्रमण के रूप में तो उपस्थित थे ही, इसके सिवा अपना और क्या परिचय देते। वे मौन रहे। गुरु को मौन देखकर शिष्य (?) गोशालक भी चुप रहा। आरक्षकों ने गुप्तचर समझकर उन्हें पकड़ लिया और अनेक प्रकार की यातनाएँ दीं। महावीर ने अपने बचाव के लिये कोई भी प्रतिकार नहीं किया, गोशालक ने भी कोई सफाई नहीं दी। तब दोनों को रस्से से बांधकर कुंए में उतारा गया और बार-बार डुबकियाँ लगवाई गईं। फिर भी दोनों ने ही अपना मौन नहीं तोड़ा। लोग स्तब्ध थे कि इतनी कठोर यन्त्रणा पाने पर भी ये चुप हैं, कैसे हैं ये गुप्तचर ?" गुप्तचरों की चर्चा सुनकर वहाँ रहने वाली दो परिव्राजिकाएँ—सोमा और जयन्ती[1] उन्हें देखने आईं। देखते ही वे श्रमण महावीर को पहचान गईं। आरक्षकों को डांटते हुये कहा—"अरे! तुम क्या अन्याय कर रहे हो? ये तो प्रभु वर्धमान हैं, महाराज सिद्धार्थ के पुत्र! गृहत्याग करके मौन साधना कर रहे हैं।"

प्रभु का परिचय पाते ही आरक्षकों को पसीना छूट गया। वे कांपते हुये उनके चरणों में गिर पड़े और अपराध के लिये क्षमा मांगने लगे।[2]

आत्मगुप्ति की इस कठोरचर्या के कारण भगवान महावीर के जीवन में अनेक विकट संकट आये, पर वे अपने संकल्प से एक तिलभर भी विचलित नहीं हुए।

चोराक सन्निवेश से प्रभु एकबार कलंबुका सन्निवेश गये। वहाँ के अधिकारी थे मेघ और कालहस्ती। यद्यपि वे वहाँ के जमींदार थे, पर पास-पड़ोस के राज्यों में जाकर डाका भी डालते थे। कलंबुका के विकट जनशून्य मार्ग में महावीर की कालहस्ती से भेंट हो गई। साथ में गोशालक भी था। कालहस्ती ने पूछा—"तुम कौन हो?" महावीर मौन रहे। कालहस्ती को आशंका हुई कहीं ये गुप्तचर तो नहीं हैं? उसने दोनों को बड़ी निर्दयता से पीटा और फिर बांधकर मेघ के पास भेज दिया।

मेघ ने महावीर को क्षत्रियकुण्ड में सिद्धार्थ राजा के घर पर देखा था। उसने पहचान लिया। इस निर्मम पिटाई और क्रूर बंधन को देख कर उसे अपने

१ ये दोनों परिव्राजिकाएँ निमित्तशास्त्री उत्पल की बहनें थीं।

२ घटना वर्ष वि. पू. ५०६-५०८ ग्रीष्मऋतु।

अपकृत्य पर पश्चात्ताप होने लगा। आंखों से आँसू बहाते हुए वह प्रभु के चरणों में गिर पड़ा— "प्रभो ! क्षमा कीजिये। आपको नहीं पहचानने से यह घोर अपराध हो गया है। हम बड़े अधम और नीच हैं, जो आप जैसे महापुरुष को कष्ट देने से नहीं चूके।"

क्षमामूर्ति महावीर तो पीड़ा के समय भी प्रशांत और प्रसन्न थे, अब भी उसी प्रशांत मुद्रा में उन्होंने मेघ को क्षमादान भी कर दिया। प्रभु के इस क्षमादान से मेघ के अन्तर्हृदय में अवश्य ही एक प्रकाश-किरण जगी होगी और उसने दुष्कर्म त्यागकर प्रभु के सत्संग का लाभ उठाया—यह सहज ही कल्पना की जा सकती है।[१]

प्रभु के साधना-काल में इस प्रकार की घटनाओं की कई पुनरावृत्तियाँ हुईं। लोगों के न पहचानने और उनके सदा मौन धारण किये रहने के कारण कई बार उन्हें गुप्तचर समझकर संत्रास दिया गया।

साधना-काल के छठे वर्ष में श्रमण महावीर विहार करते हुये 'कूपीयसन्निवेश' गये। वहाँ पर भी आरक्षकों ने आपका परिचय पूछा, पर मौन धारण किये होने से उन्होंने प्रभु को कारागार में बंद कर दिया। एक श्रमण को कारागार में बंदी बनाने की चर्चा सन्निवेश में फैली तो वहां रहने वाली दो परिव्राजिकाओं (विजया और प्रगल्भा) को बड़ा धक्का पहुंचा, वे तुरन्त राजसभा में आईं, श्रमण वर्धमान को वहाँ देखकर उन्होंने राजपुरुषों को खूब आड़े हाथों लिया —"कैसे राजपुरुष हो तुम ! तुम्हें चोर और साहूकार की भी पहचान नहीं ? ये सिद्धार्थ राजा के पुत्र श्रमण महावीर हैं, इन्हें कष्ट दे रहे हो ? यदि कहीं देवराज इन्द्र कुपित हो गये तो तुम्हारी क्या दशा होगी ?"

श्रमण महावीर का परिचय जानकर राजपुरुष तुरन्त उनके चरणों में गिरे और विनयपूर्वक क्षमा-याचना करने लगे। प्रभु ने हाथ ऊपर उठाकर अभयमुद्रा के साथ सबको अभयदान दिया।[२]

प्रभु महावीर जान-बूझकर अधिकतर ऐसे अपरिचित क्षेत्रों में जाते, जहाँ कष्टों एवं यातनाओं के उत्पीड़न में वे अपने को अधिक-से-अधिक प्रसन्न शान्त और स्थिर रख सकें। सोना जैसे अग्नि की ज्वालाओं से अधिक निखरता है, वैसे ही श्रमण महावीर की साधना कष्टों की अग्नि में प्रतिपल निखर रही थी; अधिक

१ घटना वर्ष वि. पू. ५०८-५०७

२ घटना वर्ष वि. पू. ५०७-५०६ (साधना काल का छठा वर्ष)

तेजोदीप्त हो रही थी, पर, गोशालक उन यातनाओं से घबरा उठा। उसने प्रभु से कहा—"देवार्य ! आपके साथ रहते हुए तो मुझे ऐसे कष्ट उठाने पड़ रहे हैं, जिनकी जीवन में आज तक कल्पना भी नहीं की। पशु से भी बदतर मेरी दशा हो रही है, आप तो मुझे कभी बचाते भी नहीं। अतः अब मैं आपके साथ नहीं रहूंगा।"

प्रभु मौन रहे, गोशालक साथ छोड़कर कहीं अन्यत्र चला गया।[१]

अविचल ध्यानयोग

(कटपूतना का उपद्रव)

श्रमण महावीर कायोत्सर्ग और ध्यान-योग की एक जीवंत मूर्ति थे। भयानक जंगलों में, घोर झंझावातों और तूफानों में, कड़कड़ाती सर्दी और चिलचिलाती धूप में भी वे सदा ध्यान-मग्न रहते थे। लीनता भी इतनी कि तन पर भयंकर शस्त्र-प्रहार हों, या अग्निज्वालाएँ झुलसाने आ रही हों; फिर भी वे सुमेरु की भाँति अविचल अप्रकंपित खड़े ही रहते। कोई भी प्राकृतिक उपसर्ग या दैविक आपत्तियां उनका ध्यान भंग नहीं कर सकीं। उनके अविचल ध्यानयोग और सुमेरु-सी स्थितप्रज्ञता के एक दो प्रसंग ये हैं—

श्रावस्ती से विहार कर प्रभु हलिद्दुग गाँव की ओर जा रहे थे। गाँव के बाहर एक विशाल वृक्ष था। रात्रि में प्रभु महावीर उसी वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गये। तब तक गोशालक भी साथ था। वह भी एक ओर बैठा रहा। इस मार्ग से गुजरने वाले अनेक यात्रियों ने भी रात्रि में वृक्ष के नीचे आश्रय लिया। शीत-ऋतु थी, इसलिये यात्रियों ने इधर-उधर से घास-पात व लक्कड़ इकट्ठे कर आग जलाई और रातभर तापते रहे। प्रातः सूर्योदय के समय यात्रियों का काफिला आगे चल पड़ा, पर आग किसी ने नहीं बुझाई। हवा के वेग से आग बढ़ने लगी, गोशालक चिल्लाया—"भगवन् ! आग बढ़ रही है, भागो ! भागो !" और वह तो भाग खड़ा हुआ। प्रभु ध्यान में स्थिर थे। वे आग और पानी से कब भयभीत होते ? आग की लपटें बढ़ती हुईं उनके पैरों के निकट आ गईं, पाँव झुलस भी गये, पर महाश्रमण तब भी अपने समता-रस-स्रावी ध्यान में निमग्न रहे। अग्निज्वालाएँ जैसे समता-सुधा के समक्ष स्वतः ही शान्त हो गईं।[२]

---

१ घटना वर्ष वि. पू. ५०५-५०४

२ घटना वर्ष वि. पू. ५०८-५०७ (शीतऋतु)

ध्यानयोगी महाश्रमण की स्थितप्रज्ञता की अग्नि-परीक्षा तो इससे भी आगे हुई जब कटपूतना नामकी राक्षसी ने उन्हें प्राणान्तक कष्ट दिये।

प्रभु महावीर शालिशीर्ष नगर के बाहर उद्यान में कायोत्सर्ग करके खड़े थे। माघ का महीना था। रोम-रोम कंपा देने वाली ठंडी हवाएँ और एकांत वन! उस समय कटपूतना नामक व्यन्तर-कन्या उधर आई। प्रभु को ध्यानस्थ देखकर उसके मन में पूर्वजन्म का द्वेष जाग उठा। व्यन्तर-कन्या ने परिव्राजिका का विकराल रूप बनाया। बिखरी हुई जटाओं में बर्फ-सा शीतल पानी भरकर प्रभु के शरीर पर बरसाने लगी। भयंकर अट्टहास करती हुई वह उनके कन्धों पर खड़ी हुई और बर्फीली तेज हवाएँ चलाकर वातावरण को शीतलता के शून्यबिन्दु से भी नीचे ला दिया। कड़कड़ाती सर्दी में बर्फ से भी ठण्डी फुहारें शरीर पर गिरें और फिर तेज बर्फीली हवाएँ चलें—उस असाधारण शीत में—जब पानी भी जमकर बर्फ बन जाता हो, मनुष्य का रक्त नसों में जम जाय और वह तुरन्त समाप्त हो जाय, यह सामान्य बात थी। किन्तु प्रभु महावीर उस भीषण उपसर्ग में भी अपने ध्यानयोग में अविचल और शान्त रहे। धैर्य और मनोविशुद्धि की उस उत्कृष्ट स्थिति में उन्हें 'लोकावधिज्ञान' उत्पन्न हुआ। सच ही अग्नि की ज्वालाओं में पड़कर स्वर्ण की कांति अधिक ही निखरती है। उपसर्गों की अग्नि ने प्रभु महावीर के तेज को अधिक निखार दिया। उनके अविचल धैर्य, साहस और अभंग समाधिभाव के समक्ष राक्षसी का क्रोध हार गया। वह चरणों में विनत हो अपराध के लिए क्षमा मांगने लगी।[1]

कष्टों की कसौटी पर

साधना काल में श्रमण महावीर को विविध यातनाओं और उपसर्गों का सामना करना पड़ रहा था। सामान्य मनुष्य तो कब का ही घबराकर उनसे किनारा कर जाता, पर, श्रमण वर्धमान तो वीर ही नहीं, महावीर थे। तितिक्षा उनका परम धर्म था। कष्टों को वे कसौटी मानते थे और उन पर स्वर्ण की भांति अपने जीवन को चढ़ा देते थे। बहुत बार प्राणान्तक कष्ट भी आये, अधिकतर अपरिचित व्यक्तियों द्वारा; पर महावीर उनसे बचने की चेष्टा करने के बजाय सीना तानकर उनके समक्ष खड़े हो जाते, उपसर्गों में जूझते रहते एक अपराजेय योद्धा की भांति। कभी-कभी ऐसा भी होता उपसर्ग अपनी चरम विकटता पर पहुंच रहा होता—तभी कोई पूर्व

१ घटना समय वि. पू. ५०६ शीतऋतु (साधना काल का छठा वर्ष)। इस उपसर्ग के समय गोशालक के साथ में नहीं था।

परिचित व्यक्ति उपस्थित हो जाता, जनता को प्रभु का परिचय देता, उपसर्ग टल जाता और आक्रमणकारी विनय के साथ चरणों में झुक जाता। यह स्थिति उनके हित में होते हुए भी श्रमण महावीर ऐसे प्रसंगों पर प्रसन्नता का अनुभव नहीं करते। वे तो उपसर्ग और पीड़ा की उस चरमस्थिति को छूना चाहते थे—जहां उनकी तितिक्षा और सहिष्णुता की, समता और स्थितप्रज्ञता की अन्तिम कसौटी होती। वे आत्मा के साथ पूर्व-बद्ध असातावेदनीय कर्मों की जटिल तथा घनी स्थिति को अनुभव कर रहे थे, और उनकी तीव्र निर्जरा के लिए ध्यानयोग के साथ परम तितिक्षा और सहिष्णुता का ही एकमात्र मार्ग उनके समक्ष था, इसलिए बार-बार वे स्वयं को कष्टों की कसौटी पर कसना चाहते थे।

जब उन्होंने देखा कि मगध व अंग आदि प्रदेशों में अब बहुत से लोग उनको पहचानने लगे हैं, इसलिए उपसर्ग कम और पूजा व सम्मान अधिक होता है, तो उन्होंने संकल्प किया कि वे इन प्रदेशों को छोड़कर कुछ समय के लिए अपरिचित प्रदेशों में विहार करेंगे—जहां के लोग उनसे सर्वथा अपरिचित होंगे। इसी निश्चय के साथ साधना-काल के पांचवे वर्ष में राढ़-भूमि की ओर उन्होंने विहार कर दिया। गोशालक भी तब साथ में ही था। इस प्रदेश के लोग श्रमण के आचार-विचार से तो क्या, उनकी वेश-भूषा से भी सर्वथा अनभिज्ञ थे। फिर स्वभाव से वे क्रूर, दुष्ट और हिंसकवृत्ति के भी थे। इसलिए श्रमण महावीर को इस प्रदेश में अत्यधिक कष्टों का सामना करना पड़ा। इन प्रदेशों में श्रमण महावीर ने साधना-काल में दो बार विहार किया। और दोनों ही बार प्राणान्तक पीड़ाओं को झेलते हुए वे कष्टों की अग्नि में स्वयं को झोंकते गये।[1] इस प्रदेश में महावीर को जो उपसर्ग हुए उनका संक्षिप्त विवरण आचारांगसूत्र में आर्य सुधर्मा ने यों दिया है—"उस प्रदेश के अनार्यलोगों की दृष्टि में महावीर उनके शिकार और उनके मनोरंजन की वस्तु थे। वे नग्न श्रमण को देखकर उन्हें पीटते, गीली बेंतों से उन पर प्रहार करते, जिसके निशान उनकी चमड़ी पर उभर आते। शिकारी कुत्ते उन पर छोड़ देते, जो उनकी पिंडलियों का मांस नोंच लेते, लोग देखते रहते और कुत्तों को भगाने के बजाय तालियां दे-देकर नाचते। कितनी ही बार लोग उनको लकड़ियों, मुट्ठियों, भाले की नोकों, पत्थर तथा हड्डियों के खप्परों से पीट-पीट कर शरीर में घाव कर देते, रक्त की धाराएँ बहा देते। वे जब ध्यान में स्थिर खड़े रहते तो उन पर धूल बरसाते, शस्त्र से प्रहार कर डालते, धकेल देते और उठाकर गेंद की तरह दूर फेंक देते—महज कुतूहलवश, कि इतना सब होने पर

१ प्रथम बार वि. पू. ५०८ साधना काल के पांचवें वर्ष में, दूसरी बार फिर चार वर्ष बाद वि. पू. ५०४ में साधना काल के नौवें वर्ष में। इस विहार में गोशालक पुनः साथ रहा।

भी यह चिढ़ता क्यों नहीं, और यहां से भाग क्यों नहीं जाता।"[1] लोगों को आश्चर्य भी होता, इस श्रमण का शरीर क्या वज्र या फौलाद का बना है, जो इतनी पीड़ाएँ सहकर भी जीवित रह रहा है। भोजन और शय्या का तो प्रश्न ही क्या, यदि कभी संयोगवश दो चार मास में मिल गया तो इतना रूखा और बासी अन्न कि छह महीने का भूखा भिखारी भी उसे खाना नहीं चाहे। दूसरी बार के बिहार में तो प्रभु को चातुर्मास-काल में ठहरने के लिए कहीं एक छप्पर भी नहीं मिला, तो वृक्षों के नीचे घूमते-फिरते ही उन्होंने वर्षावास पूरा किया। इस प्रकार उस अनार्यभूमि में घोर कदर्थनाएँ, प्राणान्तक पीड़ाएँ सहकर भी प्रभु सदा समबुद्धि, प्रशान्त और धर्म एवं शुक्लध्यान में लीन रहे।"

अनार्य प्रदेश में विहार करके प्रभु ने स्वयं की अत्यधिक कर्म-निर्जरा तो की ही, अपनी समता तथा तितिक्षाशक्ति का उत्कृष्ट परीक्षण भी किया। किन्तु साथ में उन अनार्यों के मन में श्रमण के प्रति जो द्वेष, घृणा और दुर्भाव का विष घुला हुआ था, वह भी शांत किया, उनकी परम क्षमाशीलता से अवश्य ही अनार्यों का हृदय-परिवर्तन भी हुआ होगा और जैसे बुद्ध के समक्ष अंगुलिमाल डाकू ने आत्मसमर्पण कर दिया, वैसे अनेक दस्युओं ने महावीर के चरणों में विनत हो, अपनी दुष्टता का त्याग कर आत्मसमर्पण भी किया ही होगा—इसकी पूरी संभावना है, पर कोई घटना-विशेष का उल्लेख प्राचीन साहित्य में प्राप्त न होने से महावीर की अनार्य-प्रदेश में विहार-चर्या का रोमांचक विवरण कुछ अधूरा-सा ही प्रस्तुत करना पड़ रहा है।[2]

एक बार वैशाली के बाहर श्रमण महावीर कायोत्सर्ग में खड़े थे। निर्वस्त्र श्रमण को देखकर बच्चे उपहास करते हुए उन पर कंकर-पत्थर फेंकने लगे। श्रमण महावीर स्थिर थे धैर्य परीक्षा के इस प्रसंग पर अत्यन्त प्रसन्न! तभी गणराजा शंख, जो कि राजा सिद्धार्थ के मित्र भी थे, उधर से गुजरे। उन्होंने ध्यानस्थ श्रमण महावीर की ओर बालकों को कंकर-पत्थर फेंकते देखा, तो उनका हृदय खिन्न हो उठा। "महाश्रमण को अज्ञान बच्चे कितनी पीड़ा पहुंचा रहे हैं?" शंखराज अश्व से उतर कर आये, बच्चों को डांटकर भगाया और गद्गद् कंठ से महाश्रमण की अवि-चल समत्व-साधना की संतुति कर नगर के बालकों की ओर से क्षमायाचना की।[3]

१ आचारांग सूत्र श्रुतस्कंध १, अध्ययन ६, उद्देशक ३, गाथा ७ से १२।

२ पश्चिमी बंगाल में मुर्शिदाबाद की भूमि को 'राढ' भूमि कहा जाता था, आचारांग (१-६) में लाढ़, वज्रभूमि और शुभ्रभूमि नामों का उल्लेख भी मिलता है।

३ घटना वर्ष वि. पू. ५०२

गौशालक की रक्षा और रहस्यदान

वज्रभूमि आदि अनार्य प्रदेशों में श्रमण महावीर छह महीने तक विहार कर अनेक दुस्सह एवं प्राणघातक यातनायें झेलते रहे। इस स्वयं-गृहीत कष्ट से प्रत्यक्ष लाभ क्या हुआ, यह समझना कठिन होगा, किन्तु परोक्ष लाभ अनेक हुए। भविष्यद्रष्टा की नजर में वह यात्रा एक ऐतिहासिक-साहसिक यात्रा कही जा सकती है। प्रथम बात - समय-समय पर भगवान महावीर को चरम कोटि की तितिक्षा, समभाव और तप:-साधना के अनेक दुर्लभ प्रसंग प्राप्त हुए, जो अन्य प्रदेशों में सम्भवत: नहीं मिलते। इससे उनका परम इच्छित—'महान् कर्म-निर्जरा' का ध्येय भी पूर्ण हुआ।

दूसरी बात—अनार्यभूमि के वासी जो श्रमण की आकृति से भी घृणा एवं द्वेष करते थे, वे छहमास तक बराबर एक महान धीर-वीर तेजस्वी श्रमण के निकट में आये, भले ही उन्हें यातनायें दीं, पर उनकी कठोरतम यातनाओं को सहर्ष झेल कर श्रमण महावीर ने उनके हृदयों को झकझोर डाला, श्रमण की समता और तेजस्विता ने अमिट छाप उनके मानस पर डाली और उन्हें एक परिकल्पना दी, एक वास्तविकता के दर्शन कराये कि श्रमण सिर्फ पेट भरने के लिये नहीं, किन्तु साधना और जनकल्याण के लिये ही इस धरती पर विहार करता है। वह जीवन-मरण, सुख-दुख मान-अपमान एवं लाभ-अलाभ में सुमेरु की भाँति स्थिर, निष्कंप और सम रहता है। अनार्य भूमिवासियों के मन पर श्रमण के इस भव्य स्वरूप की कल्पना अवश्य अंकित हुई होगी, और इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह आया कि श्रमण महावीर के पश्चात् अनेक श्रमण उन क्षेत्रों में गये, पर इतने दुस्सह कष्ट उन्हें नहीं झेलने पड़े। स्पष्ट है कि श्रमण महावीर साधनाकाल में न सिर्फ स्वयं ही साधना-ध्यान में लीन रहे, किन्तु श्रमण-मार्ग के प्रति जनता की भ्रांतियां दूर कर एक आदर, श्रद्धा और सद्भावना का वातावरण भी निर्माण कर रहे थे।

अनार्य-क्षेत्रों की इस यात्रा में गौशालक भी साथ था। छह महीने तक उसने भी चाहे-अनचाहे अनेक कष्ट सहे और श्रमण महावीर की कठोर तितिक्षा एवं परम धीरता के प्रति मन-ही-मन अत्यन्त आदर करने लगा। अनार्यभूमि से लौटते हुये भगवान् महावीर कूर्मग्राम[1] की ओर जा रहे थे। मार्ग में तिल का एक छोटा-सा पौधा खड़ा था, जो रास्ते के करीब था, और बहुत संभव था, किसी भी क्षण,

1 पूर्वी बिहार में वीरभूम व सिद्धार्थपुर के आस-पास।

किसी भी यात्री के पैरों के तले दबकर रौंदा जाय। उसकी इसी अनिश्चित जीवन-लीला को देखकर कुतूहलवश गौशालक ने भगवान् महावीर से पूछ लिया—"भंते ! यह तिल-क्षुप (पौधा) अभी तो बड़ा सुन्दर दीख रहा है, इस पर सात फूल भी लगे हैं, पर क्या इसमें तिल भी पैदा होंगे ?"

श्रमण महावीर अपनी गजगति से गमन कर रहे थे। उनकी दृष्टि तो सिर्फ आगे के पथ पर ही थी, अगल-बगल झांकना तो गतिहीनता है। गौशालक के प्रश्न को सुनकर वे रुके, तिल-क्षुप की ओर संकेत कर बोले—"गौशालक ! इसमें क्या आश्चर्य की बात है ? जन्म-मरण की लीला तो अविरल-प्रतिपल चल ही रही है। सातों फूलों के जीव इस तिल की एक ही फली में सात तिल के रूप में उत्पन्न होंगे—यह तो प्रकृति का क्रम है—अगम्य होते हुये भी सहज !"

गौशालक हृदय से संशयशील था। कुतूहल और संशय से प्रेरित हो पीछे से उसने उस नन्हें से पौधे को उखाड़कर वहीं डाल दिया।

श्रमण महावीर आगे बढ़ते जा रहे थे। गौशालक पीछे से दौड़कर आया। कूर्मग्राम की वृक्षावलियां भी तब तक दिखाई पड़ने लग गई थीं। वहीं एक ओर एक तापस, जिसका नाम वैश्यायन था, धूप में खड़ा था। वह सिर नीचा लटकाये, दोनों हाथ सूर्य के सामने ऊँचे उठाये तपस्या कर रहा था। उसकी लम्बी-लम्बी जटाएँ धरती को छू रही थीं जैसे बड़ की शाखाएँ हों। जटा से जूँए भूमि पर गिरकर मारे धूप के अकुला रही थीं। तपस्वी उन जूओं को उठाकर फिर से अपने सिर में डाल रहा था, ताकि कड़ी धूप के कारण उनकी हत्या न हो जाय।

गौशालक को यह दृश्य बड़ा ही विचित्र लगा। उसने श्रमण महावीर को अनेक प्रकार की कठोर तपस्याएँ करते देखा था, पर ऐसा विचित्र तप कभी नहीं देखा, इसलिए गौशालक को कुतूहल हुआ। वह मुंहफट तो था ही, बोलने में भी असभ्य, लोक-व्यवहार से अनभिज्ञ ! फिर अपने ज्ञान और साधना का गर्व भी था उसे ! तिरस्कार के स्वर में वह बोला—"अरे ! अरे ! यह क्या तमाशा कर रहा है ? तू कोई तापस है, खड़ा-खड़ा ध्यान कर रहा है या जूँओं को बीन रहा है ? ये जूँए ही तेरी मेहमान हैं, तू इन जूँओं का शय्यातर (आश्रय-केन्द्र) ही लगता है, जो बार-बार उठाकर इन्हें अपनी जटाओं में विराजमान कर रहा है ?"

गौशालक का कटु आक्षेप सुनकर भी वैश्यायन चुप रहा। उत्तर नहीं पाकर गौशालक को फिर जोश आया और दूसरी बार कुछ जोर से, कुछ और कठोर शब्दों में पुकारा। बार-बार के वचन-प्रहार से तापस का तामस जाग उठा। वह तिलमिला

कर लाल-लाल अंगारे की-सी आँखों से गोशालक को निहारने लगा और बोला—दुष्ट, तपस्वी से मजाक ! ठहर जा ! अभी तुझे तेरी करनी का फल चखाता हूं—और क्रोधाविष्ट तापस ने कुछ कदम पीछे हटकर एक भयंकर तेजस् (तेजोलेश्या) आग-सा दाहक धूम्र गोशालक पर फैंका। गोशालक के तो तोते उड़ गये, सिर पर पैर रखकर दौड़ा प्रभु महावीर की ओर—"प्रभो ! मरा, मरा ! बचाओ ! यह आग मेरा पीछा कर रही है ।"

गोशालक की करुण चीख ने श्रमण महावीर के अन्तस् को द्रवित कर दिया। करुणा का प्रवाह फूट पड़ा। अग्नि-सा धधकता धूम्र गोशालक पर आता देखकर तुरन्त उन्होंने अपनी शीतल-तपःशक्ति (शीतल तेजोलेश्या) का प्रयोग किया, बस, उस महाश्रमण के नयनों में ही अमृत भरा था, अमिय-दृष्टि से झाँकते ही वैश्यायन की तेजोलेश्या शान्त हो गई। गोशालक की जान में जान आई। तापस ने अपने से प्रखर शक्तिशाली साधक का प्रतिरोध देखा, तो वह विनय से झुक गया और वहीं खड़ा नम्र शब्दों में बोला—"जान लिया, प्रभो ! आपकी शक्ति का अद्भुत प्रभाव जान लिया !"

गोशालक घबराया हुआ-सा तो था ही, तापस की संकेत-भाषा में वह कुछ भी समझ नहीं पाया। बोला—'प्रभो ! यह जूँओं का पिण्ड (शय्यातर) क्या बक-बक कर रहा है ?"

प्रभु महावीर ने उसे समझाया - "अभी वह तुझे भस्मसात् कर डालता। तेरे कटु आक्षेपों से क्रुद्ध हो तुझे भस्म करने के लिए उसने अपनी तेजोलेश्या छोड़ी थी। यदि मैंने शीतलेश्या का प्रयोग न किया होता, तो तू जलकर राख हो जाता। मेरे शीतल प्रयोग के उत्तर में ही वह मुझसे क्षमा माँग रहा है।"

तेजोलेश्या का यह तीव्र-दहनशील प्रयोग देखकर गोशालक अत्यन्त भयभीत हो गया। भय हमेशा शक्ति की शरण खोजता है गोशालक के मन में भी तेजोलेश्या के प्रति आकर्षण बढ़ा। विनयपूर्वक उसने प्रभु महावीर से पूछा - 'प्रभो ! यह तेजोलेश्या क्या चीज है ? कैसे प्राप्त की जाती है ?'

महावीर यद्यपि परिणामदर्शी थे, अयोग्य व्यक्ति को तेजस्शक्ति का रहस्य बताने के परिणाम कितने खतरनाक हो सकते हैं, उनसे छुपे नहीं थे, फिर भी भावी वश उन्होंने गोशालक को तेजोलेश्या प्राप्त करने की सम्पूर्ण विधि बता दी। वह विधि इस प्रकार है—

"जो मनुष्य छह महीनों तक निरन्तर छठ तप (बेला) करके सूर्य के सामने दृष्टि रखकर खड़ा-खड़ा आतापना लेता है, उबले हुये मुट्ठी भर उड़द और

चुल्लूभर गरम पानी से पारणा करता है, उस व्यक्ति को थोड़ी-बहुत (योग्यतानुसार) तेजोलेश्या उत्पन्न हो सकती है।"[1]

महावीर द्वारा गोशालक ने तेजलेश्या की साधना का संपूर्ण रहस्य प्राप्त कर लिया। कुछ समय बाद भगवान् कूर्मग्राम से निकले। गौशालक पीछे-पीछे इधर-उधर देखता भटकता चल रहा था कि सहसा उसकी दृष्टि उसी तिलक्षुप के स्थान पर पड़ी। वहां पास में ही एक तिल का छोटा-सा पौधा खड़ा था। पर, गौशालक को लगा—यह पौधा कोई दूसरा है, चूँकि उस पौधे को तो उखाड़कर फेंक दिया था। अतः कुछ व्यंग्यपूर्वक उसने श्रमण महावीर से कहा—"देखिए भगवन्! आपने जिस तिल-क्षुप में सात जीव पैदा होने की भविष्यवाणी की थी, उन जीवों का क्या, विचारे पोधे का भी कहीं पता नहीं है।"

गौशालक की शरारत और दुष्टता महावीर से छुपी नहीं थी, पर क्षीर-सागर का अनन्त जल सांपों के लोटने से कभी जहरीला हुआ है? प्रभु महावीर उसी गम्भीरता के साथ बोले—"गौशालक! तुम भ्रान्ति में हो। जिस तिल-क्षुप को तुमने उखाड़ फेंका था, वह वहीं पर कुछ समय बाद गाय के खुर से दब गया और उसी दिन वर्षा हो जाने से वह पुनः भूमि में अकुरित हो गया। किसी के आयुष्य-बल को क्या कोई समाप्त कर सकता है? यह वही पौधा है, और इसकी एक फली में वही सात फूल सात तिल बनकर पैदा हुए हैं।"

श्रद्धाहीन गौशालक ने तिल के पेड़ से फली तोड़ी तो ठीक उसमें सात तिल निकले। गौशालक की वाचा चुप हो गई, पर उसके हृदय में उथल-पुथल मच उठी। इस घटना से वह नियतिवाद का कट्टर समर्थक बन गया। कुछ घटनाएँ पहले भी उसके समक्ष घट चुकी थीं। भगवान् महावीर ने जैसा भविष्य कहा, वैसा ही हुआ—उन घटनाओं की प्रतिक्रिया गोशालक के मन पर यह हुई कि, "जो कुछ होना है, वह पहले से ही निश्चित होता है। उसमें कोई कुछ परिवर्तन नहीं कर सकता। तथा जीव मर कर अपनी ही योनि में उत्पन्न होता है।"

गोशालक श्रमण महावीर के पास वि० पू० ५१० (साधनाकाल के दूसरे वर्ष) में आया था, और वि० पू० ५०३ (साधनाकाल के दसवें वर्ष) तक लगभग ७-८ वर्ष तक उनके पीछे-पीछे घूमता रहा। कष्टों से घबराकर बीच में लगभग ६ मास तक वह श्रमण महावीर से दूर भी रहा, पर इधर-उधर भटक कर पुनः वह प्रभु की शरण में आ गया।

१ भगवती सूत्र १५।३

हम यह तो नहीं कह सकते कि गौशालक सिर्फ पेट भरने के लिए ही श्रमण महावीर के साथ-साथ घूमा हो, चूँकि कष्टों के, यातानाओं के विकट प्रसंगों पर भी भगवान् महावीर का साथ छोड़कर वह नहीं भागा। उसने श्रमण महावीर में उत्कट त्याग, तप, निस्पृहता, सहिष्णुता तथा साथ ही विभिन्न प्रकार की दिव्य-विभूतियों के दर्शन किये, उनके साथ उसका प्रलोभन हो, या आकर्षण, और कुछ भी कारण हो, वह प्रभु का पल्ला पकड़े रहा। हाँ, यह भी स्पष्ट ही है कि वह मुँहफट, उच्छृंखल एवं क्रोधी स्वभाव का था। उसका हृदय संशयशील, शरारती एवं कुतूहलप्रिय भी था, इस प्रकार के अनेक प्रसंग श्रमण महावीर के साथ भी आये, पर, श्रमण महावीर उसकी तमाम दुष्टताओं को, अवहेलनाओं को उपेक्षित करते गये। उसके संग संकट उठाकर भी कभी उन्होंने क्षोभ अनुभव नहीं किया। समय-समय पर प्रभु महावीर ने गौशालक के समक्ष कुछ ऐसी भविष्यवाणियाँ भी कीं, जो अक्षरशः सत्य तो होनी ही थीं पर उससे गोशालक को लाभ के बजाय हानि ही हुई। वह प्रारम्भ में किस सिद्धान्त का था, यह उसके व्यवहार से कोई पता नहीं चलता, पर इन भविष्यवाणियों को सत्य होते देखकर नियतिवाद में उसका दृढ़ विश्वास होता गया। उसने यह धारणा बना ली—संसार में जो भी कुछ होने वाला है, वह सब पहले ही निश्चित है (तभी तो ज्ञानी उनके विषय में भविष्य-कथन कर सकता है) और उसे ज्ञानबल से जाना जा सकता है।

भगवान् महावीर के अपूर्व ज्ञानबल (भविष्यकथनशक्ति), तप एवं ध्यान के कारण देवों की पूज्यता तथा कुछ विशिष्ट लब्धियाँ (तेजोशीतल लेश्या आदि) देख कर गौशालक के मन में प्रारम्भ में श्रद्धा बनी होगी, आगे चलकर स्वयं भी महावीर जैसा विभूतिसम्पन्न बनने के स्वप्न देखने लगा। जब तेजोलेश्या की साधना-विधि उसने महावीर से जान ली तब तो जैसे चींटी को पर आ गये। वह उतावला हो गया, उस अद्‌भुत एवं चमत्कारी शक्ति को प्राप्त करने के लिए। इन्हीं सब भावनाओं के वेग ने गौशालक को महावीर से अलग होने को प्रेरित किया। उसने नियतिवाद का बहाना ढूँढा, प्रभु महावीर ने जब एक तिल में उत्पन्न सात तिल की बात कही और वह सत्य सिद्ध हुई तो गौशालक बोला—'इसका अर्थ है सभी जीव इसी प्रकार मरकर पुनः अपनी ही योनि में उत्पन्न होते हैं।' प्रभु महावीर ने गौशालक की इस मिथ्या धारणा का निरसन किया होगा और तब गौशालक को प्रभु महावीर से अलग होने का सीधा बहाना मिल गया। वह भगवान का साथ छोड़कर श्रावस्ती की ओर चला गया।[1]

१ (क) घटनावर्ष वि. पू. ५०२ (ख) भगवतीसूत्र १५।३। (ग) त्रिषष्टि० पर्व १०, सर्ग ४।

श्रावस्ती में हालाहला नाम की संपन्न कुम्हारिन रहती थी। वह आजीवक मत की अनुयायी थी, गौशालक भी अपने को इसी संप्रदाय का भिक्षुक बताता था। वह श्रावस्ती में उसी कुम्हारिन की शाला में ठहर गया, और वहां तेजोलेश्या की साधना में लग गया।

छह मास की कठोर तपश्चर्या एवं आतापना के बल पर गौशालक ने सामान्य तेजोलब्धि प्राप्त कर ली। उसे यह भी संशय हुआ कि मेरी शक्ति महावीर जैसी प्रभावशाली है या नहीं, अतः इसका परीक्षण करने के लिए वह नगर से बाहर निकला। पनघट पर नगर की महिलाएँ पानी भर रही थीं। गौशालक ने एक महिला (दासी) के भरे हुये घड़े पर कंकर से निशाना मारा, घड़ा फूट गया, महिला पानी से तर हो गई। भिक्षुक वेषधारी की इस शरारत पर महिला को बहुत क्रोध आया, वह गालियां बकने लगीं। गौशालक तो पहले ही अग्निपिंड था, गालियां सुनते ही भड़क उठा और आव देखा न ताव, उसने महिला पर तेजोलेश्या का प्रयोग कर डाला। महिला वहीं भस्म हो गई। बाकी सब महिलाएँ भयभीत होकर भाग गईं।

कुछ दिन बाद पार्श्वनाथ-परम्परा के छह दिशाचरों[1] (पार्श्वस्थ श्रमण) से गौशालक की भेंट हो गई। वे अष्टांग निमित्त के पारगामी थे। गौशालक कुछ दिन उनके साथ भी रहा और उनसे निमित्त-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर लिया, जिसके बल पर वह सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीवित-मरण इन छह बातों में सिद्धवचन नैमित्तिक बन गया। इस प्रकार तेजोलेश्या एवं निमित्तज्ञान जैसी असाधारण चमत्कारी शक्तियों ने गौशालक का महत्त्व बहुत बढ़ा दिया। उसके अनुयायियों एवं भक्तों की संख्या बढ़ने लगी। भक्तों के बल पर वह साधारण भिक्षु भगवान् बन बैठा, स्वयं को आजीवक-संप्रदाय का आचार्य एवं तीर्थंकर बताने लगा।

भगवान् महावीर के जीवन में गौशालक का यह प्रकरण बड़ा विचित्र है। गौशालक को शिष्य रूप में स्वीकार करना, साथ लिये घूमना, बार-बार भविष्य कथन करना, शीतललेश्या का प्रयोग करना तथा उसकी साधना-विधि बताना—ये सब प्रसंग श्रमण महावीर की सहज सरलता, सौहार्द्रता, कारुणिकता और परोपकार-परायणता की दृष्टि से बड़े ही मार्मिक हैं।

१ इनके नाम थे क्रमशः—शोण, कलिंद, कर्णिकार, अच्छिद्र, अग्निवैश्यायन और अर्जुन।

अग्निपरीक्षा

श्रमण महावीर के जीवन में तप, तितिक्षा और ध्यान की त्रिवेणी का संगम था, कठोर तप के साथ ध्यान के शान्त प्रकोष्ठ में प्रवेश करके वे अन्तर्लीन हो जाते। ऐसे प्रसंगों में अनेक देव, पिशाच, क्रूर पशु एवं हिंसक मनुष्य उन पर प्राणान्तक आक्रमण करते, कोई सहज स्वभाव के कारण, कोई किसी द्वेष के कारण, और जब तितिक्षा का प्रसंग महावीर के समक्ष आता, तो वे उन उपसर्गों में कितने शान्त, प्रसन्न और अन्तर्लीन रहते थे, यह तो पूर्व की घटनाओं से स्पष्ट हो ही जाता है। किन्तु इतने उग्र उपसर्ग सहते हुए भी उनकी साधना अभी तक सिद्धि के द्वार तक नहीं पहुंची। कई कठोर परीक्षाएं हो जाने के बाद भी एक उग्रतम अग्निपरीक्षा का प्रसंग पुनः उनके साधना काल के ग्यारहवें वर्ष में आया। एक ही रात में इतने हृदय-द्रावक व प्राणघातक कष्टों का आक्रमण देखकर योद्धाओं का वज्र-हृदय भी दहल जाता है, किन्तु इस परमयोगी का तो रोम भी प्रकम्पित नहीं हुआ।

गोशालक की बला से मुक्त होकर श्रमण महावीर ने विविध प्रकार के तप करते हुए श्रावस्ती में वर्षावास किया। यहां पर ध्यान व योग की अनेक प्रक्रियाओं द्वारा साधना को और प्रखर बनाया। चातुर्मासोपरान्त शीतकाल की कठोर सर्दी में प्रभु ने भद्रा, महाभद्रा तथा सर्वतोभद्र प्रतिमाओं की कठोर तपश्चरण की विधि स्वीकार की, और साथ ही ध्यान की श्रेष्ठतम श्रेणी पर आरूढ़ रहने लगे। तभी का यह एक प्रसंग है—

तीन दिन का उपवास करके श्रमण महावीर पेढ़ाल-उद्यान[1] में कायोत्सर्ग करके खड़े थे और उत्कृष्ट ध्यान-प्रतिमा में लीन थे। उनका तन कुछ आगे की ओर झुका हुआ था, एक अचित्त पुद्गल पर अनिमेष दृष्टि टिकी थी। तन, मन और प्राण स्थिर थे, और वे अकम्प वज्रसंकल्प लिये ध्यानलीन थे। इस अपूर्व ध्यानलीनता को देखकर देवराज इन्द्र भी गद्गद हो गये और प्रमोद के साथ उनके मुंह से निकल पड़ा—"आज संसार में ध्यान, धीरता और तितिक्षा में श्रमण वर्धमान की तुलना करने वाला कोई पुरुष नहीं है। सुमेरु से भी अधिक उनकी निश्चलता को मनुष्य तो क्या, कोई देव और दानव भी भंग नहीं कर सकता। धन्य है ऐसे महाप्राण अध्यात्म-योगी को।" इतना कहते-कहते भक्तिवश देवराज इन्द्र का मस्तक झुक गया।

१ अनार्य-बहुल दृढ़भूमि के निकट पेढाल ग्राम था, उसी के बाहर था यह उद्यान।

उस सभा में संगम नाम का एक देव उपस्थित था, जो बहुत ही ईर्ष्यालु व अहंकारी था। उसने कहा—"देवराज के मुख से मनुष्य जैसे प्राणी की यह प्रशंसा शोभा नहीं देती, यह मिथ्यास्तुति सिर्फ श्रद्धातिरेक का प्रदर्शन है। मनुष्य में यह क्षमता है ही नहीं कि वह देवशक्ति के समक्ष टिक सके।"

देवराज संगम की चुनौती पर क्रुद्ध तो हुये, फिर भी संयत स्वर में बोले—"तुम्हारा अहंकार मिथ्या सिद्ध होगा, न कि मेरा कथन।"

"—यदि आप हस्तक्षेप न करें तो मैं इसकी परीक्षा कर महावीर को ध्यान-च्युत कर सकता हूं"—संगम कुछ आवेश में आकर बोला। देवराज चुप रहे और संगम अपनी सम्पूर्ण शक्ति बटोर कर श्रमण महावीर की अग्निपरीक्षा लेने उसी रात्रि में पेढ़ाल-उद्यान में पहुंच गया।

अचानक सांय-सांय की आवाज से दिशाएं कांप उठीं। भयंकर धूल भरी आंधी से महावीर के शरीर पर मिट्टी के ढेर जम गये। आंख, नाक, कान और पूरा शरीर धूल से दब गया, पर, महावीर ने अपने निश्चय के अनुसार आंख की पलकें भी बन्द नहीं कीं।[१]

आंधी शान्त हुई कि वज्र जैसे तीक्ष्ण मुंहवाली चींटियां चारों ओर से महावीर के शरीर को काटने लगीं। तन छलनी-सा हो गया, पर महावीर का मन वज्र-सा दृढ़ रहा।[२]

तभी मच्छरों का झुंड महावीर के शरीर को काट-काट कर रक्त चूसने लगा; ऐसा हो गया मानो, किसी वृक्ष से रस चू रहा हो या पर्वत से रक्त के झरने बह रहे हों।[३]

मच्छरों का उपद्रव शान्त नहीं हुआ कि दीमकें महावीर के पूरे शरीर पर लिपट गईं और भयंकर दंश मारकर काटने लगीं।[४]

फिर बिच्छुओं के तीव्र दंश-प्रहार[५], नेवलों द्वारा मांस नोचना[६], भीमकाय विषधर सर्पों द्वारा शरीर पर लिपटकर जगह-जगह दंश मारना[७] और इसके बाद तीखे दांत वाले चूहे काट-काट कर महायोगेश्वर को त्रास देने लगे।[८]

फिर जंगली हाथी ने दंतशूल से प्रहार कर महावीर को सूंड़ में पकड़कर गेंद की तरह आकाश में उछाल दिया, पैरों के नीचे मिट्टी की भांति रौंद डाला[९], मत्त हथिनियों ने भी उसी प्रकार अपना क्रोध उंड़ेल कर त्रास दिया[१०] पर, तब भी महावीर अपनी अन्तश्चेतना में लीन रहे।

१ ये अंक संगम द्वारा किये गये बीस उपसर्गों के सूचक हैं।

अब एक भयंकर पिशाच अट्टहास से शून्य दिशाओं को भय-भैरव बनाता हुआ प्रभु के समक्ष आया, अनेक प्राणघातक आक्रमण करने पर भी महावीर को वह चलित नहीं कर सका।[११]

तभी त्रिशूल जैसे तीक्ष्ण नखों वाला बाघ महावीर पर झपटा, वह स्थान-स्थान से मांस नोंचने लगा, पर वे प्रस्तर-प्रतिमा की तरह अचल खड़े थे, उन पर इन आघातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।[१२]

संगम ने सिर धुना—महावीर भय एवं पीड़ा से आक्रान्त नहीं हो सकते, वे सर्वथा अभय, देह-संत्रास से मुक्त और मेरु से भी अधिक कठोर हैं। अपनी असफलता पर सिर धुनकर भी दुष्ट संगम ने हार नहीं मानी, उसने सोचा—भय की आग में पकने वाला घड़ा भी प्रेम व मोह की थपकियों से टूट सकता है। उसने जहरीले भय-भैरव वातावरण में सहसा स्नेह और मोह की मदिरा बिखेर दी। महावीर के समक्ष सिद्धार्थ और त्रिशला को करुण-विलाप करते हुये उपस्थित किया[१३], किन्तु महावीर का ध्यान-भंग नहीं हुआ।

महावीर दोनों पैर सीधे सटाये खड़े थे, संगम ने पैरों के बीच में आग रख दी और उन पर स्वयं रसोईया बनकर खाना पकाने लगा।[१४] परन्तु आग में घास-फूस भस्म हो सकता है, सोना तो तपकर अधिक निखार ही पायेगा। संगम अपने इस प्रयोग पर भी लज्जित हुआ, मगर उसका अहंकार नहीं टूटा।

उसने चंडालरूप धारण कर अनेक पक्षियों के पिंजरे महावीर के शरीर पर लटका दिये, पक्षियों की तीखी चोंच और नखप्रहार ने पुनः महावीर के शरीर को लहु-लुहान कर डाला।[१५] और अब उठा भयंकर तूफान, तीखी तेज हवा, वर्षा की बूँदों का कपा देनेवाला प्रहार, वृक्षों को उखाड़ कर धराशायी कर देनेवाला पवन-वेग[१६], किन्तु महावीर तो अडोल, अचल खड़े रहे, खड़े रहे!

हवा का गोल बवंडर उठा[१७], ऐसा लगा जैसे पहाड़ भी घूमने लग जावेंगे। महावीर का तन तो हवा में घूमता ही था, पर मन तो फिर भी अकम्पित-प्रशान्त!

और अंत में हार-थक कर संगम ने काल-चक्र का एक जबर्दस्त प्रहार महावीर पर किया।[१८] महावीर का शरीर घुटनों तक जमीन में धंस गया। पर तब भी उन्होंने आंखें नहीं टिमटिमाई।

सिर खुजला-खुजला कर उपद्रवों का प्रकार सोचते हुए आखिर संगम हार गया, उसे और कुछ नहीं सूझा तो एक विमान में बैठकर महावीर को पुकारने

लगा[19]—"आप खड़े-खड़े क्यों कष्ट उठा रहे हैं, आइये, मैं आपको सदेह ही स्वर्ग या अपवर्ग की यात्रा करा लाऊं?" इस माया का भी उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

संगम ने अब बसन्त ऋतु की मन्द और मादक बयार बहाई, भीनी-भीनी सुगन्ध! शान्त वातावारण, और नूपुर की झंकार करती हुईं अर्धवसना अप्सराएं अपने मांसल, कामोत्तेजक अंगों का प्रदर्शन कर काम-याचना करने लगीं, महावीर के समक्ष। उन्होंने हाव-भाव अंगविन्यास एवं सौन्दर्य का उन्मुक्त प्रदर्शन किया[20], पर अनिमेषदृष्टि महावीर तो उसी प्रकार स्थिर खड़े रहे।

इस प्रकार एक ही रात्रि में बीस महान् उपसर्ग महावीर पर आये, पर संकल्प के धनी महावीर अपनी स्थिति से, अपनी नासाग्रदृष्टि से एक तिल-भर भी डिगे नहीं। दुष्ट संगम का अहंकार चूर-चूर हो गया, उसकी उपद्रवी बुद्धि कुंठित हो गई तथा लज्जा और ग्लानि से वह मन-ही-मन कट गया। प्रातःकाल का बाल-सूर्य निकला, महावीर ने अपनी ध्यानसाधना पूर्ण की और वे उस स्थान से आगे चल पड़े। उनके मुख पर वही प्रसन्नता, सौम्यता और ताजगी झलक रही थी, जो उपसर्गों की पूर्व संध्या में थी, वे तो देह में रहते हुये भी देहातीत थे, प्राण-अपान पर विजय पा चुके थे, संत्रास, भय और मोह उनकी योग-चेतना को कैसे चंचल बना सकते थे? तन की वेदना का दर्द मन तक पहुंच ही नहीं पाया था।[1]

फांसी के तख्ते पर

एक रात्रि में बीस प्राणघातक असह्य उपद्रवों से जूझकर भी प्रातःकाल होते-होते उसी नई ताजगी और प्रफुल्लता के साथ आगे कदम बढ़ा देना—सचमुच एक आश्चर्यजनक प्रसंग है।

संगम ने जब प्रातः महावीर की सौम्य मुख-मुद्रा को प्रसन्नता से महकती, नव-कुसुम की भांति खिली हुई देखी तो वह अपनी मूर्खता एवं असफलता पर दांत काटकर रह गया। सोचा होगा, रातभर के उपद्रवों का इनके मन पर तो तिलभर भी प्रभाव नहीं पड़ा, तो अब साथ-साथ रहकर धीरे-धीरे इन्हें संत्रास दूंगा।

१ (क) घटनावर्ष वि. पू. ५०२-५०१
(ख) आवश्यक निर्युक्ति गाथा ३१२,
(ग) त्रिषष्टि० १०।४

श्रमण महावीर आगे चले गये। संगम उनका शिष्य बनकर साथ-साथ चल पड़ा। जब महावीर गाँव के बाहर उद्यान में ध्यानस्थ हो जाते तो, संगम गाँव में जाकर कहीं सेंध लगाता, कहीं चोरियाँ करता, तथा अन्य दुष्कृत्य करता, लोग उसे पकड़कर पीटने लगते तो कह देता—"मैं क्या करूँ, मुझे तो गुरुजी ने यह काम सिखाया है, तुम्हें कुछ कहना है तो उन्हीं से कहो।" भोले लोग महावीर के पास आते, उनसे पूछते, पर वे तो मौनव्रत धारण किये ध्यानमग्न रहते। लोग संगम की बात सच मानकर महावीर को पीटते, प्रहार करते।

ऐसे ही कई विकट प्रसंगों के बाद एक दिन श्रमण महावीर तोसलिगाँव के बाहर उद्यान में ध्यानस्थ खड़े थे। संगम पीछे लगा ही था। उसने गाँव में जाकर चोरी की और चोरी के औजार लाकर महावीर के पास ही छिपा दिये। चोर का पता लगाते राजपुरुष महावीर के निकट पहुंचे। पास में शस्त्र रखे देखकर महावीर को ही चोर समझा और पकड़कर गाँव के अधिकारी—तोसलि क्षत्रिय के समक्ष प्रस्तुत किया। क्षत्रिय ने श्रमण महावीर से पूछा—"तुम कौन हो?" महावीर मौन थे। दो-चार बार पूछने पर भी महावीर ने उत्तर नहीं दिया तो क्षत्रिय क्रुद्ध होकर बोला—"यह रंगे हाथों पकड़ा गया है, चोर तो है ही, पर फिर अपनी चोरी भी स्वीकार नहीं करता है। बोलता भी नहीं, जबान सी रखी है? जाओ इसे फाँसी पर लटका दो।"

क्षत्रिय के आदेशानुसार श्रमण महावीर को फाँसी के तख्ते पर लाकर खड़ा कर दिया गया। राजपुरुषों ने पुनः-पुनः समझाया होगा—"तुम अपना नाम क्यों नहीं बता देते, कुत्ते की मौत क्यों मर रहे हो? खैर, मरना ही है तो मरो, पर कोई अन्तिम इच्छा हो तो बताओ, उसे पूरी कर दें, ताकि मरते-दम प्राण अटकें नहीं।"

इन क्रूर व्यंग्य भरे आक्रोश वचनों पर भी महावीर तो शान्त और मौन रहे। क्रूर राजपुरुषों ने भी फाँसी का फंदा महावीर के गले में लगाया और नीचे से तख्ता हटा दिया। पर आश्चर्य! जैसे ही तख्ता हटा, फंदा टूट गया और महावीर नीचे आ गिरे। दुबारा दूसरी रस्सी बाँधकर फंदा डाला गया, पर वही पहले जैसा ही टूट गया। सभी दर्शक आश्चर्य से, फटी आंखों से देख रहे थे, आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ, आज ही ऐसा क्यों हो रहा है? हजारों अपराधियों की जान निगल जाने वाली फाँसी आज एक बार नहीं, दो बार नहीं, सात बार टूट गई है। आखिर बात क्या है? कहीं कुछ दाल में काला है? लगता है यह कोई चोर नहीं, साधु है। जानबूझ कर कोई अन्याय न हो जाय? राजपुरुषों का दिल सहम गया, वे दौड़कर तोसलि क्षत्रिय के पास आये, क्षत्रिय ने यह घटना सुनी तो उसका हृदय धड़क उठा

—"अरे रुको ! यह कोई परमहंस योगी तो नहीं है ? हम धोखे में कुछ अन्याय न कर बैठें ?" क्षत्रिय स्वयं दौड़कर आया, महावीर की शान्त, तेजोदीप्त मुखमुद्रा देखकर सहसा उनके चरणों में गिर पड़ा—"हे परम योगिराज ! हमारा अपराध क्षमा कीजिये। कृपा कर अपना परिचय देकर उपकृत कीजिये।" महावीर फिर भी चुप थे, तोसलि ने बार-बार विनय करके प्रभु से श्रद्धापूर्वक क्षमा मांगी और वहाँ से विदा दी।

इस प्रकार संगम ने अपनी उपद्रवी बुद्धि का तार-तार खोलकर श्रमण महावीर को हर प्रकार से त्रास, संकट एवं प्राणान्तक उपद्रवों से उत्पीड़ित करने की व्यर्थ चेष्टाएं कीं, मृत्यु के अन्तिमचरण फांसी के तख्ते पर चढ़ाने में भी वह सफल हो गया। किन्तु महावीर आज भी प्रशान्त, प्रमुदित और ध्याननिमग्न दशा में शान्ति का अनुभव कर रहे थे। ध्यानयोग की विशिष्ट प्रक्रियाओं से उनका मन तो वज्र-सा हुआ ही, किन्तु फूलों-सा सुकुमार तन भी जैसे वज्रमय हो गया था।[1]

करुणाशील महावीर

विश्व के किसी भी महापुरुष को अपने जीवन में संभवतः इतने उग्र कष्ट नहीं झेलने पड़े होंगे, जितने कि श्रमण महावीर को। वह भी साधना-काल के सिर्फ साढ़े बारह वर्ष में। इसका कारण लोगों की अज्ञानता तो रहा ही होगा, साथ ही श्रमण वेष के प्रति द्वेष तथा मुख्यतः कुछ देव-दानवों द्वारा जान-बूझकर महावीर का उत्पीड़न और साधना-भंग करने का प्रयत्न भी रहा। किन्तु महावीर सचमुच में महावीर थे। वे किसी स्थिति में अपने ध्येय से विचलित नहीं हुये। पथ में श्रद्धा के फूल बिखरे मिले, तब भी चलते रहे, द्वेष के कांटों और संकटों की तलवारों की धार पर भी एकनिष्ठा और ध्येय के प्रति समर्पित होकर चलते ही रहे।

संगम देव—६ महीने तक श्रमण महावीर का पीछा करता रहा, तरह-तरह के आरोप, उपद्रव और संकटों के भूचाल उठाता रहा। ६ मास तक निरन्तर महावीर के पीछे रहकर उसने उन्हें एक कण अन्न और एक बूंद पानी भी प्राप्त नहीं होने दिया, शायद कोई दूसरा साधक होता तो इतने उपद्रवों को हजार जन्म धारण करके

१ (क) घटनावर्ष वि. पू. ५०२-५०१ (ख) आवश्यक निर्युक्ति गाथा ३६३

भी सह नहीं पाता, पर महावीर थे कि वे अग्नि में स्वर्ण की भांति अधिक-से-अधिक दीप्तिमान होते गये।

जब संगम ने देखा—सुमेरु पर्वत को हिला देना संभव हो सकता है, महासागर को क्षुब्ध कर डालना भी संभाव्य है, पर श्रमण महावीर को अपने पथ से विचलित करना असंभव है। हजार-हजार देवता तो क्या, सारे संसार की दिव्यशक्तियां भी वहां हार खा जायेंगी। अन्ततः हताश, निराश, उदास संगम एक दिन श्रमण महावीर के पास आया, और विनम्रता का अभिनय करके बोला—"महाश्रमण ! देवराज इन्द्र ने आपकी धीरता और तितिक्षा की प्रशंसा की थी, वह अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। मैं उसे असत्य करने पर तुला था, पर मेरे समस्त प्रयत्न व्यर्थ गये, आपको असीम कष्ट एवं पीड़ाएं देकर भी मैंने देखा कि आपके हृदय के किसी कोने में भी उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, सचमुच आप अपनी दृढ़ता में सत्य प्रतिज्ञ रहे, मैं अपने निश्चय से पतित (भ्रष्टप्रतिज्ञ) हो गया। अब मैं क्षमा चाहता हूं, आप निर्विघ्न विचरिये और छह महीनों से जो उपवास चल रहा है, कृपया अब उसका पारणा कीजिये।"

संगम के वचन सुनकर महावीर धीर-गंभीर स्वर में बोले—"संगम ! मैं न किसी के प्रार्थना-वचन सुनकर प्रसन्न होता हूं और न आक्रोश वचनों से क्षुब्ध। मैं तो सदा आत्महित की दृष्टि से स्वेच्छापूर्वक विहार करता हूं। तुमने जो कष्ट दिये, वे मेरे तन को भले ही उत्पीड़ित करते रहे हों, किन्तु मन तक उनकी वेदना का स्पर्श नहीं पहुंच सका, अतः तुम्हारे प्रति मेरे मन में रत्ती भर भी द्वेष-रोष या आक्रोश नहीं है, हां एक बात का अफसोस अवश्य है कि मेरा निमित्त बहुत जीवों के हित व कल्याण का साधन बनता है, वहां तुमने अपने निबिड़ कर्म-बन्धनों के होने में मुझे हेतुभूत बना लिया, तुम्हारा भविष्य जब अन्धकारमय, और सघन कर्म-कालिमा से कलुषित देखता हूं तो ……" कहते-कहते महावीर की अनन्त करुणा और वात्सल्य वर्षा की तरह उमड़ कर आंखों में बरस पड़े। उनकी पलकें करुणार्द्र हो उठीं, मुखमुद्रा वात्सल्यरस से आप्लावित हो गई। ऐसा लग रहा था जैसे हिमाद्रि की कठोर चट्टान के भीतर से पानी का शीतल निर्झर फूट पड़ा हो।

श्रमण महावीर के वचनों की हृदय-वेधकता, उनकी आंखों की आर्द्रता और मुखाकृति की करुणाशीलता ने संगम के पाषाण-तुल्य हृदय पर वह चोट की, जो आज तक उनकी कठोर तितिक्षा से भी नहीं हो पाई थी। संगम लज्जित हो गया, उसका अन्तर्हृदय उसे धिक्कारने लगा और वह महावीर के समक्ष ऊंचा मुंह किये क्षण भर भी ठहर नहीं सका। आग से खेलने वाला संगम पानी से हार कर भाग गया।

घोर अपराधी पर भी करुणा व दया की वृष्टि करने का यह आदर्श इतिहास का एक चिरस्मरणीय प्रसंग बना रहेगा।

महावीर के करुणार्द्र नयनों ने एक संगम को ही नहीं, किन्तु सभी दैवी शक्तियों को यह चुनौती दी कि फिर उनको संत्रास एवं कष्ट देने का साहस किसी अन्य देवता ने नहीं किया। चूंकि संगम एक बहुत बड़ा शक्तिशाली वैमानिक देव था और उसके द्वारा ६ महीने तक निरन्तर घोरातिघोर उपसर्ग देने पर भी महावीर का अन्तःकरण विचलित नहीं हो सका तो अन्य देवताओं का साहस क्या हो पाता? अतः ऐसा लगता है, संगम के उपसर्गों के साथ ही महावीर के जीवन में दैवी उपसर्गों का अध्याय एक प्रकार से समाप्त हो गया, और इसके पश्चात् तो देवों व देवेन्द्रों का बार-बार आगमन, उनके द्वारा महावीर की वन्दना, स्तुति का तांता-सा लग जाता है—कहीं विद्युत्कुमारों का इन्द्र, कहीं चन्द्र, सूर्य, कहीं शक्रेन्द्र, कहीं ईशानेन्द्र और कहीं धरणेन्द्र आ-आकर प्रभु के दर्शन करते हैं, उनकी धीरता, वीरता एवं तितिक्षा का मुक्त गौरवगान करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि महावीर मानव, दानव, एवं देवकृत उपसर्गों की अग्निपरीक्षा में पूर्णतः उत्तीर्ण हो कर, कष्टों के घोर रणक्षेत्र में अद्भुत शौर्य एवं पराक्रम का प्रदर्शन कर विजयश्री का वरण कर चुके थे—और अब महान शौर्यशाली आत्मविजेता के विजयोत्सव की पूर्वभूमिका के रूप में देव-देवेन्द्रों का झुंड आ-आकर उनकी वन्दना-स्तवना कर स्वयं को कृत्यकृत्य मानने लगा। संसार में विजेता का सर्वत्र स्वागत होता ही है, शक्तिशाली की भक्ति कौन नहीं करता? इन घटना-प्रसंगों से इस सत्य की स्पष्ट अनुभूति हो जाती है।

संगम के चले जाने पर श्रमण महावीर ने एक बूढ़ी ग्वालिन के घर पर दूध में पके चावलों की भिक्षा प्राप्त की, छह मास के बाद यह प्रथम भिक्षा ग्रहण था।[1]

अनिमंत्रित भिक्षाचर

गौशालक और संगम जैसे दुष्ट ग्रहों के उत्पीड़न से मुक्ति पाकर श्रमण महावीर ध्यान-साधना के उच्चतम शिखर पर चढ़ते हुए एक बार वैशाली के बाहर

१ घटना वर्ष वि. पू. ५०१,

महाकामवन नामक उद्यान में ठहरे। चातुर्मास प्रारम्भ हो रहा था। अतः महावीर चातुर्मासिक तप और ध्यानप्रतिमा अंगीकार कर वहीं स्थिर हो गये।

वैशाली के एक जिनदत्त श्रेष्ठी ने (जो किसी समय वहाँ के नगरश्रेष्ठी पद को अलंकृत करता था, और अपार वैभव का स्वामी था, अब उसके भाग्य का सितारा मंद पड़ गया था अतः लोक उसे जीर्ण सेठ कहने लग गये थे) श्रमण महावीर को महाकामवन में तपःलीन देखा। वह प्रतिदिन प्रातःकाल वहाँ आकर महाश्रमण को वंदना करता, और अपने घर पर भिक्षा-ग्रहण करने की भाव-भीनी प्रार्थना भी! आज एक मास बीत गया, श्रेष्ठी ने मासांत के दिन सोचा—'आज तो महाश्रमण एक मास के तप को पूरा कर मेरी भावना को अवश्य सफल करेंगे, अतः उसने विशेष भक्तिपूर्वक आग्रह किया। पर महाश्रमण तो कहीं भिक्षार्थ गये नहीं। दूसरा और तीसरा मास भी यों ही बीत गया, श्रेष्ठी की भक्ति-भावना का क्रम सतत चलता रहा और उधर चलता रहा श्रमण महावीर की ध्यान-साधना का क्रम भी, अखण्ड दीप-शिखा की भाँति।

चातुर्मास समाप्त होने को आया, कार्तिक पूर्णिमा का दिन भी निकल गया। श्रेष्ठी ने सोचा—"महाश्रमण आज तो निश्चित ही पारणा करेंगे और मेरी भावना सफल होगी ही।" उसने भक्तिभाव के साथ अत्यन्त आग्रह किया—"प्रभो! आज का पारणा मेरे घर ही ग्रहण कीजियेगा।" महावीर मौन रहे। श्रेष्ठी घर पर जा कर प्रभु के आगमन की प्रतीक्षा करता रहा, मध्याह्न का समय हुआ। श्रमण महावीर ने ध्यान पूर्ण कर भिक्षा के लिये वैशाली में प्रवेश किया। वे तो अनिमंत्रित भिक्षाचर थे, कौन निमन्त्रण देता है, कौन सत्कारपूर्वक दान देता है और कौन उपेक्षावृत्ति से, कौन घर आये भिक्षाचर को तिरस्कारपूर्वक टाल देता है—इस प्रकार का कोई विकल्प भी महावीर के मन में नहीं था। वे तो सिर्फ शुद्ध-निर्दोष भिक्षा देखते थे—मिष्ठान्न नहीं। वे सत्कार-तिरस्कार की भावना से मुक्त थे, सिर्फ देहयन्त्र को चलाने भर का संबल देना ही उनका लक्ष्य था। भिक्षाटन करते हुये श्रमण महावीर पूर्ण नामक एक श्रेष्ठी के घर में प्रविष्ट हुए। नाम उसका पूर्ण था, लेकिन मन अपूर्ण था। गृह उसका विशाल था, पर हृदय बड़ा क्षुद्र। श्रमण को देखकर नाक-भौंह सिकोड़ते हुए उसने दासी से कहा—'देखो, द्वार पर कोई भिक्षुक खड़ा है, कुछ भिक्षा देकर विदा कर दो।'

दासी के हाथ में जो भी रूखा-सूखा, बासी अन्न आया, उसने तिरस्कारपूर्वक महावीर के हाथों में डाल दिया। श्रमण महावीर ने प्रसन्नता के साथ ग्रहण कर उसी बासी अन्न से चातुर्मासिक तप का पारणा कर लिया।

तीर्थंकरों के दिव्य अतिशय के अनुसार पारणा करते ही आकाशमंडल देव दुंदुभियों से गूंज उठा। 'अहोदानं अहोदानं' की उद्घोषणाएँ होने लगीं और पाँच प्रकार की दिव्य वृष्टियों से धरती का सौन्दर्य सहस्रगुना निखर उठा।

उधर वह भूतपूर्व नगरश्रेष्ठी, जिसे लोक 'जीर्ण सेठ' कहने लग गये थे, अब तक बड़ी ही दिव्य भावनाओं से मन को प्रफुल्ल कर रहा था। वह सोच रहा था—"कल्पवृक्ष को अमृत से सींचना सुलभ है, पर तपोमूर्ति ध्यानमणि महावीर को दान देना महान दुर्लभ है, यह प्रसंग असीम पुण्योदय एवं अनन्त सौभाग्य का फल है।" इन्ही पवित्र भावनाओं में रमण करता हुआ वह महाश्रमण के आगमन की प्रतीक्षा में पलक-पांवड़े बिछाये बैठा था, जैसे ही दिव्य उद्घोष सुना, उसकी आशाओं पर तुषारापात हो गया। जैसे कोई दिव्य-स्वप्न भंग हो गया हो। वह जीर्ण सेठ हताश हो अपने भाग्य को कोसने लग गया। किन्तु फिर भी वह पूर्ण सेठ के भाग्य की सराहना करता रहा—जिसने महाश्रमण को दान दिया।

इधर जिस सेठ ने (पूर्ण सेठ) मुट्ठी भर बासी अन्न दिया था, उसने जब पांच दिव्यवृष्टियां देखीं और चारों ओर से बधाईयां आती सुनीं, तो उसके कान खड़े हो गये, उसने सोचा—यह कोई साधारण भिक्षु तो नहीं है। अतः उसने लोगों में झूठी शेखी बघारते हुये कहा—"मैंने इस श्रमण को परमान्न (खीर) का दान किया है, इसी कारण मेरे घर पर रत्नों व पुष्प आदि की दिव्य वृष्टियां हुई हैं।"

इस घटना-प्रसंग में भगवान महावीर की अनिमंत्रित भिक्षाचर्या का कठोर नियम और रूखा-सूखा जैसा भी भोजन प्राप्त हो, उसमें अदीनवृत्ति, तथा मुदित-भावना का स्पष्ट दर्शन होता है। साथ ही सम्बन्धित जीर्ण व पूर्ण सेठ के भाव यह निर्देश करते हैं कि श्रमण महावीर के दर्शन में दान की परिकल्पना कितनी भावानुलक्षी है—वहां वस्तु का नहीं, भावना का ही मूल्य है। भव्य भावना रही तो दान के संकल्प मात्र से मुक्ति लाभ हो सकता है[1], और वह भी अहंकार प्रदर्शन का रूप लेने पर सिर्फ भौतिक उपलब्धि तक ही सीमित रहता है।[2]

१ बताया जाता है जीर्ण सेठ की भावना इतनी ऊँची श्रेणी पर पहुँच गई थी कि यदि मुहूर्तभर वह उसी भावश्रेणी पर चढ़ता रहता तो चार घनघाति कर्मों का क्षय कर 'केवलज्ञानी' बन जाता। किन्तु भगवान के पारणा का संवाद सुनकर उसकी वह उच्चधारा टूट गई।

२ *(क)* घटना वर्ष वि. पू. ५०१।
(ख) त्रिषष्टि० १०।४

चमरेन्द्र की शरणागति

श्रमण महावीर के उत्कृष्ट ध्यान-योग की साधना में विघ्न-स्वरूप आने वाले दारुण कष्टों की कहानी पिछले पृष्ठों में लिखी जा चुकी है, इन कष्टों में महावीर की धीरता, स्थिरता और स्वावलम्बिता बड़ी ही आश्चर्यजनक थी। समय-समय पर अनेक गृहस्थ भक्त, राजन्य, देव एवं देवेन्द्र उनकी सेवा करने, कष्टों से रक्षा करने और सहायता के लिये सतत साथ रहने का आग्रह करते रहे, परन्तु प्रभु तो अनन्य-शरण थे। स्वयं ही स्वयं की शरण, स्व-बल पर ही आत्मविजय की अडिग निष्ठा लिए एकाकी चलते रहने वाले वीर थे। महावीर की आत्मशरणता इतनी तेजस्वी और प्रखर थी कि वह दूसरों की शरण क्या खोजती, महावृक्ष की भाँति विश्व के लिए स्वयं ही शरणभूत बन गई, पशु और मनुष्य ही क्या, किन्तु देव-देवेन्द्र भी उस महातपस्वी की चरण-शरण में आकर निर्भय हो जाते, कष्टों से मुक्ति पाकर आनन्द का अनुभव करते। उनके जीवन का ऐसा ही एक भव्य प्रसंग है—जिसमें सुरों के इन्द्र सौधर्मेन्द्र के वज्रप्रहार से भयभीत होकर असुरराज चमरेन्द्र ने तपोलीन महावीर के चरणों में शरण ग्रहण की और अपने प्राणों की रक्षा की। प्रसंग इस प्रकार है :—

विन्ध्याचल की तलहटी में 'पूरण' नामक एक समृद्ध गृहस्थ रहता था। एक बार उसके मन में एक संकल्प उठा कि मैं यहां जो सुख-भोग कर रहा हूं, वह सब पूर्वजन्मकृत पुण्य का फल है, इस जन्म में यदि कुछ ऐसा विशिष्ट तपश्चरण आदि न करूँगा तो अगले जन्म में सुख प्राप्त कैसे होगा ? अतः कुछ तप आदि करना चाहिये। इस संकल्प के अनुसार मन में भावी जीवन के पुण्यफल की कामना का संस्कार लिये वह घर-बार छोड़कर संन्यासी बन गया और 'दानामा' (दान-प्रधान) प्रव्रज्या अंगीकार कर ली। उसकी विधि के अनुसार वह दो दिन का उपवास करके पारणे के लिये निकलता तो हाथ में एक लकड़ी का चार खानों वाला पात्र रखता। पात्र के पहले खाने में जो भिक्षा प्राप्त होती वह भिखारियों को दे देता, दूसरे खाने में प्राप्त भिक्षा—कौओं, कुत्तों आदि को खिला देता। तीसरे खाने में प्राप्त भिक्षा मछलियों, कछुवे आदि जलचर प्राणियों को डाल देता और चौथे खाने में जो कुछ बचता वह स्वयं खाकर पारणा करता। इस प्रकार का घोर तप बारह वर्ष तक करता रहा। अन्त में एकमास का अनशन कर आयुष्य पूर्ण कर वह असुरकुमारों का इन्द्र—चमरेन्द्र बना। उसने अपने ज्ञानबल से इधर-उधर देखा—संसार में मुझ से भी कोई अधिक बलशाली और ऋद्धिशाली है क्या ? तभी ठीक उसे देव-विमानों के ऊपर सौधर्म-विमान में इन्द्रासन लगा दिखाई दिया। सौधर्मेन्द्र अपने भोग-विलास, आमोद-

प्रमोद व ऐश्वर्य में मस्त था। अपने सिर पर इस प्रकार सौधर्मेन्द्र को आनन्द-विलास करते हुये देखकर चमरेन्द्र का अहंकार क्रोध के रूप में भड़क उठा। उसने अन्य असुरकुमारों से पूछा—यह कौन पुण्यहीन, विवेकहीन, अहंकारी देव है, जो यों हमारे मस्तक पर निर्लज्जतापूर्वक बैठा देवियों के साथ हास-विलास कर रहा है? क्यों न इसके अहंकार को चूर-चूर कर दिया जाय? अन्य असुरकुमारों ने उसे समझाया—"यह सौधर्मेन्द्र है, और अपने विमान में बैठा है, हमसे अधिक शक्तिशाली है, अतः इससे कुछ छेड़-छाड़ करना अपनी जान से खेलना होगा।"

अहकार में दीप्त चमरेन्द्र ने अट्टहास के साथ अन्य असुरकुमारों का उपहास किया—"तुम सब कायर हो, मैं किसी को यों अपने सिर पर बैठा नहीं देख सकता। अभी मैं उसकी टांग पकड़कर आसन से क्या, स्वर्ग से भी नीचे फेंक देता हूं।"

अहकार, ईर्ष्या, और क्रोध के आवेग में अन्धा बना हुआ असुरेन्द्र एक भयंकर हुंकार के साथ उठा सौधर्मेन्द्र पर प्रहार करने, तभी सहसा मन के सघन अंधकार के एक कोने में हल्की-सी ज्योति जली, उसे अपनी दुर्बलता और तुच्छ सामर्थ्य का अनुभव हुआ, कहीं मैं पराजित हो गया तो, जान भी नहीं बच पायेगी? तभी एक रात्रि की महाप्रतिमा ग्रहण करके ध्यानयोग में स्थिर श्रमण भगवान महावीर का स्मरण हुआ बस, यही एक श्रमण तपोमूर्ति ऐसा सामर्थ्यशाली है, जो मुझे शरणभूत हो सकता है।

ध्यानलीन श्रमण भगवान महावीर के चरणों में असुरेन्द्र आया।[1] महावीर तो ध्यान में अन्तर्लीन थे। उसने विनयपूर्वक प्रदक्षिणा की और बोला—"प्रभो! आज मैं उस अहंकारी सौधर्मेन्द्र से लोहा लेने जा रहा हूं, मेरी जीवन-रक्षा आपके हाथ में है, आप ही मेरे अनन्य-शरण हैं।"

महावीर को वन्दना कर असुरराज ने विकराल रूप बनाया, और रौद्र हुंकार करता हुआ स्वर्ग में पहुंचकर देवराज इन्द्र को ललकारने लगा। उसका भयानक-रौद्र रूप देखकर हास-विलास में मग्न देवगण डर गये, देवियों की कांति मन्द पड़ गयी। स्वर्ग में खलबली मच गई, अचानक असुरराज के आक्रमण का सम्वाद बिजली की भांति सर्वत्र फैल गया, अनन्तकाल में ऐसा कभी नहीं हुआ। महाश्चर्य! तभी देवराज इन्द्र ने असुरेन्द्र को ललकारा—"दुष्ट! यह धृष्टता तेरी! दूसरे के भवन में आकर यों उत्पात मचाना" और क्रोध में आकर अपना दिव्य वज्र असुरेन्द्र पर

---

१ भगवान महावीर तब सुंसुमारपुर [वर्तमान चुनार (उ. प्र.)] के निकट अशोकवन में ध्यानस्थ थे।

फैंका। हजार-हजार बिजलियों की तरह चमकता-कौंधता वज्र देख कर असुरेन्द्र घबराया, जान मुट्ठी में लेकर उल्टे पैरों भागा। वज्र उसका पीछा कर रहा था। तीक्ष्ण अग्नि-ज्वालाओं की तरह उसकी किरणें असुरराज को भस्म करने को दौड़ रही थीं, तीव्र वेग से दौड़ता, भागता, घबराया हुआ असुरराज सीधा पहुंचा ध्यान-लीन श्रमण महावीर के चरणों में। भय से कांपता हुआ वह पुकार रहा था—भयवं सरणं, भयवं सरणं— प्रभो ! आप मेरे शरणदाता हैं, बचाइये, रक्षा कीजिए। और वह छोटी-सी चींटी का रूप बनाकर महावीर के चरणों में छुपकर, दुबक कर बैठ गया।

देवराज ने क्रोधाविष्ट होकर असुरराज पर प्रहार करने वज्र फेंक तो दिया; किन्तु तुरन्त ही उन्हें स्मरण आया, दुष्ट असुरराज को मेरे देव-विमान पर अचानक आक्रमण करने का साहस कैसे हुआ ? किसी भावितात्मा महापुरुष का आश्रय या शरण लिये बिना वह यहाँ तक कैसे आ पहुंचा ? और तत्क्षण ही उन्हें ध्यान आया "अरे ! यह तो तपोलीन श्रमण महावीर के चरणों का आश्रय लेकर आया है।" देवराज का हृदय अनिष्ट की आशंका से व्याकुल हो गया—कहीं मेरे वज्र-प्रहार से प्रभु महावीर का अनिष्ट न हो जाय। दिव्य देवगति से देवेन्द्र अपने वज्र के पीछे दौड़े—आगे-आगे असुरराज, पीछे अग्निज्वालाएँ फेंकता हुआ वज्र और उसके पीछे वज्र को पकड़ने में उतावले देवराज। असुरराज तो महावीर के चरणों में जा छुपा, वज्र सिर्फ चार अंगुल दूर था तभी देवराज ने उसे पकड़ लिया और वे प्रभु महावीर से अविनय के लिए क्षमा मांगने लगे।

अभयमूर्ति महावीर के समक्ष दो महान शक्तिशाली, परन्तु परस्पर शत्रु विनतभाव से बैठे हैं, एक विजेता है, फिर भी प्रभु के समक्ष विनम्र, एक पराजित है, अपराधी और मृत्यु के मुँह में जाते-जाते बचा है, पर वह भी वहां भयमुक्त है। यही तो उनकी अहिंसा का दिव्य प्रभाव है। देवराज ने पैरों के नीचे छुपे असुरराज को पुकार कर कहा—"असुरेन्द्र ! तुमने क्षमाश्रमण महावीर की शरण ग्रहण कर ली, इसलिये आज बच गये, चलो, अब महाश्रमण के शरणागत को मैं भी अभयदान देता हूँ।" प्रभु की असीम करुणा और दिव्य शरण ने असुरराज को भयमुक्त कर दिया।[1]

वह दृश्य कितना भावपूर्ण होगा जब एक ओर विजेता देवेन्द्र, प्रभु को वन्दना कर रहा होगा और दूसरी ओर अपराध की आग से दग्ध असुरराज भी

१ [क] घटना वर्ष वि. पू. ५०० शीतऋतु।
[ख] भगवती सूत्र, शतक ३, उद्देशक २ में यह प्रसंग विस्तार के साथ वर्णित है।

जीवनदान प्राप्त कर प्रभु के चरणों में लोटने लगा होगा। दोनों के लिए ही प्रभु के मुख कमल पर अभय और करुणा, प्रेम और सद्भाव की रेखाएं उभर रही होंगी।

इस घटना-प्रसंग से तीन फलश्रुतियां हमारे सामने आती हैं :—

१ फलासक्ति के साथ तप करने से तप का दिव्य फल क्षीण हो जाता है।

२ क्रोध और अहंकार में अन्धा हुआ व्यक्ति अपने सामर्थ्य का विवेक खो देता है और ऐसा अपकृत्य कर बैठता है, जो उसी की जान ले लेता है।

३ अहिंसा की उत्कट साधना में वह दिव्यशक्ति है, जो अपने पास बैठे हुए कट्टर शत्रुओं को मित्र, विजेता को विनम्र और अपराधी को अपराध पर क्षमा-याचना कर भयमुक्त बनाने में समर्थ है।

घोर अभिग्रह

भगवान महावीर को साधना करते हुए लगभग ग्यारह वर्ष पूर्ण हो चुके थे। इस अवधि में वे अंग-मगध, कलिंग, वत्स, विदेह आदि जनपदों में कई बार भ्रमण कर चुके थे, भले ही वे प्रायः नगरों के बाहर एकान्त में ही रहें। जनसंकुल क्षेत्रों से दूर। पर फिर भी लोकजीवन का कुछ-न-कुछ संपर्क व अनुभव तो होता ही रहा, और चूंकि उनकी दृष्टि बड़ी सूक्ष्म थी, जन-जीवन में व्याप्त रूढ़ियों, पीड़ाओं एवं कष्टों को वे बड़ी गहराई से पकड़ते थे और उनके निराकरण के लिए मन में विविध सकल्प कर उनके लिए प्रयत्नशील भी रहते थे। सेवा-भावी शूद्रों के साथ अमानवीय क्रूर व्यवहार और मातृजाति नारी को दासता एवं परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़े रखना—उस युग की यह सबसे बड़ी समस्या थी, जो प्रतिपल करुणामूर्ति महावीर के हृदय को कचोटती रहती थी। शूद्रों को ही नहीं, किन्तु सुकुमार सुन्दरियों को भी बाजार में गल्ले-किराने की तरह बोली लगाकर बेचा जाता था, महावीर जब कभी ऐसा दृश्य देखते, या ऐसी कोई घटना सुनते तो उनका नवनीत-सा कोमल मानस भीतर-ही-भीतर तड़प उठता।

महावीर स्त्री मात्र को मातृदृष्टि से देखते थे, अहिंसा की स्नेहार्द्रता ने उनके हृदय को मातृहृदय की भांति वात्सल्य से पूरित कर दिया था, तभी तो चंडकौशिक के काटने पर रक्त के बदले दुग्ध की धारा बही थी, उनके अंग से। हम प्रारम्भ में बता चुके हैं, कुमार वर्धमान के जन्म की बधाई लेकर आने वाली

दासी को सिद्धार्थ ने उसी समय दासीपन से मुक्त कर दिया था। उनके जन्मोत्सव प्रसंग पर भी राज्य में सैकड़ों-हजारों दास-दासियों को दासता से मुक्त कर सच्चा उत्सव मनाया गया था। ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जब कभी आनन्द और उल्लास के अवसर पर कुछ पुरस्कार आदि का प्रसंग आया तो महावीर की दृष्टि सर्वप्रथम मनुष्य को पाशविक बन्धनों से मुक्त कराने की रही, चाहे वह शूद्र हो, या स्त्री (दासी) हो। सर्वतोभद्र आदि तपःप्रतिमाओं की समाप्ति पर जब महावीर ने वाणिज्यग्राम के आनन्द गाथापति[1] के घर पर पारणा ग्रहण किया तो वह भिक्षा-दान भी उसकी दासी बहुला के हाथ से ही प्राप्त हुआ, और कहा जाता है कि जब आनन्द को इस पुण्य प्रसंग की सूचना मिली तो उस खुशी में उसने सर्वप्रथम वही कार्य किया, जो महावीर को सबसे प्रिय था—बहुला दासी को दासीपन से मुक्ति।

साधनाकाल के बारहवें वर्ष में तो महावीर ने एक घोर अभिग्रह (वज्र संकल्प) किया, जो जैन-इतिहास के पृष्ठों पर आज भी जगमगा रहा है। वह घोर अभिग्रह भी नारी को दासता से मुक्त कराने के एक कठोर संकल्प की फलश्रुति के रूप में ही हमारे सामने आता है। इसमें श्रमण महावीर की कठोरतम तितिक्षावृत्ति का परिचय तो मिलता ही है, पर दूसरा भी महत्त्वपूर्ण पक्ष है उस युग की यन्त्रणाभरी प्रथाओं के विरुद्ध उनका एक यह तेजस्वी अभियान ! एक वज्रसकल्प !

असुरराज चमरेन्द्र को शरणागति के पश्चात् श्रमण महावीर विहार करते हुए कौशाम्बी के उद्यान में आये। उन दिनों कौशाम्बी का राजनैतिक वातावरण कितना अशान्त और लोकजीवन कितना असुरक्षित, अस्त-व्यस्त था, यह तो आगे के घटनाक्रम से स्पष्ट हो जायेगा। लगता है वहां के लोकजीवन की इन दारुण यन्त्रणाओं तथा भयाकुलता से व्यथित होकर ही महाकारुणिक श्रमण महावीर ने पौष कृष्ण प्रतिपदा को मन में यह घोर अभिग्रह किया—

कोई सुशीला राजकुमारी, जो दासी बनकर जी रही हो, जिसकी आँखें [व्यथा के कारण] आंसुओं से भीगी हों, हाथ-पैर बेड़ियों से बँधे हों, जिसका सिर मुंडा हो, तीन दिन की भूखी-प्यासी हो, जिसका एक पांव देहली के बाहर एवं एक पाँव भीतर हो, भिक्षा का समय बीत चुकने पर (दुपहर में) उड़द के बाकुले सूप के

१ यह आनन्द गाथापति पार्श्वनाथ परम्परा का श्रमणोपासक था अतः दस श्रावकों में गिने गये आनन्द गाथापति से भिन्न माना गया है।

कोने में रखे हुए हों—इस दशा में यदि मुझे कोई भिक्षा प्राप्त होगी तभी मैं भिक्षा ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं।"

चरित्रकार आचार्यों ने इस घोर अभिग्रह को सर्वथा अशक्य एवं दुस्संभव-प्राय: बताया है, किन्तु कौशाम्बी की तत्कालीन परिस्थितियों का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि ये सब स्थितियाँ उस युग में संभव थीं, इस प्रकार के क्रूर एवं अमानवीय व्यवहार स्त्री-जाति के साथ किये जा रहे थे और चम्पा की लूट के बाद तो कौशाम्बी उनका केन्द्र बन गया था। सम्भवत: इन्हीं घटनाओं का प्रतिबिम्ब विश्ववत्सल महावीर के हृदय में झलका हो, और निश्चित ही उन अत्याचारों की शिकार मातृजाति का उद्धार करने में उनका यह अभिग्रह सर्वथा सफल सिद्ध हुआ।

कौशाम्बी की परिस्थितियाँ

कौशाम्बी वत्स देश की राजधानी थी। भारतवंशी राजा शतानीक वहां का शासक था। उसकी रानी मृगावती वैशाली गणाध्यक्ष चेटक की पुत्री थी। वत्स देश का पड़ोसी राज्य था अंग; जिसकी राजधानी चम्पा थी। वहां पर राजा दधिवाहन का शासन था: दधिवाहन की रानी धारिणी भी चेटक की पुत्री थी—इस प्रकार दोनों पड़ोसी राज्य न केवल क्षेत्र की दृष्टि से निकट थे, किन्तु आपसी रिश्तेदारी से भी निकटतम थे।[1]

राजनीति को बिजली की भाँति चंचल और वेश्या की भांति बहुरूपा बताया गया है। यह किस समय, किस प्रकार का रूप धारण करती है, कुछ पता नहीं चलता। प्रगाढ़ मित्र क्षणभर में जानी-दुश्मन बन जाते हैं, और जन्मजात शत्रु दूसरे क्षण ही घनिष्ठ मित्र! शतानीक और दधिवाहन परस्पर साढू थे, इसीलिये एक दूसरे के प्रति विश्वस्त और निर्भय भी थे। शतानीक ने इस विश्वास का लाभ उठाकर अचानक चम्पा पर आक्रमण कर दिया। दधिवाहन को जैसे ही आक्रमण का पता चला, वह स्तब्ध रह गया, किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। विश्वास में की गई इस चोट का उसके मन पर इतना गहरा आघात लगा कि उसे अतिसार का रोग हो गया। शतानीक की सेनाएं चम्पा में घुस गईं। पराजित हुआ दधिवाहन जान बचाकर कहीं भाग गया।[2]

१ चेटक महावीर के मामा थे। मृगावती श्रमण महावीर की बहन होती थी।

२ कुछ चरित्र लेखकों ने जन-संहार को रोकने के लिये शतानीक के समक्ष दधिवाहन के आत्म-समर्पण की कल्पना भी की है।

विजयोन्माद में मत्त वत्सदेश की सेनाओं ने चम्पा नगरी में लूट-पाट-अत्याचार, सुन्दरियों का अपहरण एवं बलात्कार का जो लोमहर्षक तांडव मचाया, उसका वर्णन सुनने पर भी आँसुओं से आँखें भीग जायें। इसी लूटपाट में एक रथिक (रथ-सैनिक) राजमहलों में घुस गया। वह हीरों-जवाहरात का लोभी नहीं, वरन् सौन्दर्य का लोभी था। स्वर्ण, मणि-माणिक्य के खुले भण्डारों को छोड़कर भी उसने परम सुन्दरी रानी धारिणी एवं राजकुमारी वसुमती को अपने कब्जे में कर लिया और दोनों माँ-बेटियों का अपहरण कर रथ में बिठा कर चल पड़ा। धारिणी के सजल सौन्दर्य पर वह अत्यन्त आसक्त हो गया। उसने रानी से काम-प्रस्ताव किया, और जब वह उसके सतीत्व पर आक्रमण करने को उतारू हुआ तो सिंहनी की भाँति गर्जती हुई धारिणी ने रथिक को ललकारा, विषयान्ध रथिक भूखे भेड़िये की तरह रानी के सतीत्व को चाट जाना चाहता था, तभी वीर क्षत्रियाणी ने जीभ खींच कर सतीत्व की रक्षा के लिये प्राणोत्सर्ग कर डाला।

यह दृश्य देखते ही रथिक स्तब्ध रह गया। एक ओर जाल में फँसी मृगी-सी भयाकुल राजकुमारी भय से थर-थर काँप रही थी, माता का प्राणोत्सर्ग उसकी आंखों में सावन बन बरस रहा था, तो दूसरी ओर रथिक की नीचता और अधमता पर चण्डी की तरह आक्रोश के अंगारे भी बरसा रही थी—"रथिक ! सावधान। तुम्हारी नीचता ने मेरी मां के प्राण ले लिये है, अगर मेरी ओर हाथ बढ़ाया तो मैं भी उसी मार्ग पर चल पड़ूँगी, और सती को कष्ट देने के घोर पाप से तुम्हारा भी सत्यानाश हो जायेगा।"

धारिणी के प्राणोत्सर्ग और वसुमती की ललकार ने रथिक के दुष्टहृदय को बदल दिया। वह गिड़गिड़ाता हुआ बोला—"राजकुमारी ! तुम मत डरो। मैं तुम्हें अपनी बहन मानता हूं, चलो, तुम बहन बनकर मेरे घर पर रहो।"

वसुमती आश्वस्त होकर कौशाम्बी में रथिक के घर पर रहने लगी। वह भूल गई कि वह कोई राजकुमारी है। एक नौकरानी की भाँति वह घर का पूरा काम करती, दिनभर व्यस्त रहती, ताकि पुरानी दुःखद स्मृतियों को उभरने का अवकाश भी न मिले।

पुराने, मैले-फटे कपड़ों में रहने और दिनभर दासी का काम करने पर भी वसुमती का स्वर्णकांति-सा दीप्त सौन्दर्य कैसे छिप सकता था ? रथिक की पत्नी के हृदय में दासी (वसुमती) का यह सौन्दर्य शूल बनकर चुभने लगा। इस आशंका से वह व्यथित हो उठी कि मेरा पति इस दासी को ही अपनी प्रियतमा बनायेगा, अन्यथा

चम्पा की लूट में जहाँ अन्य सैनिकों ने स्वर्ण, मणि, हीरे-मोती से अपने घर भर लिए, और पीढ़ियों की दरिद्रता मिटा ली, वहां इसे क्या कुबुद्धि हुई कि इस कलमुँही दासी को ही उठा लाया ? यह तो मेरी आस्तीन का ही सांप बनकर रह रही है। इस मिथ्या आशंका और ईर्ष्यावश घर में पति-पत्नी में कलह शुरू हो गया। गृह-कलह कहीं महाभारत का रूप न ले ले, अतः एक दिन वसुमती ने ही रथिक से कहा—'भाई ! भाभी को स्वर्णमुद्राओं की इच्छा है, अतः तुम मुझे दासों के बाजार में कहीं बेच आओ तो तुम्हारा गृह-कलह भी मिटे और भाभी की मनोकामना भी पूर्ण हो जाय।" अनेक विकल्पों के बाद आखिर छाती पर पत्थर रखकर रथिक ने वसुमती को कौशाम्बी के बाजार में खड़ी कर बोली लगा दी।

हजारों दासियाँ वहाँ बिक रही थीं, किन्तु वसुमती का शील-सौन्दर्य कुछ विलक्षण ही प्रतीत हो रहा था। लोगों ने हजार, दस हजार तक बोली लगाई, किन्तु रथिक ने एक लाख स्वर्णमुद्रा की माँग रखी। तब कौशाम्बी की एक प्रसिद्ध गणिका ने इस अप्सरा-तुल्य दासी को खरीद लिया एक लाख स्वर्णमुद्राओं में।

वसुमती ने जब गणिका के हाथों स्वयं को बिका देखा तो उसका रोम-रोम रो उठा। फिर भी वह साहस और धीरज की पुतली थी, उसने गणिका से जब उसके काम के विषय में पूछा तो उसने कह दिया—"माता जी ! मैं यह कार्य कभी भी नहीं कर सकती, आपकी एक लाख स्वर्णमुद्राएँ पानी में चली जायेंगी। मुझे मत खरीदिये। मैं आपके घर हर्गिज नहीं जा सकती।"

गणिका के सेवकों व दलालों ने वसुमती को पकड़कर ले जाने की और सीधे पांव न चली तो घसीट कर ले जाने की धमकी दी। कहते हैं तभी कुछ क्रुद्ध बन्दरों की टोली अचानक गणिका पर टूट पड़ी, उसके वस्त्र फाड़ डाले, शरीर को नोंच-नोंच कर खून की धाराएँ बहा दीं। बाजार में चारों ओर भगदड़ मच गई, शोर-शराबा होने लगा।[1]

उसी समय कौशाम्बी का कोट्याधिपति धनावह सेठ उधर से निकला। यह अजीब दृश्य देखकर वह रुका और पूछा—"क्या बात है ?" लोगों ने कहा—"यह दासी एक लाख स्वर्ण-मुद्रा में बिक गई है, पर जिस गणिका ने खरीदा है, उसके साथ जाने से यह मना कर रही है, और उल्टे इसी के किन्हीं गुप्त दलालों ने बन्दरों से गणिका को नोंचवा डाला है।"

---

१ सम्भव है वसुमती के किसी हितैषी ने ही यह कृत्य करवाया हो, ताकि गणिका की बुद्धि ठिकाने लगे—चरितलेखक आचार्यों ने इसके पीछे शील सहायक देवताओं का हाथ माना है।

धनावह की सरल और पारखी नजरों ने वसुमती को देखा तो उसकी आंखें सजल हो गईं—"यह तो दासी नहीं, कोई देवकन्या है। हे भगवान् ! ऐसी शीलवती सुकुमार कन्याओं की भी आज यह दशा हो रही है ? इतना अन्याय ! अत्याचार !! लगता है कौशाम्बी का वैभव अब पाप का पिण्ड बन गया है, लूट-लूट कर बढ़ाया हुआ यह साम्राज्य अब शीघ्र ही रसातल में जाने वाला है—इन हजारों दास-दासियों की मूक पुकार इस नगरी को भस्मसात् कर डालेगी.... ।"

धनावह का हृदय धू-धू कर उठा। क्षणभर स्तब्ध-सा देखता रहा, वसुमती की आंखों से बरसती सौम्यता में घुली दीनता की कालिमा, मुर्झाया हुआ सुन्दर शिरीष पुष्प-सा कोमल मुख !

धनावह ने दलालों से कहा—"रुको ! इस कन्या के साथ जबर्दस्ती मत करो ! अगर यह गणिका के घर नहीं जाना चाहती है तो मैं इसे खरीदता हूं, एक लाख स्वर्णमुद्राएं मैं देता हूं···· ।"

वसुमती धनावह की प्रेम-स्नेह सनी वाणी से आश्वस्त तो हुई, पर वह ठोकरें खा चुकी थी, उसे अनुभव हो गया था—देवता की मूर्ति के पीछे दुष्ट दानव का असली चेहरा छिपा रहता है नकली चेहरे की चकाचौंध में। अतः उसने पूछा—"पिताजी ! आपके यहां मुझे क्या सेवा करनी होगी ?" धनावह की आंखें सजल हो गईं—"बेटी ! यह क्या कम सेवा है कि मुझ सन्तानहीन के शून्य घर में तुम सरीखी एक देवकन्या का प्रवेश हो जाय ! मेरा शून्य घर मन्दिर बन जायेगा, अँधेरे में एक दीपक जल उठेगा, बस, मैं तुम्हें अपनी पुत्री के रूप में देखकर ही कृतज्ञ हूं और कुछ नहीं ।'

व्यथा के अगणित घाव छिपाये हुए भी वसुमती का मुख प्रसन्नता से दमक उठा। वह धनावह के घर पर आ गई, और धनावह को पिता की तरह तथा सेठानी मूला को माता की तरह मानकर दिन-रात उनकी सेवा में लगी रहती।

पूछने पर भी जब उसने अपना पुराना नाम व परिचय नहीं बताया तो उसके शील व स्वभाव की शीतलता, सौम्यता देखकर धनावह उसे प्यार से 'चन्दना' कहकर पुकारने लगा।

आश्रयहीन हुई एक राजकन्या दर-दर की ठोकरें खाने के बाद धनावह का स्नेह और पितृ-वात्सल्य पाकर पुनः चम्पकलता की भांति निखार पाने लगी। उसके असीम सौन्दर्य और भावनाशील सहज स्नेह को देखकर मूला सेठानी भी रथिक-

पत्नी की भाँति सशंक हो गई। उसी प्रसंग में मूला की अव्यक्त आशंका को पुष्ट करने वाली एक घटना घट गई।

एक दिन मध्याह्न के समय धनावह बाहर से आया। उसने दासी को हाथ-पैर धोने के लिए पानी लाने को कहा। दासी किसी कार्य में व्यस्त थी। चन्दना ने पिताजी की वाणी सुनी, वह स्वयं जल लेकर दौड़ आई। सेठ बहुत थका हुआ धूप से क्लांत दीख रहा था, पितृभक्तिवश चन्दना स्वयं ही जल लेकर पिताजी के पैर धोने लगी। उसके लम्बे-लम्बे सघन केश खुले थे, नीचे झुकने पर वह भूमि पर लग गये, तब धनावह ने सहजभाव से चन्दना की खुली केशराशि को अपने हाथों से ऊपर उठा दिया।

मूला सेठानी यह सब देख रही थी। उसका पापी हृदय पाप की कल्पना में डूब गया, चन्दना की सहज भक्ति और धनावह का यह शुद्ध स्नेहपूर्ण व्यवहार उसके हृदय में फैली दुर्भावना और आशंका की घास में आग की तरह फैल गया। उसे लगा—"सेठ को बुढ़ापे में जवानी याद आ रही है, आज जिसे पुत्री कहकर पुकारता है, कल उसे पत्नी बनाने में भी शर्म नहीं करेगा। यह पुरुष का कामी स्वभाव ही है। अतः विषवेल को बढ़ने से पहले ही उखाड़ फेंकना चाहिये, वरना यह बेटी बनकर आई हुई सर्पिणी मेरे सुख-संसार को निगल जायेगी।" यह सोचकर दुष्ट मूला ने एक दिन अवसर पाकर चन्दना के हाथ-पैर बेड़ियों से जकड़ दिये। उसके भ्रमर-से काले केशों को उस्तरे से मुंड़वा दिया, तन पर सिर्फ एक पुराना वस्त्र लिपटा छोड़ा, बाकी सब वस्त्र उतार लिए और पकड़कर भौंहरे (भूमिगृह) में डाल दिया। भौंहरे पर ताला लगाकर मूला अपने पीहर चली गई, सेठ धनावह कौशाम्बी से बाहर था।

[२]

कौशाम्बी के इन स्वेच्छाचार पूर्ण, क्रूर दारुण यंत्रणा भरी स्थितियों में श्रमण महावीर अपना घोर अभिग्रह लिये नगर में पर्यटन करते थे। वहाँ हजारों सद्-गृहिणियां और कई राजकुमारियाँ भी दासी बनकर पशुवत् जीवन जी रही होंगी—इसकी सहज कल्पना हो सकती है, जबकि वहाँ के महाराज शतानीक की प्रिय रानी की भानजी ही उसकी नाक के नीचे पशुओं की तरह बाजार में बेची गई, और राजा के कानों में भनक तक भी नहीं पहुंची। रानी ने उसकी खोज-खबर तक नहीं ली तो और नारियों एवं कन्याओं की क्या दशा हुई होगी? कितना निर्दयतापूर्ण वातावरण होगा वहाँ का? कितनी सुकुमारियाँ वहाँ छिप-छिप कर आँसू बहाती होंगी? और भीतर-ही-भीतर अपने स्वजनों के वियोग एवं पराधीनता की यंत्रणा में हा-हाकार

कर रही होंगी ? पर श्रमण महावीर के सिवाय किसके पास थे वे दिव्यश्रोत्र, जो उस अनाथ, असहाय मातृजाति की करुण पुकार सुनें, किसके पास थे वे दिव्यनेत्र, जो उनकी दारुण यंत्रणाओं का हृदयवेधक दृश्य देख सकें, और किसके पास था अमित साहस व शौर्य से भरा वह करुण-मानस, जो उसकी व्यथाओं से द्रवित हो सके ?....

कौशाम्बी में भिक्षार्थ पर्यटन करते हुए श्रमण महावीर को चार महीने बीत गये। उनका संकल्प पूर्ण नहीं हुआ, एक दिन वे कौशाम्बी के महामात्य सुगुप्त के घर भिक्षार्थ गये। महामात्य की पत्नी नन्दा प्रभु की उपासिका थी, उसने शुद्ध भिक्षा का निमंत्रण दिया, किंतु प्रभु तो अभिग्रहधारी थे, अभिग्रह पूर्ण हुए बिना कैसे आहार ग्रहण करें ? बिना कुछ लिये ही लौट आये। नन्दा के हृदय को गहरी चोट पहुंची, अपने भाग्य को कोसती हुई वह फूट-फूट कर रोने लगी। तब दासियों ने कहा—"स्वामिनी ! आप इतना पश्चात्ताप क्यों करती हैं ? देवार्य तो यहां (नगर में) प्रतिदिन आते हैं और बिना कुछ लिये ही लौट जाते हैं, आज लगभग चार मास से तो हम देख रही है........।"

दासियों की बात सुनकर नन्दा स्तब्ध हो गई। उसकी आत्मा भीतर-ही-भीतर तड़प उठी—"क्या देवार्य चार मास से यों ही लौट जाते हैं ? अवश्य ही कोई दुर्गम-दुःशक्य अभिग्रह ले रखा होगा, जिसके पूर्ण हुए बिना वे आहार ग्रहण नहीं करते।" नन्दा गहरी चिन्ता में डूबी हुई बैठी थी कि तभी महामात्य सुगुप्त भवन में प्रविष्ट हुए। नन्दा ने अपनी मनोव्यथा बताते हुए कहा—"आपकी चतुरता और बुद्धिमानी किस काम की ? जो आप इतना भी पता नहीं लगा सकते कि देवार्य श्रमण महावीर चार मास से आहार के लिये नगर में भिक्षार्थ आते हैं और खाली लौट जाते हैं ? उनके अभिग्रह का पता आप न लगा पाये तो आपकी यह महामात्यता व्यर्थ है........।"

नन्दा की व्यथाभरी वाणी सुनकर सुगुप्त ने आश्वासन दिया—"मैं हर संभव प्रयत्न कर देवार्य के अभिग्रह का पता लगाऊंगा।"

देवार्य के सम्बन्ध की यह चर्चा वहां खड़ी एक विजया नाम की दासी ने सुनी, जो मृगावती के अन्तःपुर में महिला-प्रतिहारी थी। उसने जाकर मृगावती से यह घटना कह सुनाई। मृगावती यह सुनते ही आकुल हो उठी और उसी समय महाराज शतानीक को बुलाकर उलाहना दिया—"इस विशाल राज्य और आप जैसे महान राजा की महारानी होने में मुझे आज कोई सार्थकता नहीं लगती। मैं आज अपने को इस राज्य की रानी होने में हीनता एवं दीनता अनुभव करती हूं, जबकि देवार्य चार

मास से बिना अन्न-जल प्राप्त किये नगर में घूम रहे हैं। आपने उनकी खबर भी नहीं ली, नगर में क्या हो रहा है, कुछ पता भी है—आपको.... ?"

शतानीक ने भी अफसोस के साथ देवार्य के अभिग्रह का पता लगाने का आश्वासन दिया। उसने महामात्य सुगुप्त, राजपुरोहित तथा अनेक बुद्धिशाली श्रमणोपासकों एवं चतुर नागरिकों को बुलाया और देवार्य के अभिग्रह का पता लगाने का आदेश दिया। पर कोई भी उनके मनोगत वज्रसंकल्प का पता लगाने में सफल नहीं हो सका।

[३]

पांच मास चौबीस दिन बीत गये, आज पच्चीसवां दिन था, श्रमण महावीर ध्यान स्थिति पूर्ण कर नगर में भिक्षार्थ पर्यटन करते हुए धनावह सेठ के भवन की ओर जा रहे थे। मानो वे चन्दना की टोह में ही घूम रहे थे और आज उस बंदिनी नारी के मुक्ति दिवस की पुण्यबेला आ गई हो।

× × ×

चन्दना को भूमिगृह में पड़े-पड़े तीन दिन बीत गये, चौथे दिन धनावह बाहर से नगर में आया, घर को सूना देखा, चन्दना भी नहीं दिखाई दी तो इधर-उधर जाकर उसने पुकारा—"चन्दना ! चन्दना !"

चन्दना भूमिगृह में बन्द थी, भूखी-प्यासी ! उसने धीमे स्वर में उत्तर दिया, "पिता जी, मैं यहां हूं।"

धनावह ने भूमिगृह में बन्द चन्दना का विद्रूप देखा तो वह फूट-फूट कर रोने लगा, "बेटी, तेरी यह दशा ! मेरे जीते जी तेरा यह हाल !"

चन्दना ने धीरज के साथ कहा—"पिताजी, कष्ट के समय रोने-धोने से वेदना और भी तीव्र हो जाती है, आप धीरज रखिये, आप किसी पर रोष और आक्रोश न करें, यह तो अपने ही कृत-कर्मों का फल है, आप शीघ्र मुझे भूमिगृह से बाहर निकालिये, मैं भूखी-प्यासी हूं, जरा कुछ खाने को दीजिये और मेरी बेड़ियां छुड़वाइये।"

धनावह ने हाथ के सहारे चन्दना को घर के दरवाजे में ला बिठाया, खाने को कुछ था ही नहीं, एक सूप के कोने में बासी उड़द उबला हुआ रखा था। धनावह ने वही चन्दना के सामने रख दिया, और बोला—"बेटी ! तेरी बेड़ियां कटवाने मैं अभी लुहार को बुलाता हूं।"

सेठ लुहार को बुलाने गया, चन्दना द्वार के बीच हाथ में सूप और उसमें रखे बासी बाकले लेकर खाने का विचार कर ही रही थी कि उसे अपनी इस दयनीय दशा पर ग्लानि आने लगी, साथ ही चम्पा के राजप्रासादों का वह भव्य सुखमय अतीत स्मृतियों में उतर आया और जीवन के इस उतार-चढ़ाव पर चिन्तन करने लगी, सहसा सामने तपोमूर्ति महाकारुणिक श्रमण महावीर भिक्षार्थ पर्यटन करते-करते उसी के भवन द्वार की ओर बढ़े आ रहे थे। चन्दना ने प्रभु को देखा तो, उसका रोम-रोम नाच उठा, दुःख की भीषण ज्वाला के बीच यह सुख की मधुर बयार उसके तन-मन को प्रफुल्लित कर गई। देवार्य मेरे द्वार पर आ रहे हैं, पर हाय ! मैं क्या भिक्षा दूंगी ! उसे स्मरण आया, जब चम्पा के राजप्रासादों में देवार्य भिक्षार्थ आते थे और माता धारणी और मैं अत्यन्त भक्तिपूर्वक प्रभु को भिक्षान्न दिया करती थी, और आज...... आज ! मेरे हाथों में हथकड़ियाँ, पैरों में बेड़ियाँ, सिर मुंड़ा हुआ, वस्त्र के नाम पर तन पर एक कछोटा और अन्न के नाम पर बासी उड़द के बाकले—इस स्थिति में प्रभु को क्या दूंगी ? हर्ष और अवसाद के इस भयानक उतार-चढ़ाव में चन्दना का रोम-रोम उत्कंठित हो गया, और आंखें आँसुओं से भीग गईं। तभी देवार्य ने देखा—उनका घोर अभिग्रह आज पूरा हो रहा है ? संकल्पित सभी बातें यथावत् मिल रही हैं। उन्होंने चन्दना के भक्ति-विभोर हृदय के समक्ष हाथ फैला दिये। भाव-विभोर चन्दना ने उड़द के बाकले प्रभु के कर-कमलों में अर्पित कर दिये। प्रभु ने वहीं पारणा कर लिया।[1]

सहसा आकाशमण्डल देव-दुंदुभियों से गूंज उठा। 'अहोदानं-अहोदानं' की घोषणा से कौशाम्बी का कोना-कोना मुखर हो गया। चन्दना की बेड़ियाँ स्वर्ण मणि-जटित आभूषण बन गईं। सिर पर दिव्य केश कान्ति बिखेरने लगे और धरती पर दिव्य पुष्प एवं रत्नों की वृष्टि होने लगी।

यह अद्भुत दृश्य देखकर कौशाम्बी के हजारों नर-नारी धनावाह सेठ के घर की ओर दौड़ पड़े। कौशाम्बी के घर-घर में यह संवाद बिजली की तरह फैल गया कि एक दासी ने देवार्य को भिक्षा दी है। देवार्य के अभिग्रह-पूर्ति का संवाद सुनते ही

---

१ परम्परागत कथाओं में कहा जाता है कि प्रभु के दर्शन कर चन्दना हर्ष-विभोर हो गई, उसके आँसू सूख गये, और इस प्रकार अभिग्रह अपूर्ण देखकर प्रभु वापस लौट गये। तभी बंदिनी चन्दना की आँखें अपने दुर्भाग्य पर बरस पड़ीं। प्रभु ने वापस लौट कर देखा कि उसकी आंखों से अश्रुधारा बह रही थी।........ किन्तु इस प्रकार प्रभु का लौट जाना और वापस मुड़ना—किसी प्राचीन चरित्र-ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलता।

महामात्य सुगुप्त, नन्दा, रानी मृगावती और राजा शतानीक भी दौड़े आये। राजा के साथ कंचुकी नाम का एक दास भी था, जो पहले दधिवाहन राजा का सेवक था, शतानीक ने उसे गुलाम बनाकर रखा था पर उसकी सेवा से खुश होकर कुछ दिन पूर्व ही उसे मुक्त किया था।

हजारों नर-नारियों की भीड़ प्रभु का गुणगान कर रही थी, और दासी के भाग्य को भी सराह रही थी। तभी कंचुकी ने चन्दना को पहचान लिया, वह भीड़ को चीरता हुआ आगे बढ़ा—लोगों को डाँटने लगा—तुम किसे दासी कह रहे हो? यह तो राजकुमारी वसुमती है! और वह उसके चरणों में गिरकर फूट-फूट कर रोने लग गया। कंचुकी को देखकर पुरानी स्मृतियाँ जग गईं, और चन्दना की आँखों से भी अश्रुधारा बह निकली। वसुमती का नाम सुनते ही मृगावती ने उसे पहचान लिया, वह भी रोती-बिलखती आकर उससे लिपट गई। अब तो सारा वातावरण ही बदल गया। लोग जिसे बाजार में बिकी दासी समझ रहे थे, वह आज चम्पा की राजकुमारी के रूप में उनके समक्ष प्रस्तुत हुई तो विषाद, अफसोस और ग्लानि-मिश्रित चर्चाओं ने सबके हृदयों को झकझोर डाला।

शतानीक एवं मृगावती ने बार-बार चन्दना से क्षमा माँगी, उसे प्रेमाग्रह-पूर्वक राजमहलों में चलने की विनती की—पर, चन्दना ने राजा-रानी के आग्रह को ठुकरा दिया—"जिस राज्य-लिप्सा ने हजारों निरपराध मनुष्यों का रक्त बहाया, सैकड़ों-हजारों रमणियों का सुहाग लूटा और उन्हें दासता की बेड़ियों में जकड़ कर पशुजीवन जीने के लिए विवश किया, जिसे अपनी बहन के सुहाग की भी चिन्ता नहीं हुई, उस मौसी के जन-अभिशाप-ग्रस्त राजमहलों में जाकर मैं नहीं रह सकती। मैं तो उस महापुरुष के चरणों में ही आश्रय लूँगी, जिसने मेरी दुर्दशा को निमित्त बनाकर हजारों-हजार अभिशापग्रस्त नारियों और दुर्बल मनुष्यों को उबारने का प्रण किया, और स्वयं छह मास तक भूखे-प्यासे रहकर उनके उद्धार का वातावरण बनाया।"

कहना नहीं होगा कि भगवान् महावीर का यह घोर अभिग्रह केवल उनकी एक कठोर तपःसाधना का अंगमात्र बनकर ही नहीं रहा, अपितु इस अभिग्रह ने युग की हवा बदल दी। अभिशापग्रस्त नारीजाति के उद्धार और कल्याण का एक महान पथ प्रशस्त कर दिया। मातृजाति को दासता से मुक्ति दिलाने में मुक्ति के संदेशवाहक भगवान् महावीर का यह अभिग्रह एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।[1]

1 (क) घटना वर्ष वि० पू० ५०० (साधना काल का बारहवाँ वर्ष)।

झंझावातों के बीच

श्रमण महावीर को साधना करते काफी समय बीत चुका था। पूर्व-प्रांत के प्रायः सभी नगरों, जनपदों एवं ग्रामों में उनका परिभ्रमण हुआ, अनेक राजन्य एवं श्रेष्ठी उनके भक्त भी बन गये, किन्तु फिर भी ऐसे अज्ञान लोगों की कमी नहीं थी, जो समय-समय पर श्रमण को ध्यानस्थ व भिक्षावृत्ति करते देखकर उन पर क्रुद्ध न हो जाते और बड़ी निर्ममता से उन पर प्रहार करने उबल न पड़ते। छोटे-छोटे ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिनकी चर्चा हमने छोड़ दी है, पर उनके अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि अब भी श्रमण महावीर की साधना में विविध विघ्नों एवं संकटों के झंझवात उठते ही चले जा रहे थे।

चमरेन्द्र की शरणागति के बाद एक बार भगवान् महावीर भोगपुर नामक ग्राम में आकर ध्यान किये खड़े थे। वहाँ उन्हें देखते ही माहेन्द्र नामक एक क्षत्रिय को क्रोध आ गया। बक-झक करता हुआ वह श्रमण महावीर के निकट आया, और गालियाँ बकने लगा। श्रमण महावीर जब मौन रहे तो उसका क्रोध और उबल पड़ा और वह खजूर की गीली टहनी लेकर उन्हें पीटने दौड़ा। किन्तु तभी सनत्कुमार देवेन्द्र ने माहेन्द्र को ललकार कर भगा दिया।[२] वहाँ से भ्रमण करते हुये महाश्रमण नंदी-ग्राम में आये तो वहां के अधिपति नन्दी क्षत्रिय ने उनका भाव-भीना स्वागत भी किया।[३]

कुछ समय बाद श्रमण महावीर मेंढिया ग्राम आये तो वहां एक ग्वाला उन्हें देखते ही पता नहीं क्यों आग-बबूला हो गया और रस्सी लेकर उन्हें मारने दौड़ा।[४]

इस प्रकार समय-समय पर श्रमण महावीर की साधना में संकटों के झंझा-वात उठते और शान्त होते जाते। आश्चर्य तो यह था कि परम वीतराग, महान कारुणिक अहिंसामूर्ति तपोधन को भी लोग मिथ्या अहंकार, स्वार्थ एवं भ्रमवश

(ख) आवश्यक निर्युक्त आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों में वर्णित इस घटना प्रसंग में दिगम्बर ग्रन्थ कुछ मतभेद रखते हैं। मुख्य बात—वहाँ भगवान महावीर के अभिग्रह का उल्लेख भी नहीं है। चन्दना द्वारा भिक्षा अवश्य दिलाई जाती है, चन्दना को चेटक की पुत्री माना गया है।

—देखिये उत्तरपुराण ७४।३३८

१ घटना वर्ष वि. पू. ५०१। २ घटना वर्ष वही। ३ घटना वर्ष वही।

इतने क्रूर कष्ट देते तो सामान्य साधक का जीवन तो कष्टों की आग में शायद भस्म ही हो जाता।

एक बार (चन्दना की मुक्ति के बाद) श्रमण महावीर कौशाम्बी से विहार कर पालक ग्राम की ओर जा रहे थे। उसी मार्ग में भायल नाम का कोई वैश्य धन कमाने देश यात्रा पर जा रहा था। मार्ग में महावीर मिल गये, वैश्य ने मुंडित सिर श्रमण को देखा तो उसे लगा—यह तो बड़ा भारी अपशकुन हो गया, उसे श्रमण पर इतना गहरा क्रोध आया कि उसके हाथ में तलवार थी, वह तलवार से महावीर के टुकड़े-टुकड़े करने को दौड़ पड़ा। पर, महाश्रमण तो मौन थे, अपनी ही मस्ती में चल रहे थे, वैश्य को तलवार का प्रहार करने आते देखा तो वहीं स्थिर खड़े रह गये। उनकी तेजोदीप्त मुखमुद्रा को देखते ही दुष्ट वैश्य के हाथ से तलवार छूट गई और वह उसी के सिर पर जा पड़ी। महावीर को, यदि यह प्रहार अपने ऊपर होता तो इतना कष्ट नहीं होता, किन्तु उसी वैश्य की अपनी तलवार से हत्या हुई देखकर उनकी करुणा सजल हो उठी। पर वे करते भी क्या? दुष्ट अपने ही दुष्कृत्य से मरा?[1]

इस प्रकार के दारुण, प्राणघातक और पीड़ा-कारक प्रसंगों के झंझावातों में शायद हिमालय-सा अचल योगी भी हिल जाता, पर इतने दीर्घकाल तक कष्टों को सहते हुये भी महावीर उसी प्रसन्नता और हार्दिक आनन्द की अनुभूति के साथ अपनी साधना में लीन रहे। ऐसा लगता था, मानो ये पीड़ाएँ उनके तन तक ही पहुंच पाती है, उनके मन को, उनकी अन्तश्चेतना को स्पर्श भी नहीं कर पाई हों।

कष्ट और उपसर्ग के सागर में तैरते-तैरते महावीर अब लगभग किनारे पहुंच गये थे। साधना की अग्नि-परीक्षा में तप कर दमक उठे थे। साधनाकाल के अन्तिम समय और कैवल्य-प्राप्ति के पूर्व दिनों में एक दारुण कष्ट और एक असह्य पीड़ा जो उनके अब तक के जीवन में सबसे भयकर थी, उससे भी उन्हें जूझना पड़ा। अन्तिम विजय तो उनकी थी ही।

कानों में कील

साधना काल के तेरहवें वर्ष में श्रमण महावीर छम्माणि गांव के बाहर कायोत्सर्ग किये खड़े थे। संध्या को एक ग्वाला जो कहीं खेतों में काम करता हुआ

१ घटनावर्ष वि. पू. ५००

आया था ! श्रमण को ध्यानस्थ देख कर बोला—"देवार्य ! जरा मेरे बैलों की देखभाल करना, अभी आता हूं ।"

ग्वाला गांव में चला गया, कुछ समय पश्चात् लौटा, बैल चरते-चरते कहीं दूर निकल गये थे, वहां कहां मिलते ? उसने इधर-उधर ढूंढ़ा, पर, बैल दिखाई नहीं दिये तो उसने पूछा—'देवार्य ! बताओ मेरे बैल कहां गये ?'

महावीर किसके बैलों का अता-पता रखते । वे मौन-ध्यान में लीन थे । ग्वाले ने दुबारा पूछा, फिर भी मौन । अब तो ग्वाला आग-बबूला हो गया, और खूब जोर से चिल्ला उठा—'ऐ ढोंगी बाबा ! तुझे कुछ सुनाई भी देता है या नहीं । बहरा तो नहीं है ?' महावीर ने कोई उत्तर नहीं दिया ।

'अच्छा, लगता है दोनों ही कान फूटे हैं, जरा ठहर, अभी तेरी चिकित्सा करता हूं ।' आवेश में मूढ़ ग्वाले ने किसी वृक्ष की दो पैनी लकड़ियां लीं और महावीर के कानों में आर-पार ठोंक दी ।

कितनी असह्य. मर्मान्तक वेदना हुई होगी ? पर, फिर भी महाश्रमण ध्यान से चलित नहीं हुये, बाह्य निमित्त पर तो उनकी दृष्टि ही नहीं थी, वे तो आत्मा के विशुद्ध उपादान पर ध्यान-चेतना को केन्द्रित किये प्रतिमा बने खड़े थे । कायोत्सर्ग पूर्ण कर श्रमणवर छम्माणी से मध्यमा नगरी में भिक्षा के लिये गये । भिक्षा हेतु भ्रमण करते हुये वे सिद्धार्थ नामक वणिक् के घर पहुंच गये । वणिक् के पास ही उसका परम सखा खरक वैद्य भी बैठा था । इस तेजस्वी महाश्रमण को देखकर दोनों ही उठे, आदरपूर्वक वन्दना की और भिक्षान्न दिया ।

दीर्घकालीन तप की अग्नि में तपकर महाश्रमण की काया स्वर्ण-सी कान्तिमान हो रही थीं, उनकी मुखाकृति पर अपूर्व तेज दीप्तिमान था, किन्तु फिर भी कानों में घुसी कीलों की वेदना आंखों में स्पष्ट झलक रही थी । खरक वैद्य ने श्रमण की मुखाकृति को सूक्ष्मता के साथ देखा, तो वह भांप गया । उसने सिद्धार्थ से कहा—इस तपस्वी महाश्रमण को कुछ न कुछ वेदना अवश्य है, इनके शरीर में कहीं कोई न कोई शल्य खटक रहा है । तभी तो सर्वलक्षणसम्पन्न होते हुये भी इनकी दीप्ति कुछ मन्द, धुंधली-सी हो रही है ।

सिद्धार्थ ने आश्चर्य और खेद के साथ कहा—हैं ! ऐसे महाश्रमण के तन में वेदना ? गुप्तशल्य ? मित्र, फिर तो उसका पता लगाकर उपचार करना चाहिये । ऐसे तपस्वी की सेवा करना तो महापुण्य का कार्य है ।"

जब तक महावीर भिक्षा ले रहे थे, खरक वैद्य ने सूक्ष्मता से उनके शरीर का अवलोकन किया और शीघ्र ही पता लगा लिया कि—श्रमणवर के कानों में

किसी दुष्ट ने कीलें ठोक दिये हैं। भिक्षा ग्रहण कर महावीर चले गये, खरक ने सिद्धार्थ से यह सब कहा तो वह सिहर उठा। "ऐसा दुष्ट, अधम कौन होगा ? पर खैर, अभी तो शीघ्र ही श्रमण की चिकित्सा का प्रबन्ध करना चाहिये।"

खरक ने कीलें निकालने के सभी साधन जुटाये और शीघ्र ही महावीर के पीछे-पीछे उस उद्यान में आये, जहाँ श्रमणवर पुनः ध्यान प्रतिमा लगाये खड़े थे। इस असह्य वेदना के समय में भी उनकी धीरता और सहनशीलता देखकर दोनों ने ही दाँतों तले अँगुली दबा ली। खरक ने तैलादिक से महावीर के तन का मर्दनादि किया और दोनों ओर से दोनों ने संडासियों (कंकमुख) से पकड़कर बलपूर्वक वे कीलें खींचीं। कीलें निकालते समय सुमेरु सम महावीर को भी इतनी असह्य और मर्मान्तक वेदना हुई कि उनके मुख से एक भयंकर चीख निकल पड़ी। कीलों के साथ ही रक्त की धारा छूट गई, खरक ने संरोहण औषधि का लेप कर श्रमण-श्रेष्ठ के घावों को शीघ्र ही भर दिया।

उस समय महावीर की इस मर्मान्तक चीख पर कवि ने लिखा है—"चीख की प्रतिध्वनि से दिशाएँ काँप उठीं पृथ्वी का हृदय फटने लग गया, विशाल गिरि-राज डोलने लग गये—क्षणभर तो प्रलयकाल-सा दृश्य उपस्थित हो गया, किन्तु यह चीख किसी हिंस्र व अशान्त हृदय की नहीं, एक विश्ववत्सल करुणाशील महात्मा के मुख से निकली थी, इस कारण कोई अनर्थ नहीं हुआ।

महावीर इस प्राणान्तक वेदना के प्रसंग पर भी प्रसन्न थे और थे अन्तश्चेतना में लीन। कानों की कीलें निकलीं, वे शल्य-रहित हो गये, और सिर्फ बाह्य शल्य से ही नही, अन्तर्शल्य से भी सर्वथा मुक्त हो रहे थे। उनके साधक जीवन की यह अन्तिम वेदना थी, कष्टों की यह आखिरी घड़ी थी, अन्तिम कड़ी थी जो अब टूट चुकी थी।[1]

कैवल्य-प्राप्ति

जंभिय गाँव का वह सीमान्त, ऋजुवालुका नदी का शान्त उत्तरी तट, श्यामाक किसान का खेत और उसमें स्थित वह विशाल शालवृक्ष। कितना पावन होगा! जिसकी स्मृतियाँ हजारों-हजार वर्ष बीत जाने पर आज भी तन-मन को गुदगुदा देती हैं, चेतना को पुलकित कर देती हैं। और वह भूमि कितनी पवित्र

१ घटना वर्ष वि. पू. ५००। —त्रिषष्टि० १०।४

होगी, वह मिट्टी सोने से भी मूल्यवान होगी, जिस पर उकडू आसन बैठे महाश्रमण महावीर ध्यान की उच्चतम श्रेणी को पार करते हुए अन्तश्चेतना के विराट् आलोक से दीप्त हो रहे थे। वैशाख शुक्ला दशमी का वह पावन दिन और वह मंगलमय चतुर्थ प्रहर। उधर सूर्य थक कर पश्चिम की शरण में जा रहा था, और उधर एक दिव्य आलोकपुंज, कभी अस्त नहीं होने वाला ज्ञान-सूर्य उदित हो रहा था। प्रकृति के प्रकाश की चादर सिमट रही थी, और इधर अनन्त दिव्य प्रकाश-किरणें बिखर रहीं थीं। चार घनघाति कर्मों का क्षय कर श्रमण महावीर आज सच्चे अर्थ में, भाव रूप में भगवान बन रहे थे। केवलज्ञान और केवलदर्शन से उनकी आत्मा आलोकित हो उठी। समस्त आवरण छंट गये, अंधकार नष्ट हो गया और दिवसांत में एक अभिनव सूर्य अनन्त-अनन्त ज्ञानरश्मियाँ बिखेरने लगा। उनकी चेतना सर्वथा अनावृत हो गई। जगत के समस्त द्रव्य एवं पर्याय पूर्णरूप से उनके ज्ञानालोक में प्रतिबिम्बित हो उठे।[1]

साधक जीवन : एक अवलोकन

श्रमण महावीर वि० पू० ५१२ मृगसर कृष्णा दशमी को साधना के कंटकाकीर्ण पथ पर बढ़े थे और निरन्तर साढ़े बारह वर्ष, तेरह पक्ष तक उसी पथ पर अद्भुत वीरता और समता के साथ गतिमान रहे। साढ़े बारह वर्ष का यह साधक जीवन महावीर की अग्निपरीक्षा का समय था, उनकी तितिक्षा, समता, अहिंसा करुणा, ध्यानलीनता और अद्भुत तपश्चरण की इतनी कठोर परीक्षाएँ हुईं कि उनकी कल्पना भी मन को प्रकंपित कर डालती है। उनकी साधना का मार्ग बड़ा बीहड़ था। जिसे हमारी बाह्यदृष्टि सुख समझती है, उसका तो शायद उन्हें अनुभव ही नहीं हुआ होगा, पर उनकी चेतना दुख में भी, अनन्तसुख का संवेदन करती रही, यह सत्य है। वैसे बंधन और वंदन, पूजा और पीड़ा, उपसर्ग और उपासना, सन्मान और अपमान, दुस्सह यातनाएँ और भक्तिपूर्ण भावनायें उन्हें मिलीं, बाहुल्य बन्धनों और यातनाओं का रहा, पर दोनों ही प्रकार की स्थितियाँ उनके तन तक ही सीमित रहीं, उनका मन कभी किसी बाह्य निमित्त को पाकर न कभी खिन्न हुआ और न प्रसन्न। प्रसन्नता और आनन्द का अथाह सागर तो उनके अन्तःकरण में सतत हिलोरें मार रहा था। उनकी चेतना अत्यन्त प्रबुद्ध, उनकी तितिक्षा अवर्णनीय और समता योग तो अद्वितीय था।

1 घटना वर्ष वि. पू. ४९९९, ई. पू. ५५७

इसे हम संयोग कहें या नियति की विडम्बना कि उनके साधक जीवन में कष्टों के जो निमित्त मिले वे विचित्र ही थे, वे एकपक्षीय थे। चूँकि संघर्ष दो के बीच होता है, क्रोध से क्रोध, स्वार्थ से स्वार्थ, लोभ से लोभ, अहंकार से अहंकार की टक्कर होती है, पर श्रमण महावीर तो क्रोध, लोभ, स्वार्थ, अहंता, ममता, भय और वासना से सर्वथा मुक्त थे। उनका मानस समता में लीन और अहिंसा, मैत्री व करुणा की उच्चतम रसानुभूति से प्लावित था। उन पर हिंसक, क्रूर और दुष्ट प्राणियों का हाथ उठना ही नहीं चाहिये था। उनकी अहिंसा इतनी तेजस्वी थी कि क्रूरता उसके समक्ष टिक नहीं सकती थी, पर, फिर भी घटनाएँ यह बताती हैं कि उन पर इतने निर्मम प्रहार हुये, इतनी दारुण यातनाएँ उनको दी गई, मनुष्य तो क्या, पत्थर भी चूर-चूर हो जाता, पर प्रश्न है कि श्रमण महावीर को इतने कष्ट क्यों झेलने पड़े ? हमारे विचार में इसके दो कारण हो सकते हैं :—

१. वे कष्टों को स्वयं निमंत्रण देते थे। यद्यपि कष्ट न साध्य था और न साधन, पर इसलिये कि ऐसे प्रसंगों पर वे स्वयं की तितिक्षा और समता की परीक्षा कर अपने को परखना चाहते थे। साधना, करुणा और समता की धार को और तेज बनाना चाहते थे ताकि पूर्व-बद्ध कर्मों के बन्धन शीघ्रता से कट सकें।

२. उस युग का वातावरण एक तो श्रमण-विरोधी था। दूसरे, बहुत से लोग श्रमण के परिवेश, आचार और स्वरूप से प्राय: अनभिज्ञ थे। छोटे-छोटे राज्यों में प्राय: सीमाओं के झगड़े और आपसी कलह चलते रहते थे; वे मौनी, ध्यानी तपस्वी साधुओं को देखते ही जब उनका परिचय नहीं पाते तो उन्हें चोर, गुप्तचर और छद्मवेशी शत्रु-पक्षीय समझ कर उनको मर्मान्तिक कष्ट भी दे डालते। और चूँकि महावीर आत्मगुप्त (स्वयं का परिचय नहीं देने का संकल्प लिये) थे इसलिये इस प्रकार के प्रसंग उपस्थित होते गये और उनकी एक लम्बी शृंखला चल पड़ी।

गणित की भाषा में

हाँ, तो इस साढ़े बारह वर्ष के साधना-काल के कष्टों और तप:साधनाओं का लोमहर्षक वर्णन, जो हम पढ़ चुके हैं, उसका आचार्यों ने गणित की भाषा में संक्षिप्त वर्गीकरण यों प्रस्तुत किया है :—

जघन्यकोटि के उपसर्ग—कटपूतना का उपसर्ग सबसे कठोर था।

मध्यमकोटि के उपसर्ग—संगम द्वारा प्रस्तुत कालचक्र सबसे भयानक था।

उत्कृष्टकोटि के उपसर्ग कानों में कीलें (शलाका) ठोकना और निकालना सबसे दारुण उपसर्ग था।

आश्चर्य और संयोग की बात है कि श्रमण महावीर के जीवन में उपसर्गों का प्रथम चक्र एक अबोध अज्ञान ग्वाले द्वारा चलाया गया, और कष्टों का आखिरी रूप भी एक ग्वाले द्वारा कानों में कीलें ठोंक कर प्रस्तुत हुआ।

तपश्चरण

आचार्य भद्रबाहु, जो श्रमण महावीर के पहले जीवनी-लेखक माने जा सकते हैं, उन्होंने कहा है- श्रमण महावीर का तपःकर्म, अन्य तेईस तीर्थंकरों की अपेक्षा अधिक उग्र एवं अधिक कठोर था।[1] यद्यपि उनका साधना-काल बहुत लम्बा नहीं था, पर उपसर्गों की श्रृंखला ज्वालामुखी की भीषण ज्वालाओं की भांति एक के बाद एक उछालें मार-मार कर संतप्त करती रहीं। उनके द्वारा आचरित तपःसाधना की तालिका इस प्रकार है :--

छह मासिक तप—१	(१८० दिन का)
पाँच दिन कम छह मासिक तप—२	(१७५ दिन का)
चातुर्मासिक तप—६	(१२० दिन का एक तप)
तीन मासिक तप—२	(६० दिन का एक तप)
सार्धद्विमासिक तप—२	(७५ दिन का एक तप)
द्विमासिक तप—६	(६० दिन का एक तप)
सार्ध मासिक तप—२	(४५ दिन का एज तप)
मासिक तप—१२	(तीस दिन का एक तप)
पाक्षिक तप—७२	(१५ दिन का एक तप)
भद्रप्रतिमा—१२	(२ दिन का तप)
महाभद्र-प्रतिमा—१	(४ दिन का तप)
सर्वतोभद्र प्रतिमा—१	(दश दिन का एक पप)
सोलह दिन का तप—१	
अष्टम भक्ततप—१२	(तीस दिन का एक तप)
षष्ट भक्त तप—२२६	(दो दिन का एक तप)

इसके अतिरिक्त दसम-भक्त (चार दिन का उपवास) आदि अन्य तपश्चर्याएं भी कीं। प्रभु की तपश्चर्या निर्जल होती थी[2] और उसमें ध्यान-योग की विशिष्ट प्रक्रियाएं भी चलती रहती थीं।

१ उग्गं च तवोकम्मं विसेसओ वध्दमाणस्स। —आवश्यकनिर्युक्ति २६२।
२ सव्वं च तवोकम्मं अपाणयं आसि वीरस्स। —आवश्यकनिर्युक्ति ४१६

चतुर्थ खण्ड

कल्याण-यात्रा

[अर्हत् जीवन]

हत्थीसु एरावणमाहु नाए,
सीहो मिगाणं सलिलाणगंगा ।
पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवे,
निव्वाणवादीणिह नायपुत्ते ॥

जैसे हाथियों में रजत-सी देह वाला गजराज एरावण,
वन्यजीवों में वनराजसिंह,
जल-स्रोतों में पुण्य सलिला गंगा,
पक्षियों में पवन वेगगति वाला गरुड़देव, उत्कृष्ट हैं,
वैसे ही,
निर्वाणवादियों में ज्ञातपुत्र श्रमण महावीर अनुत्तर,
श्रेष्ठ और सबसे अग्रगामी है ।

संपूर्ण स्वाधीनता

ऋजुबालुका नदी के तट पर साधक महावीर कैवल्य लाभ प्राप्त कर सिद्धि के द्वार पर पहुंच गये। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अर्हत् एवं जिन बन गये। उनका अब तक का जीवन, साधक का जीवन रहा, अब तक वे स्व-कल्याण के लिये प्रयत्नशील थे, अब जन-कल्याण का लक्ष्य उनके समक्ष स्फूर्त हो गया। अब तक सत्य एवं आत्म-दर्शन के लिये मौन और एकान्त साधना करते थे, अब सम्पूर्ण सत्य उनके दिव्य ज्ञान में आलोकित हो उठा, आत्मसाक्षात्कार हो गया। अत: जन-जन के बीच जा कर उस अनुभूत सत्य को वाणी देना, उस गूढ़ातिगूढ़ आत्मरहस्य का बोध देना उनका कर्तव्य बन गया। वे अब तक मौन साधना, तप एवं एकान्तचर्या की जिस दिशा में बढ़ रहे थे वे सब कार्य संपन्न हो गये, चूँकि तप, तितिक्षा, मौन स्वयं में कोई साध्य नहीं थे, वे सब थे उस मार्ग के पड़ाव, जहाँ ठहरता हुआ साधक अपनी मंजिल पर पहुंचता है। नौका स्वयं में कोइ साध्य नहीं, मात्र समुद्र या नदी को पार करने का एक साधन है, सीढ़ियाँ कोई मंजिल नहीं, मात्र प्रासाद-शिखर तक पहुंचने का एक आलम्बन है, महावीर की तप, तितिक्षा, मौन, एकान्त-चर्या आदि को इसी दृष्टि से देखना चाहिए।

इस दीर्घ साधना के बाद महावीर को जो उपलब्धि हुई—वह थी अन्तश्चेतना का संपूर्ण विकाश—सर्वज्ञता, पूर्ण समता और सम्पूर्ण स्वाधीनता। इस अपूर्व उपलब्धि को अब वे छिपा कर कैसे रखते ? विषमता, भय एवं परतन्त्रता के विषाक्त वातावरण में संत्रस्त विश्व को वे इस अमृत का पान कराना चाहते थे, वे विषमता को मिटा कर समता, भय को समाप्त कर अभय, कुटिलता एवं दम्भ का सर्वनाश कर सरलता तथा वासना और स्वार्थ की दासता से मुक्त कर पूर्ण स्वतन्त्रता का संदेश जगत को देना चाहते थे, और विश्व इसके लिए आतुर व उत्सुक था। महावीर की अनन्त करुणा, विश्ववत्सलता और अखंड धर्मचक्रवर्तिता उन्हें प्रेरित कर रही थी—जगत के मंगल व कल्याण के लिये। वह महान वैद्यराज, जिसके पास अमृतघट भरा हो, संजीवनी औषधि का भंडार भरा हो, वह अपने समक्ष रोगी को तड़पते कैसे देख सकता है ? वह करुणाशील संत, जिसके अन्त:करण में समता का अनन्त क्षीर सागर हिलोरें मार रहा हो, विषमता की अग्नि ज्वाला में जीवों को जलते देख, कैसे

अपनी वाणी को रोक सकता है ? बस, महावीर ऋजुवालुका के तट पर—जिसकी पावन कोमल धूलि के कण-कण में ऋजुता का अमृतस्पर्श भर गया था, उस नदी की धारा की भाँति ही स्वतन्त्रता का दिव्य संदेश लेकर जृंभिय ग्राम से विहार कर मध्यम पावा में पहुंच गये।

कहते हैं महावीर की प्रथम वाणी, संपूर्ण सत्य की प्रथम अनुभूति, दिव्य ज्ञान-रवि की प्रथम किरण तो ऋजुवालुका के तट पर ही प्रस्फुटित हो गई, जब उनका कैवल्य-महोत्सव करने असंख्य-असंख्य देव-देवेन्द्र वहाँ उपस्थित हो, उनकी वन्दना-स्तवना कर उत्सव-उल्लास मना रहे थे। पर, देव जो ठहरे, सत्य एवं संयम की ग्राह्यता, पात्रता जो मानव-मानस में है, वह देव-मानस में कहाँ होगी ? इसी सत्य को साकार देखते हुये यह माना गया है, कि विशाल देव-परिषद् उपस्थित होने पर भी भगवान महावीर की वह प्रथम वाणी अपनी फलोपलब्धि की दृष्टि से निष्फल रही।[1]

ज्ञान-गंगा का प्रथम प्रवाह

मध्यमपावा नगरी उन दिनों धार्मिक गतिविधियों का केन्द्र बन रही थी। वैदिक संस्कृति और वैदिक विद्वानों की तो वह एक तीर्थ-स्थान ही होती जा रही थी। सोमिल नाम के एक धनाढ्य ब्राह्मण ने मध्यमपावा में विशाल महायज्ञ का आयोजन किया था। ऐसा महायज्ञ, जिसकी चर्चाएँ न सिर्फ मगध के विद्वानों में थी, किन्तु सम्पूर्ण पूर्व भारत की वैदिक-मनीषा को आकृष्ट कर रही थीं। उत्तर भारत के बड़े-बड़े नगरों तक इस महायज्ञ की चर्चा थी और हजारों नर-नारी उसकी पवित्र ज्योति का दर्शन करने के लिये एकत्र हुए थे। सामान्य जन समूह की विशाल उपस्थिति का अनुमान तो इसीसे लग सकता है कि पूर्व भारत के ग्यारह दिग्गज विद्वान अपने ४४०० शिष्यों के साथ इस महायज्ञ में उपस्थित हुए थे। साधारण दर्शक श्रद्धालु जनता की उपस्थिति की गणना तो हो ही क्या सकती है।

वैशाख शुक्ला एकादशी का मंगलमय प्रभात ! स्वतन्त्रता और समता की रक्ताभ रश्मियां बिखेरते हुए हजार-हजार सूर्यों से भी अधिक तेजस्वी एवं प्रभास्वर श्रमण महावीर मध्यमा के महासेन उद्यान में पधारे। देवताओं ने अपनी उत्कृष्ट

---

१ इस युग के दस महान् आश्चर्यों (अछेरा) में यह एक आश्चर्य माना गया है कि तीर्थंकर की वाणी निष्फल गई हो।

श्रद्धा एवं भक्ति के मंगल प्रवाह में ऐसे दिव्य समवसरण की रचना की, जिसकी दिव्यता भव्यता से ही दर्शक चमत्कृत और पुलकित हो उठे।[1]

भगवान महावीर के आगमन का संवाद जैसे ही मध्यम पावा में फैला, तो हजारों नर-नारी, जो अब तक उनकी तेजस्वी साधना की चर्चाएँ सुनकर बड़ी तीव्र उत्कण्ठा से दर्शनों की प्रतीक्षा कर रहे थे, सहसा ही रोमांचित हो उठे और एक दूसरे को, स्वजन-परिजन-मित्रवर्ग को साथ में लिये हुए महासेन वन की ओर निकल पड़े, जैसे अनेक नद-नदियों का प्रवाह समुद्र की ओर उमड़ पड़ा हो। गगनमंडल से असंख्य देव देवियाँ पुष्पवृष्टि करते हुए उसी समवसरण की ओर तीव्रगति से दौड़े आ रहे थे। लग रहा था नभोमंडल में आते-जाते देवविमानों से सूर्य का प्रकाश भी आच्छादित हो रहा है—और रंग-बिरंगे बादलों की भाँति देव विमानों की रंगीन छाया से भूमि रंग-बिरंगी साड़ी धारण कर रही है।

मध्यमपावा में जैसे अचानक ही कोई तूफान आ गया हो, महावीर के आगमन की चर्चा से सोमिल की यज्ञशाला का वातावरण आन्दोलित हो उठा। विस्मय, कुतूहल और प्रतिरोध की भावना से उद्वेलित पंडितसमूह ने यज्ञ के प्रमुख-सूत्रधार इन्द्रभूति गौतम से विचार चर्चा की। इन्द्रभूति स्वयं भी विचार-विमूढ़ थे, पंडितों की उद्वेलना से अधिक व्यग्र हो उठे। बोले—"लगता है महावीर कोई सामान्य पुरुष तो नहीं है। जिसकी प्रथम परिषद् (सभा) में ही अगणित जन-समूह और असंख्य देव-गण खिंचे आ रहे हैं, उसके पास साधना का बल और तप का तेज अवश्य ही अद्भुत होगा। हो सकता है वह ज्ञानबल में अब भी हम से कम हो, किन्तु प्रतिभाशाली और व्युत्पन्न अवश्य है। मैं भी सोचता हूं इस उठते हुए प्रतिस्पर्धी व्यक्तित्व को अभी दबा देना चाहिये, अन्यथा जो श्रमणपरम्परा हमारी यज्ञसंस्था का अब तक विरोध करती आई है, वह अब और अधिक सबल बन कर आक्रमण करेगी, यज्ञ-परम्परा को छिन्न-भिन्न करने की जी-तोड़ चेष्टाएं करेंगी, और इससे हमारी धर्म परंपरा में संघर्ष और विद्रोह फैलेगा। युग की भावना, जो ब्राह्मणवाद के विरोध में उमड़ रही है, महावीर उस युगभावना का रुख अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करेंगे। श्रमण प्रारम्भ से ही स्त्री-जाति एवं शूद्रों के प्रति स्नेह प्रदर्शित करते आये हैं, अब जन भावना का बल पाकर हमें पूर्ण रूप से परास्त करने का प्रयत्न करेंगे। अतः अभी से सावधान होकर इसका डट कर प्रतिरोध करना चाहिये।

१ दिगम्बर परम्परा की मान्यता के अनुसार भगवान महावीर की प्रथम देशना राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को हुई। यहीं पर इन्द्र द्वारा प्रेरित हुए इन्द्रभूति भगवान के समवसरण में आये।

इन्द्रभूति के विचारों का सर्वानुमति से समर्थन किया गया, और वर्धमान महावीर के साथ तत्त्व चर्चा कर उन्हें परास्त करने के लिये वे चल पड़े अपने ५०० छात्रों के विशाल परिवार को लेकर।

इन्द्रभूति जैसे-जैसे महावीर के समवसरण की ओर बढ़ रहे थे, उनकी मनोभूमि में भारी उथल-पुथल और एक संशयात्मक स्थिति पैदा हो रही थी। मार्ग में जनसमूह से एक स्वर में जब महावीर के तपस्तेज एवं अपूर्व ज्ञानबल की चर्चा सुनने में आई तो उनके मन की विरोधी ग्रन्थियां शिथिल हो गईं। एक विचित्र कुतूहल से मन आकुल हो उठा। महावीर में ऐसा क्या अद्भुत है ? उनकी वाणी में ऐसा क्या ओजस् है ? क्या आकर्षण है ? और क्या है युगधर्म का मन-मोहन स्वर, कि सर्वत्र उनका जादू छा रहा है ? विचारों के उतार-चढ़ाव, विजिगीषा के वात्याचक्र तथा ज्ञान-प्रतिभा और आभिजात्यता के अहंकार में झूलते हुए इन्द्रभूति महावीर की धर्मपरिषद् (समवसरण) के द्वार पर पहुंच गये। वे मन में प्रतिस्पर्द्धा की आग लिये आ रहे थे, पर जैसे ही भगवान महावीर की मुखमुद्रा की ओर देखा कि—मन में शान्ति का एक हिमालय-सा पिघलता प्रतीत हुआ। उन्हें लगा,—इन आंखों से स्नेह एवं मैत्री की जो अमृतवर्षा हो रही है, उससे उनके मन का, जनम-जनम का निदाघ शान्त हो रहा है। एक अपूर्व शीतलता व्याप्त हो रही है।

द्वार पर पहुंचते ही भगवान ने स्नेह-सिक्त शब्दों में संबोधन किया—"इन्द्रभूति गौतम ! तुम आ पहुंचे ?"

गौतम को अनुभव हुआ—भगवान महावीर के शब्दों में मात्र शिष्टाचार की ध्वनि ही नहीं, हृदय को खींचने वाली मैत्री का विद्युत आकर्षण है। वे पहले ही क्षण पानी-पानी हो गये, मन विनत हो गया, पर मस्तिष्क ज्ञान के अहंकार में अभी भी उद्धत था। सोचा—"महावीर मेरा नाम जानते हैं ? जब इतने विचक्षण और व्यवहारकुशल हैं तो मुझ जैसे विश्व-विश्रुत विद्वान से अपरिचित कैसे रह सकते हैं ? शायद अपनी सर्वज्ञता की धाक जमाने के लिये ही मुझे मेरे नाम-गोत्र से पुकारते हैं, पर मैं क्या कोई भोली मछली हूं जो इनके जाल में फंस जाऊं ? नहीं, मैं इनके मायाजाल में कभी नहीं फंस सकता।"

इन्द्रभूति विकल्पों में उलझे-उलझे कुछ आगे बढ़े, कि भगवान महावीर ने मधुर ओजस्वी स्वर में कहा—"इन्द्रभूति ! तुम इतने बड़े विद्वान होकर भी जीव की सत्ता के विषय में सन्देह कर रहे हो ?"

अब तो इन्द्रभूति के पैरों के नीचे से धरती खिसक गई। अपने गुप्त-सन्देह को आज तक किसी के समक्ष प्रकट नहीं किया था, आज महावीर ने उसे सहज रूप में उद्घाटित कर दिया, इस विशाल जनसमूह के समक्ष—? आश्चर्य में डूबे वे अपने आप से जैसे पूछ रहे हैं—क्या सचमुच ही महावीर सर्वज्ञ हैं ? अन्यथा मेरे मन की गूढ़ पहेली वे कैसे पकड़ पाते—?"

तभी महावीर ने इन्द्रभूति को पुनः सम्बोधित किया—"इन्द्रभूति ! जीव के अस्तित्व के विषय में सन्देह प्रकट करना अपनी ही सत्ता में सन्देह प्रकट करना है। भीतर में जो 'मैं' की अनुभूति है, जो इस समस्त गतिचक्र का संचालक है, क्या तुम उस 'अहं' का अनुभव नहीं कर रहे हो ? 'अहं' का बोध ही जीव की सत्ता का बोध है, जीवसत्ता का बोध ही आत्मतत्व का बोध है, आत्मा अतीन्द्रिय तत्व है, तुम उसे इन्द्रियों से देखने की चेष्टा मत करो, अतीन्द्रिय ज्ञान से अनुभव करो, तुम्हें स्पष्ट अनुभव होगा—?"

इन्द्रभूति का मस्तक आज स्वयं विनत हो रहा था। उन्हें लगा—महावीर की वाणी में न केवल तर्क का बल है, किन्तु आत्मा की अनुभूति है। आत्मानुभूति पूर्ण उनकी वाणी इन्द्रभूति की आत्मा को स्पर्श कर गई। उनका सदेह दूर हो गया, अहंकार विलीन हो गया। वे विनयपूर्ण स्वर में बोले—"प्रभो ! आज मेरा ग्रन्थिभेद हो गया, मुझे आज स्वयं अपने अस्तित्व की अनुभूति-सी हो रही है। मेरे भ्रम के समस्त आवरण आज दूर हट गये, आप मेरे मार्गदर्शक हैं, मैं आपको अपना गुरु स्वीकार करता हूं, मुझे अपनी शरण में लीजिये, और अपनी आत्मानुभूतियों से मुझे भी आत्म-साक्षात्कार का मार्ग बताइये।"

प्रभु ने मृदुस्वर में कहा—"इन्द्रभूति ! तत्व को तर्क से समझो, अनुभव से समझो, और फिर हृदय की सच्चाई से स्वीकार करो। चूंकि तुम स्वयं विज्ञ हो, इसलिए तुम्हें अधिक उपदेश की अपेक्षा नहीं है।"

महावीर की वाणी में जितनी गहरी अनुभूति थी, उतना ही गहरा था अनाग्रह। वे सत्य को शब्दजाल से मुक्त कर उसके असली रूप को प्रकट करते थे, और फिर भी उसे स्वीकार कराने का कोई आग्रह नहीं। इच्छायोग उनका प्रमुख दर्शन था, 'अहासुहं' यही उनका प्रचार-सूत्र था।

इन्द्रभूति की जिज्ञासा शान्त हो गई, उन्हें प्रकाश का दर्शन हो गया, अमृत का स्पर्श मिल गया, अब वे क्षण भर भी रुक नहीं सकते थे। जब विकल्प समाप्त

हो गये तो संकल्प को साकार होने में क्या विलम्ब ? वे अपने बन्धुओं को कहने के लिए भी वापस जाना नहीं चाहते थे, पीछे खड़े ५०० शिष्यों से भी कुछ पूछना नहीं चाहते थे, चूंकि पूछना, परामर्श लेना और रुकना—यह तो मन की दुर्बलता है, प्रज्ञा की अपूर्णता है, और है अपने आप के प्रति अविश्वास। अपनी सत्यप्रज्ञा के प्रति विकल्प। अपने मनोबल के प्रति अनास्था। गौतम इन सब विकल्पों से, अविश्वास-अनास्था से मुक्त हो प्रभु के चरणों में आ गये, सत्योन्मुखी प्रज्ञा प्रखर हो गई, श्रद्धा का वेग उमड़ पड़ा। क्षणभर का विलम्ब भी असह्य था। वे बोले—"प्रभो ! मैंने सत्य का अनुभव कर लिया है, मेरा मन सत्य और श्रद्धा से, प्रज्ञा और अनुभूति से आप्लावित हो उठा है, मुझे अपना शिष्य बनाइये।"

ज्ञान के अमरपिपासु, सत्य के सबलजिज्ञासु इन्द्रभूति ने महावीर की शिष्यता स्वीकार करली। उनके अनुगामी ५०० छात्र थे, वे भी प्रभु के चरणों में दीक्षित हो गये।

श्रमण नेता महावीर के पास इन्द्रभूति के दीक्षित होने का समाचार जैसे ही यज्ञशाला में प्रतीक्षारत विद्वन्मण्डली में पहुंचा, सब हतप्रभ से रह गये। उन्हें लगा, जैसे विजययात्रा पर बढ़ती हुई सेना का सेनापति ही शत्रु के समक्ष आत्मसमर्पण कर चुका है, सब नायकविहीन सेना की भांति अपने को अनुभव करने लगे। तभी इन्द्रभूति के लघुभ्राता अग्निभूति अपने ५०० शिष्यों के साथ महावीर की धर्म परिषद् की ओर बढ़े—"मैं महावीर को पराजित करूंगा और अपने ज्येष्ठ बन्धु को उनके जाल से मुक्त कराकर लाऊंगा।"

अग्निभूति द्वारा उच्चरित प्रतिज्ञा पर ब्राह्मण वर्ग ने तुमुल हर्षध्वनि की। हजारों दर्शक कुतूहल पूर्वक देख रहे थे, एक दूसरे से संशय की भाषा में पूछ रहे थे—"अग्निभूति भाई को मुक्त कराने जा रहे हैं या स्वयं महावीर के शिष्य बनने ? जानते हो, श्रमण नेता महावीर साधारण पुरुष नहीं हैं। उनकी वाणी में क्या ओज है ! क्या आकर्षण है ! एक-एक शब्द चुम्बक है। प्रत्येक शब्द में आत्मा की अनुभूति बोल रही है ? इन्द्रभूति तार्किक थे, विद्वान थे, शब्दज्ञानी थे, पर महावीर तो आत्मज्ञानी हैं, लगता है अग्निभूति का भी वही हाल होगा"—जनभाषा के ये शब्द अग्निभूति के कानों तक पहुंचे, बस, मार्ग में ही उनका मन भी डोल गया, संशयाकुल हो गया, आत्मविश्वास हिल गया। जब तक वे भगवान महावीर के समवसरण तक पहुंचे, तब तक तो उनका हृदय भीतर से महावीर के चरणों में समर्पित होने को आकुल हो उठा। फिर भी अपने तर्कबल से महावीर को परास्त करने का संकल्प लिये वे समवसरण में उपस्थित हुए। महावीर की मैत्री भरी आंखों ने अग्निभूति के अहंकार को

शिथिल बना दिया। उनकी ज्ञान उर्मियों ने अग्निभूति की विद्वत्ता की आंच को मन्द कर दिया। जैसे ही वे महावीर के समक्ष पहुंचे, प्रभु ने मधुर स्वर में सम्बोधित किया—"अग्निभूति गौतम ! तुम भी आ गये, अपने अग्रज के मार्ग पर !"

"मैं अपने अग्रज को आपके माया-जाल से मुक्त कराने आया हूं।"

"अग्निभूति ! तुम स्वयं सन्देह के मायाजाल में फँसे हो। जो स्वयं संशय-ग्रस्त हैं, वह दूसरों को संशय से क्या मुक्त कर सकेगा ? मुक्त ही दूसरों को मुक्त करा पाता है, बोलो ! तुम स्वयं कर्म-फल के सन्देह से ग्रस्त हो ना ?"

चकित-भ्रमित से अग्निभूति महावीर की शिष्य परिषद् में बैठे अपने अग्रज इन्द्रभूति की ओर देख रहे थे, कि वे कुछ बोलें ? महावीर ने आज उस ग्रन्थि को पकड़ लिया, जिस की भनक आज तक किसी को नहीं हुई। वे मन-ही-मन महावीर की सर्वज्ञता पर आस्था करने लगे। महावीर ने तर्क और अनुभूति के द्वारा अग्नि-भूति के सन्देह को दूर किया और वे भी अपने ५०० शिष्यों के साथ भगवान महावीर के शिष्य बन गये।

अब तो सोमिलार्य की यज्ञशाला में तहलका मच गया। दो बड़े-बड़े सेना-पति आत्मसमर्पण कर चुके, अब इस बिखरती सेना का क्या होगा ? ये दिग्गज हस्ती भी महावीर के समक्ष जाकर मक्खी बन गये तो अब औरों की क्या बिसात ! फिर भी इन्द्रभूति के सबसे छोटे भाई वायुभूति ने साहस दिखाया, वे बोले—"लगता है महावीर ने उन पर कुछ मोहन कर डाला है। मैं सावधान होकर चलूंगा और अपने दोनों अग्रजों को मुक्त करा कर लाऊंगा।"

वायुभूति बड़ी गर्जना से चले। पर, जैसे-जैसे वे भगवान के निकट आते गये, उनके भीतर के संकल्पों का ज्वार शान्त होता चला गया। एक विचित्र मनो-वैज्ञानिक परिवर्तन उनमें हो रहा था, उनका प्रथम चरण अहंकार से दीप्त था, पर यह आखिरी चरण विनयनत होकर धरा पर टिकने लगा। महावीर ने पूर्व की भांति ही वायुभूति के अन्त.करण के सबसे गुप्त एवं मर्मस्थल को शब्दों के कोमल-स्पर्श से छूआ—'वायुभूति ! तुम भी अग्रज के पथ पर आ गये ? अग्रज की खोज में, अग्रज को मुक्त कराने—? पर जानते हो, तुम्हारे अग्रज संशय से मुक्त हो गये, तुम उन्हें क्या मुक्त करोगे ? तुम स्वयं संशयग्रस्त हो, अतः जब स्वयं संशय से मुक्ति पाओगे तभी दूसरों को मुक्त कराने में समर्थ बनोगे—?"

वायुभूति असमंजस में पड़ गये—"महावीर यह क्या दार्शनिक पहेली बुझा गये ? मैं संशयग्रस्त हूं—?"

"हां, वायुभूति ! हजारों-हजार ग्रन्थों का अवलोकन कर और पारायण करके भी तुम इस संशय में डूबे हो कि जीव और शरीर एक है या भिन्न ?"

दिग्भ्रान्त से वायुभूति महावीर की ओर देखने लगे—'मेरे गुप्त सन्देह को महावीर ने कैसे जाना ? जबकि मैंने कभी अपने अग्रजों से भी इसकी चर्चा नहीं की—?"

"वायुभूति ! मैं साक्षात अनुभव करता हूं, जीव और शरीर दो भिन्न तत्व हैं, एक चेतन, एक अचेतन। इसकी सिद्धि शास्त्रों से भी हो सकती है, और आत्मानुभूति से भी।'

वायुभूति की प्यास प्रबल हो गई। भगवान महावीर ने गंभीर विवेचन कर वायुभूति की संशय-ग्रन्थि का छेदन किया। वे संशयमुक्त हो गये, शिष्यों के साथ भगवान महावीर का शिष्यत्व स्वीकार करने को आतुर हो गये। भगवान महावीर ने वायुभूति को भी प्रव्रज्या प्रदान की।

अब तो यज्ञशाला में एक भयंकर उदासी, मनहूस खामोशी छा गई। उसके आयोजक अन्य विद्वानों को महावीर के पास जाने से भी रोकने लगे—क्योंकि वहां जाकर कोई लौटकर नहीं आया। आता भी कैसे ? अंधकार में भटकता पतंगा दीपक की लौ को देखकर क्या कभी पुनः अंधकार में लौट सकता है ? जनम-जनम की प्यास से संतप्त क्षीरसागर के किनारे जाकर क्या कोई बिना प्यास बुझाये वापस लौट सकता है ? पर यह सत्य तो जानेवालों को ही अनुभव हो रहा था, दूर किनारे रहने वालों को नहीं। व्यक्त, सुधर्मा आदि विद्वानों में भी वह प्यास प्रबल हो उठी। उन्हें अपनी विद्वत्ता का, अपने ब्राह्मणत्व का अहंकार जरूर था, पर साथ ही उनकी सत्यप्रज्ञा का द्वार, जिज्ञासा की खिड़की भी खुली थी। वे आतुर हो उठे, यह सब देखने जानने को कि, यह महावीर कोई प्रवंचक है, छलिया है या कोई सत्य का साक्षात्द्रष्टा। क्रमशः व्यक्त, सुधर्मा आदि भी अपने-अपने शिष्य परिवार के साथ भगवान महावीर की धर्म-सभा में आते गये, अपने संदेहों से मुक्त होकर शिष्य बनते गये। संक्षेप में उनकी संशयग्रस्त धारणायें इस प्रकार हैं :—

व्यक्त—ब्रह्म ही सत्य है, पंचभूत आदि अन्य तत्व यथार्थ नहीं हैं।

सुधर्मा—प्राणी मृत्यु के पश्चात् पुनः अपनी योनि में ही उत्पन्न होता है।

मंडित—बंध और मोक्ष नहीं हैं।

मौर्यपुत्र—स्वर्ग नहीं है।

अकंपित—नरक नहीं है।

अचलभ्राता—पुण्य और पाप कोई तत्व नहीं, मात्र कल्पना है।

मेतार्य—पुनर्जन्म नहीं है।

प्रभास—मोक्ष नहीं है।

व्यक्त, सुधर्मा आदि समस्त विद्वानों की शंकाओं का भगवान महावीर ने बड़ा ही युक्तिपूर्ण तथा अनुभूतिगम्य विश्लेषण किया, जिससे प्रभावित हो, ग्यारह ही विद्वान भगवान महावीर के शिष्य बन गये। और उनके साथ ही ४४०० छात्र भी।

गणधरों की इस विस्तृत दार्शनिक चर्चा से यह पता चलता है कि उस युग में कितने विविध प्रकार की धारणाएँ परस्पर टकरा रही थीं। साथ ही एक यथार्थता भी स्वीकार करनी होगी—कि जहाँ विद्वत्ता गहरी होती है, वहाँ संशय हो सकता है, पर आग्रह नहीं। आग्रह से ज्ञान आवृत हो जाता है, सत्य का द्वार बन्द हो जाता है। गणधरों में जिस प्रकार की सत्योन्मुखी जिज्ञासा थी, वह उनके लिए वरदान बनी, अनन्त सत्य का द्वार उद्घाटित करने में समर्थ हुई। भगवान महावीर की आत्मदृष्टि, सत्य की साक्षात् अनुभूति का पहला लाभ ब्राह्मण पण्डितों को मिला। इस प्रकार भगवान महावीर की ज्ञान-गंगा का प्रथम प्रवाह विश्व कल्याण के लिए प्रवाहित हुआ।[1]

धर्म-संघ की स्थापना

मध्यम पावा की प्रथम धर्मपरिषद (समवसरण) में ही एक साथ ग्यारह दिग्गज विद्वान और उनके चार हजार चार सौ शिष्य भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हो गये—यह एक अद्‌भुत घटना हुई होगी, इसकी चर्चाएँ दूर-दूर तक फैल गई होगीं। जो ब्राह्मण वर्ग, श्रमण वर्ग के साथ, उसकी यज्ञ-विरोधी, तथा स्त्री-शूद्र-धर्माधिकार-समर्थक नीतियों के कारण द्वेष की आग फैला रहा था—वह भी स्तब्ध रह गया, यह देख कर कि श्रमण महावीर ने अपने धर्म-प्रचार का सबसे पहला केन्द्र-बिन्दु उसी ब्राह्मण वर्ग को बनाया है, जो आज तक श्रमणधर्म के विरुद्ध विषवमन करता रहा है। इससे यज्ञसंस्था और ब्राह्मणवाद की जड़ें हिल गईं और उनके

१ गणधरों का दार्शनिक संवाद विस्तृत रूप से गणधरवाद में देखा जा सकता है।

विरुद्ध जो जन-चेतना भीतर-ही-भीतर प्रबुद्ध हो रही थी, ब्राह्मणवाद के घेरे में अवरुद्ध विकास के द्वार खोलने को उत्सुक थी, खुल्लमखुल्ला महावीर की धर्म-सभा में आने लगी, साथ ही अनेक अध्यात्म प्रेमी आत्माएँ जो साधना के कंटकाकीर्ण पथ पर बढ़ना चाहती थीं, परन्तु किसी मार्गदर्शक के अभाव में वे प्रतीक्षारत थीं, उन्हें लगा, उनके लिये अंधकारपूर्ण कालरात्रि का अंधकार छंट गया है, एक आलोकपुंज दिव्य भास्कर उदित हो गया है। और उसके निर्मल प्रकाश में साधना का पथ प्रशस्त हो रहा है। उनमें से अनेक प्रबुद्ध आत्माएँ श्रमण भगवान् महावीर की प्रथम धर्मपरिषद में उपस्थित हुईं और वे भी प्रभु का प्रथम धर्मोपदेश सुन कर अपनी आत्मशक्ति एवं मनोबल के अनुसार श्रमणधर्म या श्रावकधर्म को स्वीकार करने लगीं। राजकुमारी चन्दनबाला, जो कौशाम्बी में भगवान् महावीर के धर्मतीर्थ-प्रवर्तन की प्रतीक्षा कर रही थी। जब उसने भगवान के केवलज्ञान प्राप्त करने और मध्यम पावा में प्रथम समवसरण का संवाद सुना तो उसके हृदय में वैराग्य हिलोरें लेने लगा। वह शीघ्रता के साथ महावीर के दर्शनों के लिये निकल पड़ी। उसके साथ अनेक प्रबुद्ध नारियाँ भी भगवान महावीर की शिष्याएँ बनने को आतुर थीं, वे भी आईं और उपदेश सुनकर उनमें से अनेकों ने श्रमणधर्म स्वीकार किया, अनेकों ने गृहस्थधर्म की मर्यादाएँ अपनाईं। इस प्रकार मध्यमा के प्रथम समवसरण में ही भगवान के शिष्य समुदाय के चार वर्ग बन गये—श्रमण जीवन के कठोर व्रतों (पाँच महाव्रतों) को ग्रहण करने वाले नर-नारी श्रमण एवं श्रमणी कहलाये। जिन्होंने अपनी आत्मशक्ति एवं मनोबल को कुछ कमजोर पाया, वे गृहस्थधर्म योग्य नियमों एवं मर्यादाओं (बारह व्रतों) को ग्रहण कर श्रमणोपासक एवं श्रमणोपासिका (श्रावक-श्राविका) के रूप में भगवान् के धर्म संघ में सम्मिलित हुये।

भगवान महावीर चूँकि बचपन से ही गणतंत्रीय वातावरण में पले थे। संघीय राज्य-व्यवस्था के संस्कार उनके रक्त में थे और अहिंसा एवं समता की दृष्टि से यही व्यवस्था उपयुक्त भी थी, अतः उन्होंने अपने शिष्यपरिवार को 'धर्मतीर्थ' अर्थात् 'धर्म संघ' की संज्ञा दी। और उसे चार समुदाय में बाँट दिया—श्रमण श्रमणी, श्रावक, श्राविका।

यह एक ध्यान देने की बात है कि भगवान् महावीर ने धर्म-संघ की स्थापना तो की, हजारों व्यक्तियों को दीक्षा भी दी, पर दीक्षा देकर उनकी शिक्षा और व्यवस्था का भार अपने हाथों में नहीं रखा, एक प्रकार से कहा जा सकता है कि धर्म-संघ की स्थापना कर संघ की व्यवस्था, शिक्षा व अनुशासन का दायित्व उन्होंने

अन्य योग्य हाथों में सौंप दिया, शासन को आत्मानुशासन के साथ जोड़ दिया। एक प्रकार से सत्ता को विकेन्द्रित कर दिया।

श्रमण-संघ की शिक्षा-दीक्षा, व्यवस्था एवं अनुशासन का दायित्व गणधरों को सोंपा गया। इन्द्रभूति आदि ग्यारह प्रमुख श्रमणों को गणधर' (संघीय व्यवस्था का संचालक) बनाया गया। इनके नौ गण बने, जिनके अधीन समस्त श्रमण समुदाय अनुशासित रहता था।

श्रमणीसंघ का दायित्व आर्या चन्दनबाला के सुदृढ़ हाथों में दिया गया। यद्यपि आर्या चन्दना आयु की दृष्टि से बहुत छोटी रही होंगी, किन्तु जीवन के उत्थान-पतन, सुख-दुःख के विविध घटनाचक्रों में से उसे जिसप्रकार गुजरना पड़ा वैसा प्रसंग लाखों में से किसी एक जीवन में आता होगा। कष्टों और परिस्थितियों की अग्नि ने उसके जीवन-स्वर्ण को खूब तपाया और इस अग्निताप ने उसके जीवन में उस दिव्य कान्ति और आभा का नव निखार भर दिया कि वय की लघुता गौण हो गई और अनुभवों की ज्येष्ठता ने उसे श्रेष्ठता के उच्च पद पर आसीन कर दिया।

गुणज्येष्ठता

भगवान महावीर की संघ-व्यवस्था, मूलतः आत्मानुशासन से संचालित थी। श्रमण-जीवन के नियम और मर्यादाओं के पालन में कोई किसी पर दबाव नहीं देता था। कोई कहीं गुप्तचारिता नहीं करता। समस्त श्रमण स्वयं ही जागरूक रहते, आत्म-संयत बन कर बड़ों के अनुशासन में शासित रहते। प्रमाद या भूल होने पर स्वयं की अन्तः-प्रेरणा से ही गुरु के निकट जा कर प्रायश्चित ग्रहण कर लेते।

व्यवस्था की दृष्टि से भगवान महावीर के शासन में विनय-धर्म को सर्वोपरि स्थान दिया गया। विनय-धर्म के दो रूप थे—शुद्ध आचार और सहज अनुशासन। आचार का निर्दोष पालन, तथा सतत जागरूकता भी विनय कहलाता और बड़ों के प्रति सम्मान, आदर एवं सेवाभाव पूर्ण व्यवहार करना भी विनय का दूसरा अग था। वास्तव में विनय का आचरण करने से ही शील-सदाचार की प्राप्ति होती है, ऐसा भगवान का मुख्य उपदेश था। उनके धर्म का मूल भी विनय था—धम्मस्स विणओ मूलं।''

प्रभु के धर्म शासन में पूर्व-जीवन (गृहस्थ-जीवन) की जाति, पद, अधिकार एवं आयु को गौणता थी, मुख्यता थी साधना-जीवन की। साधना-जीवन की दृष्टि

से अर्थात् रत्नत्रय स्वीकार करके दीक्षा की दृष्टि से जो ज्येष्ठ होता, रत्नाधिक होता, (जो गुणों में श्रेष्ठ होता) वही ज्येष्ठ (बड़ा) कहलाता, उसे बाद के दीक्षित साधु वन्दना करते। चाहे वे पूर्व दीक्षित मुनि से आयु में बड़े हों, अथवा किसी भी बड़े घराने से व उच्चपद से आये हों। वहां पर गुण (रत्नत्रय) की ज्येष्ठता का आधार था, न कि वय, अध्ययन, अधिकार आदि। इस व्यवस्था का बहुत बड़ा आध्यात्मिक लाभ यह था कि दीक्षित होनेवाला व्यक्ति पूर्व-जीवन के समस्त मदों (अहंकारों) एवं पूर्व संस्कारों से मुक्त होकर एक सरल और सात्विकभावना के साथ दिव्य-साधक-जीवन में प्रवेश करता। श्रमण भगवान महावीर के श्रमण संघ में दीक्षित होने वाले व्यक्ति राजा, राजकुमार, ब्राह्मण, वणिक् एवं शूद्र-चांडाल आदि सभी वर्गों के होते थे। किन्तु संघ में सब के साथ समता का व्यवहार किया जाता और रत्नत्रय की ज्येष्ठता को महत्व दिया जाता। ऐसे अनेक उदाहरण आगे प्रस्तुत होंगे—जब भगवान की पूर्व माता देवानन्दा दीक्षित होती हैं, तो उसे भी आर्या चन्दना के नेतृत्व में सौंपा जाता है। महारानी मृगावती (चन्दना की मौसी) भी आर्या चन्दन-बाला के नेतृत्व में आई। और इधर भगवान के दामाद राजकुमार जमालि तथा अन्य अनेक प्रमुख राजा भी गणधरों के नेतृत्व में चलते हैं। सम्भवतः कभी ऐसा प्रश्न भी भगवान के समक्ष आया होगा कि हम पूर्व-जीवन में इतने उच्च-पद पर थे, अमुक कुल आदि के थे, तदनुसार यहाँ भी हमारा वैसा ही उच्च या योग्य स्थान रहना चाहिये। भगवान ने इसका इतना सुन्दर समाधान दिया कि जाति-मद के पूर्वसंस्कार सहज ही धुल गये। भगवान ने कहा—"सांप के शरीर पर केंचुली आती है तो वह अंधा हो जाता है, जब वह केंचुली से मुक्त हो जाता है तो देखने लगता है। उसी प्रकार मनुष्य के मन पर जब गोत्र आदि की केंचुली ढक जाती है, तो वह मद में अंधा हो जाता है, इस के (गोत्र, कुल जाति आदि का अहंकार-पूर्ण-संस्कार) छूटने पर ही वह अपने को, अपने स्वरूप को देख पाता है।[1]" इसके आगे भी प्रभु ने कहा—"ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र, लिच्छवि आदि कोई भी हो, जिसने घरबार का त्याग कर मुनिजीवन स्वीकार किया है, उसे पूर्व संस्कारों का गर्व क्यों करना चाहिये? आखिर साधु बन कर जो दूसरों का दिया हुआ (मांगा हुआ) भोजन करता है, वह चाहे कोई हो, उसका अहंकार करना सर्वथा अयोग्य है।[2]"

इस प्रकार भगवान महावीर की संघ-व्यवस्था में सबसे मुख्य बात थी—विनय। सरलता, समानता और पूर्व-संस्कारों की स्मृति से मुक्त होकर प्रत्येक

---

१ तयसं व जहाई से रयं —सूत्रकृतांग १।२।२।१

२ जे पव्वइए परदत्तभोई —सूत्रकृतांग १।१३।१०

श्रमण गुरु की आज्ञा एवं अनुशासन में चलता तथा स्वेच्छा से अपने नियमों का पालन करता ।

तीन श्रेणी

साधना की दृष्टि से भगवान के धर्मसंघ में तीन प्रकार के साधक थे ।

१ प्रत्येकबुद्ध—जो प्रारम्भ में ही संघीय मर्यादा से मुक्त रहकर साधना करते रहने ,

२ स्थविरकल्पी—जो संघीय मर्यादा एवं अनुशासन में रह कर साधना करते ।

३ जिनकल्पी—जो विशिष्ट साधना पद्धति अपना कर संघीय मर्यादा से मुक्त होकर तपश्चरण आदि करते ।

प्रत्येकबुद्ध एवं जिनकल्पी स्वतन्त्र विहारी होते थे इसलिये उनके लिये किसी अनुशासक की अपेक्षा ही नहीं थी । स्थविरकल्पी संघ में रह कर एक पद्धति के अनुसार. एक व्यवस्था के अनुसार जीवनयापन करते थे अत: उनके लिये सात विभिन्न पदों की व्यवस्था भी थी—

१ आचार्य (आचार की विधि सिखाने वाले)
२ उपाध्याय (श्रुत का अभ्यास कराने वाले)
३ स्थविर (वय, दीक्षा एवं श्रुत से अधिक अनुभवी)
४ प्रवर्तक (आज्ञा अनुशासन की प्रवृत्ति कराने वाले)
६ गणी (गण की व्यवस्था का संचालन करने वाले)
२ गणधर (गण का सम्पूर्ण उत्तरदायी)
७ गणावच्छेदक (संघ की संग्रह-निग्रह आदि व्यवस्था के विशेषज्ञ)

ये संघीय जीवन में शिक्षा, साधना, आचार-मर्यादा, सेवा, धर्म-प्रचार, विहार आदि विभिन्न व्यवस्थाओं को संभालते थे । आश्चर्य की बात तो यह है कि इतनी सुन्दर और विशाल संघीय व्यवस्था का मूल आधार अनुशासन और वह भी स्वप्रेरित आत्मानुशासन अर्थात् स्व-अनुशासन था । संघ की इस प्रकार की समाचारी में एक समाचारी है—इच्छाकार । इसे हम इच्छायोग कह सकते हैं । कोई श्रमण से कुछ सेवा लेते या आदेश देते तो उसके पूर्व कहते – "आपकी इच्छा हो तो यह कार्य करें ।"

सेवा करने वाला, या आदेश का पालन करने वाला श्रमण भी यह नहीं

समझता कि मुझे ऐसा करना पड़ रहा है, किन्तु प्रसन्नता और आत्मीयभाव के साथ यह कहता "इच्छामि णं भंते ! भंते ! मैं आपकी सेवा करना चाहता हूं।"

अनुशासन के नाम पर व्यक्ति की इच्छा, भावना या स्वतन्त्रता की हत्या वहां नहीं होती थी। तभी तो हम भगवान महावीर के धर्मसंघ को आध्यात्मिक अनुशासन का (आत्मानुशासन) का एक विकसित और सर्वोत्कृष्ट आदर्श मान सकते हैं।

जन-जन को बोधिदान

[१. मेघकुमार को बोधिदान]

तीर्थंकर महावीर ने गणतन्त्र-पद्धति पर विशाल धर्मसंघ की स्थापना करके उस युग में एक विस्मयजनक उदाहरण प्रस्तुत किया था। लोगों की आम धारणा थी कि जैसे सिंह वन में अकेला स्वेच्छापूर्वक विहार करता है, वैसे ही साधक अकेले स्वेच्छया भ्रमणशील होते हैं। सिंहों का समूह नहीं होता, साधकों का संघ नहीं होता। वैदिक परम्परा के हजारों तापस व संन्यासी उस युग में विद्यमान थे, किन्तु किसी ने संघ की विधिवत् स्थापना की हो, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। और तो क्या, तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा के भी अनेक श्रमण विविध समूहों में इतस्ततः जनपदों में विचरते थे, किन्तु उनका भी कोई सुव्यवस्थित एक संघ नहीं था। इस दृष्टि से भगवान् महावीर द्वारा धर्मसंघ की स्थापना जनता की दृष्टि में एक अद्भुत और नई घटना थी। साथ ही उसकी विनयप्रधान एवं आत्मानुशासन की आधारभूमि लोगों में और भी आश्चर्यजनक थी। उस धर्मसंघ में जब स्त्रियों को भी पुरुषों के समान स्थान, सम्मान और ज्ञान का अधिकार मिला, तो संभवतः युग-चेतना में एक नई क्रान्ति मच गई होगी। आर्या चन्दनबाला के नेतृत्व में जब अनेक राज-रानियां, राजकुमारियां और सद्गृहिणियां दीक्षित होकर आत्म-साधना के कठोर मार्ग पर अग्रसर होने लगीं तो चारों ओर सहज ही एक नया वातावरण बना, नारी जाति में ही नहीं, किन्तु पुरुष वर्ग में भी तीर्थंकर महावीर के इस समता-मूलक शासन की ओर आकर्षण बढ़ा, आत्म-साधना की भावना प्रखर होने लगी और वे इस ओर खिंचे-खिंचे आने लगे।

धर्म-संघ की स्थापना करके भगवान महावीर ने सर्वप्रथम राजगृह की ओर प्रस्थान किया।

राजगृह के बाहर गुणशिलक चैत्य था, भगवान् महावीर अपने विशाल धर्म-संघ के साथ वहीं आकर ठहरे। ग्यारह मूर्धन्य ब्राह्मण विद्वानों की श्रमण नेता के चरणों में दीक्षा और आर्या चन्दनबाला की प्रव्रज्या जैसी आश्चर्यजनक घटनाओं से तब तक अंग-मगध की जन-चेतना में जिज्ञासा और धर्म-जागृति की लहर फैल चुकी थी। भगवान् महावीर के राजगृह में आगमन की सूचना बिजली की भाँति सर्वत्र फैल गई। उनके दर्शनों के लिये जन-प्रवाह उमड़ पड़ा। महाराज श्रेणिक, रानी चेलणा भी विशाल राजपरिवार के साथ प्रभु के दर्शन करने गये।

राजा श्रेणिक का एक अत्यन्त प्रिय एवं प्रतिभाशाली पुत्र था—मेघकुमार। मेघकुमार ने भी जब भगवान् महावीर के आगमन का संवाद सुना तो उसे उत्कंठा हुई – जिज्ञासा जगी। मन में कुछ कुतूहल भी हुआ—महावीर कौन हैं ? ऐसा क्या आकर्षण है उनमें ? क्यों यह जनसमूह उनके दर्शनों के लिये उमड़ रहा है ? इस प्रकार जिज्ञासा की लहरें उसके मानस-सागर को आलोड़ित करने लगीं। वह इस उत्कंठा के प्रवाह को रोक नहीं सका। अपने रथ में बैठकर सीधा गुणशिलक चैत्य की ओर पहुंचा। वहां देखा, पहले से ही महाराज श्रेणिक, महारानी माता धारणी, चेलणा, अभयकुमार तथा राजगृह के हजारों श्रेष्ठी, सामन्त और साधारण नागरिक उपस्थित हैं। मेघकुमार को सबसे विचित्र बात लगी—भगवान् के इस दरबार (समवसरण) में सब समान आसन पर बैठे हैं। चाहे देवया देवेन्द्र हैं, सम्राट् हैं, महारानी हैं या अति साधारण प्रजाजन। सर्वत्र समता का साम्राज्य है, समानता का वातावरण है। समानता की इस नई सृष्टि ने मेघकुमार के मन को प्रभावित कर दिया, महावीर की दिव्य चेतना के प्रति आकृष्ट कर दिया। उसे अनुभूति हुई—यहाँ कुछ नवीन है, अब तक जो नहीं सुना, नहीं देखा—वह यहां उपलब्ध है। मेघकुमार विनयपूर्वक अभिवादन करके प्रभु के समक्ष बैठ गया और ध्यानपूर्वक तन्मयता के साथ उनकी वाणी सुनने लगा।

भगवान् महावीर की वाणी में अनुभूति की सहज गूँज थी, सत्य का चुम्बकीय नाद था। मानव-जीवन की महत्ता, उपयोगिता और उसे सफल बनाने की कला का सरल हृदयग्राही विश्लेषण सुनकर मेघकुमार की अन्तश्चेतना जागृत हो गई। भोगासक्ति से विरक्ति की ओर मुड़ गया उसका अन्तःकरण। देशना का क्रम समाप्त होते ही वह प्रभु महावीर के चरणों में आकर भाव-विभोर मुद्रा में विनत हो गया—"प्रभो ! आपने जीवन का चरम सत्य उद्घाटित कर दिया। जन्म-जन्म से मेरी सोई आत्मा जाग उठी, मैं आपके चरणों में दीक्षित होकर साधना के इस

महापथ पर बढ़ना चाहता हूं और पाना चाहता हूँ उस अक्षय, अनन्त आनन्द को, जिस आनन्द को, 'जिस आत्मवैभव को काल का क्रूर प्रवाह कभी लुप्त नहीं कर सकता।"

मेघकुमार की अन्तर्जागृति में जो वेग था, उसकी भावना में जो तीव्रता थी, प्रभु महावीर ने उसका स्वागत किया—"देवानुप्रिय ! जिस मार्ग का अनुसरण करने से तुम्हारी आत्मा को सुख की प्राप्ति हो, उस कार्य में विलम्ब मत करो।"[1]

प्रभु की स्वीकृति पाकर मेघकुमार अपने माता-पिता के पास पहुंचा। प्रभु की वाणी की दिव्यता, आत्म-जागृति की प्रेरणा और संसार त्याग कर श्रमण बनने की भावना—एक ही सांस में उसने व्यक्त कर डाली। राजकुमार मेघ की बातें सुनते ही महाराज श्रेणिक दिग्मूढ़-से रह गये, रानी धारिणी मर्माहत-सी हो गई—दोनों की आंखों में अश्रु-प्रवाह उमड़ पड़ा। मोह, मोह को बांधता है, निर्मोह को मोह का तीव्रबंधन भी जकड़ कर नहीं रख सकता। माता-पिता का स्नेह, वात्सल्य और मोह—मेघकुमार को रोक नहीं सके। राज-वैभव का प्रलोभन और यौवन-सुख की लालसा तो उसे धूल से भी असार लगने लगी। श्रेणिक और धारिणी के अनेक तर्क-वितर्क से जब मेघकुमार की भाव-चेतना रुद्ध नहीं हो सकी तो हारकर धारिणी ने एक आखिरी प्रस्ताव रखा—'बेटा मेघ ! तुम मेरे अत्यन्त प्रिय पुत्र हो, आंखों के तारे और कलेजे की कोर हो, मेरी सब बातें ठुकराते जा रहे हो, तो एक आखिरी बात तो मान लो, कुछ तो मेरा मन रखो।"

मेघ—"मां ! क्या चाहती हो तुम ? मैं श्रमण बनूंगा, अपने निश्चय को कभी नहीं बदल सकता, बाकी जैसा तुम चाहोगी वैसा करूंगा।" धारिणी की आंखें बरस पड़ीं। जो बात कहना चाहती थी, उसे तो पहले ही उसने काट दिया। भरे दिल से उसने कहा—"खैर ! मैं तुम्हें राजसिंहासन पर बैठा देखना चाहती हूं, भले ही एकदिन के लिए। राजरानी का गौरव मुझे प्राप्त है, पर मैं तुम-जैसे सुयोग्य पुत्र को पाकर 'राजमाता' का गौरवपूर्ण सम्बोधन भी सुनना चाहती हूं।"

"माताजी ! ठीक है ! मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा। सिर्फ एक दिन के लिए मगध के राजसिंहासन पर बैठना मुझे स्वीकार है।" मेघकुमार ने विनम्रता से कहा, पर उसके हर शब्द में दृढ़ता और विरक्ति की गूंज थी।

रानी के प्रस्तावानुसार महाराज श्रेणिक ने मेघकुमार का राज्याभिषेक किया, एकदिन के लिये पूरे राज्य में मेघकुमार के शासन की उद्घोषणा कर दी

---

१ अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह !

गई। महाराज श्रेणिक स्वयं मेघकुमार के समक्ष उपस्थित होकर बोले—"मेघकुमार ! राजकीय घोषणा के अनुसार मैं श्रेणिक, तुम्हारा मगधपति के रूप में अभिवादन करता हूं, आदेश दो, मैं तुम्हारे लिए क्या करूं ?" मगध के सिंहासन पर बैठकर भी मेघकुमार आत्म-सिंहासन से दूर नहीं हटा। राज्यसत्ता पाकर भी वह आत्मसत्ता से विस्मृत नहीं हुआ था। श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में उसने बड़ी दृढ़ता और निस्पृहता के साथ कहा—"पिताजी ! आप मेरे लिए कुछ करना ही चाहते हैं तो मेरे दीक्षा-महोत्सव की तैयारी कीजिये। मैं कल प्रातः ही दीक्षित होना चाहता हूं।"

मेघ का उत्तर सुनकर श्रेणिक अवाक् रह गये। मेघ की आत्म-जागृति कितनी प्रखर है, उसकी विरक्ति कितनी तीव्र है—यह उसके प्रत्येक शब्द से ध्वनित हो रहा था।

एक दिन का राज्य स्वीकार कर मेघकुमार ने यह स्पष्ट कर दिया कि यह जीवन भी एक दिन का राज्य है, इस राज्य-प्राप्ति की सफलता वैभव-भोग में नहीं, किन्तु सुखद भविष्य के निर्माण में है, अपने उच्चसंकल्पों को साकार करने में है। मेघ ने वही किया। दूसरे दिन संसार के समस्त भोग व ऐश्वर्य का त्याग कर वह भगवान् महावीर के चरणों में पहुंचा और अनगार बन गया।

भगवान् महावीर का शासन, समता का शासन था। समताधर्म ही उनके जीवन का मूलमन्त्र था, और यही मूलमन्त्र वे अपने शिष्यों को देते थे। चाहे कोई राज-पुत्र हो, या रजक-पुत्र। दीक्षित होने के पश्चात् वह पूर्व-जीवन के सम्बन्धों को भुला देता था। पूर्व-संस्कारों से मुक्त हो, रत्नत्रय की ज्येष्टता के आधार पर ही वहाँ का समस्त व्यवहार चलता था।

मेघकुमार दीक्षित हो गया, दिन जागरण में बीता, रात को सोने का समय हुआ। अन्तर्दृष्टि से भले ही श्रमण सदा जागृत रहता हो, पर शरीर की सहजवृत्ति के अनुसार नींद भी लेता है। भगवान महावीर के पास जितने श्रमण थे वे सभी अपने-अपने दीक्षाक्रम (पर्याय-ज्येष्ठता) के अनुसार अपनी शय्या लगाने लगे। मेघमुनि सबसे लघु थे, उनका आखिरी क्रम था, अतः सोने का स्थान भी उन्हें सबसे अन्त में द्वार के पास में ही मिला। उसी द्वार से रात्रि में लघुशंका आदि निवारणार्थ मुनियों का आगमन तथा ध्यान आदि के लिये बाहर आना-जाना रहा।

आते-जाते श्रमणों के पैरों की आहट से मेघ की नींद उचट गई, कभी-कभी अन्धकार में कुछ दिखाई न पड़ने के कारण मेघ के हाथ-पैर को श्रमणों के पांवों का

आघात भी लग जाता। मेघ को इस निद्रा-विक्षेप और पदाघात से बड़ी खिन्नता अनुभव हुई। आज दीक्षा की प्रथमरात्रि में ही यह अपशकुन ! आज ही सिर मुँडाया और आज ही ओले पड़ें। मेघकुमार का मन व्यथा से भर गया। आँखों की नींद उड़ गई, वह जगता रहा, पर अन्तश्चेतना मूर्च्छित होने लग गई। उसकी चेतना पूर्व-जीवन की स्मृतियों में खो गई, आत्म-चेतना विस्मृति में डूब गई। वह सोचने लगा—"मैं जब राजकुमार था, तो सब लोग मेरा आदर करते थे, आज यहाँ भयंकर अनादर हो रहा है। मैं मखमल की कोमल शय्या पर सोता था—आज एक ही वस्त्र बिछाकर कठोर भूमि पर सोना पड़ा है। तब मैं कितनी शान्ति से सोता था, मेरा शयन-कक्ष कितना मनोहर, विशाल, शान्त और सुखद था। आज रात में कितनी अशान्ति है ? सोने का यह स्थान कितना छोटा, सिर्फ ढाई गज भर। कितना भीड़भरा, संकुल और आखिर में, सबके पैरों की ठोकरें खानी पड़ रही हैं। यह श्रमण-जीवन तो बड़ा ही रूखा, नीरस, कष्टमय और उपेक्षित-सा जीवन है। मैं जीवनभर कैसे इन कठोर नियमों को निभा सकूँगा—कैसे हमेशा रातभर जागता रहूंगा और दिनभर भी। बाप रे ! मुझ से नहीं चल सकेगा, यह निरन्तर जागरण ! जब सुख से सोने को भी नहीं मिला तो मैं क्या खाक साधना करूँगा, क्या स्वाध्याय और अध्ययन करूँगा ?"—पूर्व-संस्कारों की स्मृति ने मेघ को आत्म-विस्मृति के गर्त में डुबो दिया। उसकी बाह्य जागृति ने आत्मा पर सुषुप्ति का आवरण डाल दिया। वह रातभर जागता रहा। पर उसकी आत्मा सो रही थी, विकल्प उठते गये, संकल्प डूबते चले गये ! उसने निश्चय कर लिया—"चाहे कुछ भी हो, मैं प्रातःकाल भगवान् महावीर से अनुमति लेकर पुनः अपने घर लौट जाऊँगा।"

मानसिक व्यथा और विकल्पों के भंवर में डूबते-उतराते जैसे-तैसे रात्रि व्यतीत की। सूर्योदय के समय वह भगवान् महावीर के चरणों में उपस्थित हुआ।

अन्तर्द्रष्टा प्रभु ने कहा—"मेघ ! कल तुम्हारा मुख प्रसन्नता से दीप्त था, आज चिन्ता से म्लान हो रहा है। कल तुम्हारी आँखों में आत्मजागृति का तेज था, आज विस्मृति की निद्रा व ऊँघ छाई हुई है। तुम्हारी ऊर्ध्वमुखी चेतना का प्रवाह आज अधोमुखी हो रहा है—तुम विकल्पों के जाल में फंस गये हो। कल तुमने उत्साह के साथ विजय के लिये चरण बढ़ाया था, आज क्षणिक कष्ट से पीड़ित होकर वापस लौट जाना चाहते हो ? क्या यह ठीक है ?"

"प्रभो ! आप सत्य कह रहे हैं ? रात्रि में सचमुच ही मेरी मनोदशा बदल गई है। श्रमण-जीवन की कष्टसाध्य चर्या मेरे लिये दुःशक्य है प्रभु !"

"मेघ ! तुम भूल रहे हो। एक तुच्छ और क्षणिक वेदना ने तुम्हारे चैतन्य-

दीप को आवृत कर दिया। तुम अंधकार में भटक गये ? स्मरण करो अपने अतीत को। अज्ञान-दशा में, पशु-योनि में सहिष्णुता और तितिक्षा का जो महान संकल्प तुमने किया था, उससे तुम मानव बने, और आज मानव बनकर तुम क्लीवता के शिकार हो रहे हो ?"

"भंते ! मैं कुछ समझ नहीं पा रहा हूं। कृपया इस रहस्य का स्पष्ट उद्घाटन कीजिये"—मेघ के मन में जिज्ञासा के अंकुर फूटने लगे।

भगवान् ने कहा—"मेघ ! मैं तुम्हें सुदूर अतीत में ले चलता हूं। अतीत की स्मृति तुम्हारी सुषुप्ति को तोड़ सकेगी, तुम्हारी चेतना का दीप पुनः प्रज्वलित कर सकेगी। तीसरे जन्म में तुम एक सुन्दर विशालकाय हाथी थे। वैताढ्य पर्वत की उपत्यकाओं में स्वेच्छा-विहार करते थे। एक बार ग्रीष्म-ऋतु में वन में आग लग गई। तेज हवा के वेग के साथ कुछ ही क्षणों में अग्नि की लपेट समूचे वन-प्रदेश में छा गई। अरण्य के पशु भयाकुल हो इधर-उधर दौड़ने लगे, तुम भी जान बचाने के लिए दौड़े। तुम्हारा यूथ आगे निकल गया, तुम बूढ़े थे, पीछे रह गये, दिशामूढ़ होकर इधर-उधर भटकने लगे। भयंकर गर्मी के कारण तुम्हें प्यास सताने लगी। पानी की खोज में तुम दूर जा निकले, एक सरोवर दिखाई दिया। तुम पानी पीने के लिए सरोवर में घुसे, सरोवर में पानी कम था। तुम दलदल में फँस गये। ज्यों-ज्यों उस दलदल से निकलने का प्रयत्न करने लगे त्यों-त्यों और गहरे धँसते चले गये।

"उस समय एक युवा हाथी उधर आया। वह तुम्हारे ही यूथ का था, तुमने उसे दंत-प्रहारों से घायल करके निकाला था। तुम्हें देखते ही उसके मन में क्रोध और द्वेष का उफान आ गया। बदला लेने का यह स्वर्णिम अवसर उसके हाथ लगा था। उसने दंत-प्रहारों से तुम्हें घायल किया, स्थान-स्थान पर प्रहार कर घाव कर दिये—तुम पीड़ा से कराहने लग गये। वह युवा हाथी अपना बदला लेकर चला गया। तुम सात दिन तक उसी दलदल में फँसे पीड़ा से कराहते रहे। आखिर वहीं तुम्हारी मृत्यु हुई। वहां से मरकर विंध्यपर्वत की तलहटी में पुनः तुम हाथी बने। मेरु-सा विशाल शरीर और प्रखर तेजस्विता से तुम समूचे हस्तिमण्डल के नायक बन गये। वनचरों ने तुम्हारा नाम रखा 'मेरुप्रभ'।

"एक बार अकस्मात् उस वन-प्रांतर में दावानल भड़क उठा। धू-धू कर अग्निज्वालाएं उछलने लगीं। तुम अपने यूथ के साथ दूर जंगल में भाग गये। इस दावानल ने तुम्हारे मन में एक विचित्र कंपन पैदा कर दिया। इस आकस्मिक आघात से तुम्हारे अतीत की स्मृति का बन्द द्वार खुल गया। तुम्हें जाति-स्मृति हो गई, वैताढ्य-वन में लगे दावानल का रोमांचक दृश्य साकार हो गया।

"कुछ समय बाद दावानल शान्त हुआ। अतीत की स्मृति से तुमने लाभ उठाया, भविष्य को निरापद बनाने के लिए तुम समूचे हस्ति-परिवार के साथ एक विशाल हस्तिमण्डल बनाने में जुट गये। तुमने दूर-दूर तक के वृक्ष-वनस्पति उखाड़ कर साफ कर दिये। तुम निर्भय हो गये कि अब कभी वन में दावानल लगे भी तो उसकी आँच तुम तक नहीं पहुंच सकेगी।

"कुछ समय बाद पुन: वन में आग भड़क उठी। तुम सावधान थे ही, शीघ्र ही अपने यूथ के साथ उस मण्डल में आ गये। वन के छोटे-मोटे असंख्य पशु-प्राणी भाग-भाग कर उसी मण्डल में आकर आश्रय लेने लगे। तुमने भी उदारतापूर्वक सबको आश्रय दिया। संकट के समय सब अपना वैर भूल गये। सिंह और हिरन, लोमड़ी और खरगोश, सांप और नेवले यों परस्पर जन्मजात शत्रु जीव भी अपनी-अपनी जान लेकर यहाँ आकर एक साथ बैठ गये। मण्डल खचाखच भर गया, पैर रखने को भी खाली स्थान नहीं रहा। उस समय शरीर खुजलाने के लिये तुमने पैर ऊँचा उठाया। वापस जब पैर को नीचे रखने लगे तो तुमने देखा—उस खाली स्थान में एक खरगोश आकर दुबका बैठा है। तुम्हारे मन में अनुकम्पा की लहर उठी, करुणा की धारा उमड़ी, अगर मैंने पैर रख दिया तो इस नन्हीं-सी जान का कचूमर निकल जायेगा। अनुकम्पा से द्रवित हो तुमने अपना एक पैर ऊपर ही रोके रखा और तीन पैर पर ही खड़े रहे।

"दो दिन-रात बीत गये। तीसरे दिन दावानल शान्त हुआ। वनचर पशु मण्डल से निकलकर जाने लगे, खरगोश भी वहाँ से निकला, स्थान खाली होने पर तुमने पैर पृथ्वी पर रखना चाहा। जैसे ही पैर नीचे किया, तुम अपना सन्तुलन नहीं संभाल सके, जैसे बिजली के आघात से रजतगिरि का शिखर टूट पड़ा हो, वैसे ही तुम तत्क्षण धराशायी हो गये। वेदना के उन भयानक क्षणों में भी तुम अपने को शान्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। तुम अपने आप में प्रसन्नता का अनुभव कर रहे थे कि अपना बलिदान करके भी मैंने एक जीव की रक्षा की है। उस अनुकम्पाजनित प्रसन्नतानुभूति के कारण तुम मृत्यु के क्षण में भी शान्त थे, शान्ति की अनुभूति के साथ प्राण-त्याग कर तुम यहाँ मगधपति श्रेणिक के पुत्र एवं धारिणी देवी के आत्मज बने हो।"

भगवान महावीर की वाणी सुनते-सुनते मेघ के सामने पूर्वभव की घटनाएँ साकार हो गई। उसकी स्मृति में घटनाएँ छविमान-सी हो उठीं—वह अपने चिंतन में गहरा लीन हो गया। तभी प्रभु ने उद्बोधित करते हुये कहा—मेघ! तिर्यंच-योनि में जब तुम्हें न सम्यग्दर्शन प्राप्त था, न ज्ञान-चेतना इतनी विकसित थी और

न गुरु का सान्निध्य ही उपलब्ध था, तब तुमने एक नन्हें-से खरगोश के लिए इतना कष्ट सहन किया, तीव्र पीड़ा को पीड़ा नहीं मानकर अहिंसा-करुणा एवं समभाव की मुदित धारा में बह गये थे और आज मनुष्य हो, सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है, ज्ञान-चेतना का द्वार उन्मुक्त हुआ है। सद्धर्म की ज्योति-शिखा तुम्हारे सामने प्रज्वलित है, बल, वीर्य, पराक्रम और विवेक का सुयोग मिला है और महान् उदात्त संकल्प के साथ कष्टों से जूझने को निकल पड़े हो, तो एक रात के क्षुद्र कष्ट ने ही तुम्हें कैसे विचलित कर दिया? ज्ञान का प्रभाकर सूर्य उदित होते हुये भी अज्ञान और अधैर्य भरी अंधियारी ने कैसे तुम्हें दिग्मूढ़ बना दिया? तुम थोड़े से कष्ट से कैसे विचलित हो गये? श्रमणों की थोड़ी-सी उपेक्षा तुम्हारे जैसे वीरों के लिये शिरःशूल बन गई? मेघ, प्रबुद्ध हो जाओ।"

मेघ की स्मृति पर से अतीत का पर्दा उठ गया। जाति-स्मरण हुआ और उसने देखा—अपने अतीत जीवन को। वह स्तब्ध रह गया, उसके रोम उत्कंठित हो गये, प्रस्तर-प्रतिमा की भांति वह शान्त, मौन, निश्चेष्ट खड़ा रहा। दो क्षण बाद ही जैसे चेतना लौट आई हो, उसका मन प्रशान्त हो गया, व्याकुलता का कोहरा छट गया, और स्वस्थता का प्रकाश जगमगा उठा, वह हृदय की असीम श्रद्धा के साथ, अविचल संकल्प के साथ प्रभु महावीर के चरणों में विनत हो गया—"प्रभो! मेरी स्मृति जागृत हो गई, मेरी चेतना के आवरण दूर हट गये, मैं अपनी भूल और प्रमाद पर, अपनी विस्मृति पर पश्चात्ताप करता हूं और भविष्य के लिये अपने शरीर को (आँखों को छोड़कर) सर्वात्मना आपको समर्पित करता हूं, समस्त श्रमणों की सेवा के लिये, यह तन, मन और जीवन अब आपके द्वारा निर्दिष्ट पथ पर बढ़ता रहेगा, अविचल! अकम्पित!"

मेघकुमार के टूटते हुए संकल्पों की, लुप्त होती ज्ञान-चेतना की भगवान् महावीर ने जो मनोवैज्ञानिक चिकित्सा की, अंधकार में भटकते हुए को जो बोधिदान दिया, वह उनकी उपदेशशैली का एक उत्कृष्टतम उदाहरण है।

नंदीषेण का पुनर्जागरण

गिरते हुए मनोबल को ऊँचा उठाना, पतित आत्मा में भी पवित्र संकल्प जगाना और प्रमाद एवं आत्मविस्मृति में डूबते हुए साधक को जागृति का संबल देकर वात्सल्य भरा उद्बोधन देना भगवान् महावीर की जीवन-दृष्टि का एक उदात्त रूप है, जो नंदीषेण की घटना से हमारे समक्ष उजागर होता है।

नंदीषेण भी महाराज श्रेणिक का पुत्र था। वह गज-क्रीड़ा का विशेष रसिया

था। सेचनक हाथी को जंगल से पकड़ कर श्रेणिक की हस्तिशाला में लाना नंदिषेण की गज-कला का ही एक अद्‌भुत चमत्कार माना जाता है। यह बचपन से ही वैभव-विलास में पला था, फिर महाराज श्रेणिक का विशेष स्नेहभाजन होने के कारण सुख-भोग के अपार साधन उसके लिये पद-पद पर फूलों की भांति बिछे रहते थे। भगवान् महावीर जब राजगृह में आये और मेघकुमार ने प्रव्रज्या ग्रहण की तो, एक दिव्य प्रेरणा नंदीषेण के हृदय में भी उमड़ी, वह भी राज्य सुख-वैभव का त्याग कर साधना के कठिन पथ पर बढ़ने को आतुर हो गया। महाराज श्रेणिक ने और नंदीषेण के अनेक इष्ट मित्रों ने उसे बहुत रोका, टोका—"नंदीषेण! तुम्हारे जैसा रसिक और भोगप्रिय राजकुमार एक ही दिन में, नहीं, कुछ ही क्षणों में वैराग्य धारण करने का कठोर निश्चय कर इस पथ पर बढ़ सकता है, यह बात स्पष्ट देखते हुए भी मन को अविश्वसनीय-सी लगती है। तुम अभी रुको, मन को साधो। मेघ का अनुसरण भले तुम कैसे करोगे ? उसकी वृत्तियाँ प्रशान्त थीं। तुम्हारी वृत्तियों में अभी भोगविलास का ज्वार है, कुछ दिन और रुको।"

नंदीषेण के मन में वैराग्य की तीव्र लहर उठी थी, श्रमण बनने का तीव्र संकल्प जगा था। उसने कहा—"मैं तप व ध्यान के द्वारा स्वभाव और संस्कार को बदल डालूँगा।" इसी विश्वास पर उसने सबकी सुनी-अनसुनी कर दी और भगवान महावीर के पास जाकर दीक्षित हो गया।

दीक्षित होने के बाद भी नंदीषेण के मन में एक खटक थी कि मित्रों ने टोका था—"तुम्हारी वृत्तियों में ज्वार है ...... संस्कारों में अनुराग है .....। अतः कहीं यह ज्वार और अनुराग उसे उन्मार्ग में बहा न दें।" नंदीषेण ने इन रागानुबंधि वृत्तियों को क्षीण करने के लिये कठोर तपश्चरण प्रारम्भ कर दिया, जब कभी मन में वासना का वेग प्रबल हो जाता तो वह लम्बे उपवास कर उसे दबाने का प्रयास करते। चिलचिलाती धूप में बैठकर आतापना लेते, कड़कड़ाती सर्दी में वस्त्र उतार कर खड़े हो जाते। विकट तप और अनेक परीषहों को सहन करते हुए वे साधना के उत्कृष्ट पथ पर निरन्तर बढ़ते चले गये। तपःसाधना के दिव्य प्रभाव से अनेक प्रकार की चमत्कारी शक्तियाँ (लब्धियाँ) भी उन्हें प्राप्त हो गईं।

एक बार छट्‌ठ तप (दो दिन का उपवास) का पारणा लेने भिक्षार्थ पर्यटन करते हुए मुनि नंदीषेण नगर की एक प्रमुख गणिका के प्रासाद में पहुंच गये। द्वार में प्रविष्ट होते ही मुनि ने कहा—'धर्मलाभ'।

एक कृशकाय तपस्वी श्रमण, 'धर्मलाभ' का उद्‌घोष करता हुआ गणिका के घर में प्रवेश कर रहा है, यह देख सभी दर्शकों को बड़ा आश्चर्य हुआ। गणिका भी

नंदीषेण को देखकर उपहास के स्वर में बोली—महाराज" ! हमें तो धर्मलाभ नहीं, अर्थलाभ चाहिये। धर्मलाभ करना हो तो किसी बनिये के घर में जाइये—गणिका के घर में तो पहले 'अर्थलाभ' दिया जाता है—" गणिका की हंसी में एक कड़ुआ तीखापन था, जिसने मुनि के सरल मन को बींध डाला।

उसके उपहास ने मुनि की सुप्त अस्मिता को जगा दिया। यह तुच्छ गणिका मुझे दीन-हीन भिखमंगा समझ रही है, इसे पता नहीं, मैं महाराज श्रेणिक का पुत्र हूं। महान ऋद्धि-सम्पन्न तपस्वी हूं ! मुनि आवेश में आ गये। उन्होंने अपने तपोबल का चमत्कार दिखाने हेतु एक हाथ आकाश की ओर उठाया—बस, देखते-ही-देखते आंगन में रत्नों का ढेर लग गया। "बस मिल गया अर्थलाभ ?" मुनि ने कहा।

गणिका स्तब्ध रह गई, तपस्वी की दिव्य तपःऋद्धि देखकर वह क्षण भर के लिये संभ्रमित-सी हो गई।

नंदीषेण बिना भिक्षा लिये लौटने लगे, गणिका हाव-भाव करती हुई रास्ता रोककर खड़ी हो गई—"महाराज ! यह रत्नों का ढेर लगा कर अब आप कहाँ जा रहे हैं ? धर्मलाभ से अर्थलाभ किया तो अब अर्थलाभ से प्राप्त भोगलाभ को भी प्राप्त कीजिये। मैं आपकी चरण-सेविका सर्वात्मना समर्पित हूं—मेरा सुकुमार सौन्दर्य आपके अमृत तनस्पर्श को पाकर कृत्य-कृत्य हो जायेगा। प्राणेश्वर ! मेरे प्रणयाकुल हृदय को लात मार अब आप नहीं जा सकते"—गणिका ने कामाकुल भुजाएं फैला कर मुनि का मार्ग रोक दिया। ऐसा लग रहा था मानो —उसकी मांसल भुजाओं से वासना की ज्वालाएं निकल-निकल कर वैराग्य के हिमाद्रि को पिघलाने का प्रयत्न कर रही हों।

एक दिन जो वासना का ज्वार, मोह का संस्कार कठोर तपश्चरण से आवृत्त हो गया था, आग राख से ढक गई थी, विरक्ति की शीतल लहरों से वासना का सांप ठिठुर कर मूर्छित हो गया था, मगर आज एक अहंकारोद्दीप्त तेज से आग पुनः प्रज्वलित हो उठी, मूर्छित सांप मोहाकुल वातावरण की ऊष्मा से पुनः फुंफकारने लग गया, मुनि नंदीषेण गणिका के स्नेहपाश में फंस गये। धर्मलाभ कहकर आने वाला तपस्वी 'अर्थलाभ' में अटका, 'अर्थलाभ' से 'भोगलाभ' के दलदल में फँसा और अन्त में अलाभ की खाई में गिर गया और सब कुछ हार गया।

× × ×

रात्रि के घने अन्धकार में नन्हें-से जुगनू का टिमटिमाना भले ही कोई महत्व न रखता हो, पर कभी-कभी प्रकाश की वह क्षीण रेखा भी दिव्यज्योति-शिखा का

काम कर देती है। नन्दीषेण गणिका के मोह-जाल में फँसकर भी एक संकल्प के सहारे अपने वैराग्य और श्रमणत्व की स्मृति को सजीव बनाये हुए थे। उन्होंने संकल्प लिया—मैं प्रतिदिन कम-से-कम दस मनुष्यों को प्रतिबोध देकर ही मुँह में अन्न-जल ग्रहण करूँगा। अपने संकल्प के अनुसार नन्दीषेण प्रातःकाल उठते ही सर्वप्रथम धर्मोपदेश का कार्य प्रारम्भ करते और जब दस मनुष्य प्रतिबुद्ध होकर दीक्षा के लिए तैयार हो जाते, तभी वे स्नान-भोजन की प्रवृत्ति में लगते।

प्रतिज्ञा का क्रम सतत चलता रहा। एक दिन मध्यान्ह तक यह क्रम पूरा नहीं हो सका, नौ व्यक्ति प्रबोध पा चुके थे पर दसवाँ व्यक्ति था एक स्वर्णकार। वह तार में तार खींचने की आदत के अनुसार नन्दीषेण को भी तर्क-वितर्क के तार में इस प्रकार उलझाता रहा कि न नन्दीषेण प्रसंग को तोड़ सके और न स्वर्णकार ने उनका उपदेश स्वीकार किया। धूप चढ़ चुकी थी, रसोई ठण्डी हो रही थी—गणिका ने बार-बार नन्दीषेण को बुलावा भेजा, पर नन्दीषेण भी आते तो कैसे? प्रतिज्ञा पूरी नहीं हो पा रही थी। इस विलम्ब से झुँझला कर गणिका स्वयं उन्हें बुलाने आई—"प्राणेश्वर! चलिये, रसोई ठण्डी हो रही है।"

नन्दीषेण ने कहा—'क्या करूँ, अभी तक दसवाँ मनुष्य समझ ही नहीं पा रहा है।"

गणिका कटाक्षपूर्वक हँसकर बोली—"तो क्या हुआ मेरे देवता! दसवें स्वयं को ही समझ लो, और चलो—भोजन ठण्डा हो रहा है।"

नन्दीषेण के मन को एक झटका-सा लगा, मानो उसके अन्तश्चक्षु खुल गये, तन्द्रा टूट गई, अन्धकार में एक चमक-सी दिखाई दी—ठीक कहती हो तुम—दसवाँ स्वयं को ही समझ लूं? कैसी विडम्बना है यह मेरी कि दस-दस मनुष्यों को प्रतिबोध देने वाला स्वयं अब तक ऊँघ ही रहा हूँ? दूसरो को त्याग के पथ पर प्रेरित करने वाला स्वयं भोग के दलदल में फंसा पड़ा हूं—बस-बस, अब मैं जाग गया, मेरी स्मृति प्रबुद्ध हो गई, मेरे वासना के संस्कार समाप्त हो गये—लो मैं जा रहा हूं उसी पथ पर, जिस पथ से भटक कर यहाँ आ गया था। नन्दीषेण चल पड़े, गणिका स्नेह के आँसू बहाती रह गई; प्रेमभरी पुकार करती ही रह गई। नन्दीषेण प्रबुद्ध हो गये और सीधे भगवान् महावीर के पास पहुंचे।

"प्रभो! मैं भटक गया था, प्रमाद और मोह के नशे में मेरी चेतना लुप्त हो गई थी। प्रभो! पुनः मुझे अपनी शरण में लीजिये! खोई हुई अमूल्य चारित्र-निधि पुनः प्राप्त करने का मार्ग बताइये।"

प्रभु ने नन्दीषेण को धैर्य बंधाया—"नन्दीषेण ! तुम पुनः जाग गये, यह अच्छा हुआ। भोग में भी तुम्हारी अन्तश्चेतना योग की ओर केन्द्रित रही—पतन में भी पवित्रता के संस्कार लुप्त नहीं हुए—अतः तुम पुनः अपना कल्याण कर सकते हो। प्रमाद का क्षण ही जीवन में दुर्घटना का क्षण होता है, तुम दुर्घटनाग्रस्त होकर भी बच गये, अब पुनः उस प्रमाद के दलदल में मत फँसना – 'बीयं तं न समायरे'—दुबारा उस भूल का आचरण मत करना।"

प्रभु के सान्निध्य में नन्दीषेण ने प्रायश्चित लिया और पुनः कठोर तपश्चरण रूपी अग्नि में आत्म-स्वर्ण को तपाने में जुट गया।

मेघकुमार व नन्दीषेण की घटना का सूक्ष्म विश्लेषण भगवान् महावीर की अन्तर्भेदी जीवनदृष्टि को स्पष्ट करता है। वे मानते थे – दुर्बलता प्रत्येक आत्मा में रहती है, किन्तु इस दुर्बलता व तन्द्रा से ग्रस्त आत्मा में भी शक्ति व जागृति के सस्कार छिपे रहते हैं। जीवन का कलाकार वह है, जो दुर्बलता की आंधी में भी सबलता का दीप जला दे, विस्मृति और प्रमाद की अंधियारी में भी आत्मस्मृति और अप्रमत्तता का सूर्य उगा दे—भगवान् महावीर ने भी यही किया। मेघकुमार आत्म-विस्मृति की निद्रा में सो रहा था—उसे अतीत की स्मृति के आलोक में खड़ा कर प्रभु ने जगा दिया, एक रात्रि के द्रव्य-जागरण में ही उसे शाश्वत जागरण का दिव्य-बोध दे दिया। नन्दीषेण पथ से भटका था, किन्तु जब वह वापस लौट कर आया तो भगवान् महावीर ने उसे सहज वात्सल्य के साथ पुनः अपना लिया। पथ-भ्रष्ट के साथ घृणा नहीं, किन्तु सहानुभूति और वत्सलता का व्यवहार कर उन्होंने बता दिया कि वे सच्चे बोधिदाता हैं, बोहियाणं का विरुद सार्थक करते हैं।[1]

वैदेही का विदेह-विहार

[एक अविस्मरणीय प्रेरक प्रसंग]

मगध में अध्यात्म चेतना की ज्योति प्रज्वलित करके भगवान् महावीर अपनी जन्म-भूमि विदेह की ओर बढ़े।[2] अध्यात्म की भाषा में महावीर स्वयं विदेह (देहासक्ति-मुक्त) थे। उनका जन्म-प्रदेश 'विदेह' कहलाता था। संभवतः इसका भी कारण उस पुण्य-भूमि की आध्यात्मिक विरासत ही रही हो। नमिराज और जनक जैसे निवृत्ति

१ घटना वर्ष वि. पू. ४११ (अर्हत्-जीवन का प्रथम वर्ष)
२ व. पू. ४११-४१८।

के परम उपासक राजर्षियों के कारण उनका जन्म-प्रदेश भी विदेह (देहासक्ति-मुक्त) कहलाने लगा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह तो स्पष्ट ही है कि विदेह-भूमि के कण-कण में निवृत्ति और अध्यात्म-भावना का एक दिव्य उच्छ्वास उमग रहा था। भगवान् महावीर की वीतराग-साधना और धर्म-प्रचार ने उस उच्छ्वास में और भी तीव्र स्पन्दन भर दिया।

लगभग तेरह वर्ष पूर्व इसी विदेहभूमि के क्षत्रियकुंडग्राम से श्रमण महावीर ने जिस अगम्य पथ की खोज में एकाकी अभिनिष्क्रमण किया था। अब उस लक्ष्य को प्राप्त कर, अनन्त सिद्धि और अगणित दिव्य विभूतियों से सम्पन्न हो, अर्हत् बनकर विशाल धर्म-संघ के साथ उसी जन्म-भूमि की पवित्र धरती पर चरण-विन्यास कर रहे थे, इस अविस्मरणीय सुखद वेला में नगर निवासियों के हृदय में कितना उल्लास, कितना गौरव उमग उठा होगा—इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

भगवान् महावीर ब्राह्मण कुंडग्राम के बाहर बहुशाल नामक उद्यान में पधारे। जनता की अपार भीड़ दर्शनों के लिए आई। जन-समूह में सबसे आगे था - ग्राम का प्रमुख विद्वान, धनाढ्य और प्रभावशाली श्रावक ऋषभदत्त। उसकी धर्म-पत्नी ब्राह्मणी देवानंदा उल्लास में विह्वल हुई उससे भी आगे बढ़कर भगवान् की वंदना करने आई। उसका समूचा शरीर रोमांचित हो गया, मुख कमल की भाँति खिल उठा, आँखों से अवर्णनीय उल्लास टपकने लगा। हर्षावेग के कारण उसकी आँखों से प्रसन्नता के आँसू बह निकले। वात्सल्य के प्रबल वेग से उत्कंटित हो उसके स्तनों से दूध की धारा बह चली। देवानंदा एक विचित्र आश्चर्यजनक स्थिति में मंत्रमुग्ध होकर प्रस्तर-प्रतिमा की भाँति निस्पंद, भाव-विभोर हुई खड़ी रह गई—एकटक देखती रही—प्रभु की मुखमुद्रा को।

देवानंदा की यह असाधारण उत्सुकता और उसके शारीरिक विचित्र लक्षण देखकर किसको विस्मय नहीं हुआ होगा? सभी दर्शक इस अबूझ पहेली को समझने के लिए आतुर थे, पर थे मौन! तभी महान जिज्ञासु इन्द्रभूति गौतम, जो चुपचाप यह असाधारण घटना देख रहे थे, प्रभु के सामने करबद्ध खड़े हुए।

"प्रभो! यह देवानन्दा ब्राह्मणी आज पहली बार आपकी धर्म-सभा में आई है आपको देखते ही इसके शरीर में असाधारण परिवर्तन हो गये हैं, लगता है इसके हृदय में नारी-सुलभ मातृत्व का ज्वार उमड़ आया है, इसकी विस्फारित अनिमिष आंखें, प्रसन्नता से पुलकित मुख और हर्ष एवं मातृत्व भाव से उत्कंटित अंग-प्रत्यंग किसी अज्ञात रहस्य को व्यक्त करते-से लगते हैं……… !"

"गौतम ! तुम्हारा अनुमान ठीक है। देवानन्दा की अन्तश्चेतना में जो रहस्य छिपा है, उसका अनुमान स्वयं इसे भी नहीं है, सिर्फ अज्ञात अनुभूति ही इसे उत्कंटित कर रही है।"

प्रभु का उत्तर सुनकर गौतम का आश्चर्य कुतूहल में परिणत हो गया। स्वयं ब्राह्मण ऋषभदत्त और देवानन्दा भी उस रहस्य को जानने के लिए विस्मित-से प्रभु की ओर देखने लगे।

प्रभु ने रहस्य का आवरण हटाते हुए कहा—"गौतम ! यह देवानन्दा ब्राह्मणी मेरी माता है।"

सर्वत्र एक नीरवता छा गई। आश्चर्य-मुग्ध गौतम बोले—"भंते ! यह तो बिलकुल नई बात सुन रहा हूं। हम सभी तो जानते हैं - त्रिशला क्षत्रियाणी आपकी माता हैं, सिद्धार्थ क्षत्रिय आपके पिता हैं ...... यह नई बात आज पहली बार सुनी गई है।"

"हां, गौतम ! जो घटनाएं अतीत के आवरण में छिप जाती हैं, वे रहस्य बनकर ही प्रकट होती हैं। मैंने त्रिशला क्षत्रियाणी के गर्भ से जन्म लेने के पूर्व बियासी रात्रियां देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में व्यतीत की हैं। देवानन्दा को जो चतुर्दश महा-स्वप्न आये थे, वे बियासवीं रात्रि को लौटते हुए प्रतीत हुए और इसे अनुभूति हुई कि मेरी कोई अमूल्य निधि किसी ने लूट ली है। उसी रात्रि को हरिणंगमेषी देव द्वारा मेरा गर्भान्तरण हुआ। मनुष्यलोक में मेरा प्रथम अवतरण देवानन्दा के गर्भ में हुआ और जन्म हुआ त्रिशला की कुक्षि से"—प्रभु ने एक रहस्य को प्रकट कर दिया।

गौतम, ऋषभदत्त और हजारों-हजार श्रोता आश्चर्य के साथ देवानन्दा के मुंह की ओर देखने लगे। देवानन्दा अतीत की स्मृतियों में डूब गई थी। उस रात्रि की अनुभूति स्मृति में साकार हो गई। बियासीवीं रात्रि का वह विचित्र दृश्य उसकी आंखों में तैर गया। उसका रोम-रोम उत्कंटित हो गया और श्रद्धा के साथ स्वीकृति-सूचक मुद्रा में उसने प्रभु के चरणों में नमन किया।

प्रभु महावीर ने वातावरण को सजीव बनाते हुए कहा—"गौतम ! इसी-लिए मैंने कहा—देवानन्दा मेरी माता है। मुझे देखते ही इसके हृदय में पुत्र-स्नेह जग उठा, मातृ-सुलभ वात्सल्य का अपूर्व ज्वार उमड़ आया और उसी के यह विचित्र लक्षण हैं, जिन्हें देखकर तुम्हारी जिज्ञासा मुखर हुई !"[1]

1 यह माना जाता है कि भगवान् महावीर के गर्भ-परिवर्तन की यह घटना अब तक किसी भी मनुष्य को ज्ञात नहीं थी। सर्वप्रथम उन्हीं के द्वारा यह रहस्योद्घाटन हुआ। देवानन्दा का यह प्रसंग भगवती सूत्र शतक ९, उद्देशक ६ में विस्तार के साथ दिया गया है।

प्रभु की वाणी द्वारा इस विचित्र रहस्य को सुनकर सभा चकित-सी रह गई। ऋषभदत्त और देवानन्दा को जहां पर आश्चर्य हुआ, वहां अत्यन्त हर्ष और गौरव भी उनकी रग-रग में उमड़ आया। तीर्थंकर महावीर जैसे पुत्र-रत्न को पाकर कौन माता-पिता अपने को भाग्यशाली नहीं समझेगा ? ऋषभदत्त और देवानन्दा ने इस गौरव के अनुरूप ही अपना अगला कदम उठाया—प्रभु द्वारा उपदिष्ट श्रमण धर्म को स्वीकार कर दोनों ही प्रव्रजित हो गये। ऋषभदत्त गणधरों के एवं देवानन्दा आर्या चन्दनबाला के सान्निध्य में अध्ययन एव तपःसाधना द्वारा विदेह-साधना में संलग्न हो गये।

यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि भगवान् महावीर का धर्म-संघ समता और समानता का जीता-जागता तीर्थ प्रतीत होता है। ऋषभदत्त को दीक्षित होते ही गणधरों के सान्निध्य में रख दिया गया और देवानन्दा, जो भगवान की माता होने का गौरव पा चुकी थी, उसे भी आर्या चन्दना के नेतृत्व में रखना—पूर्व-सम्बन्धों की विस्मृति का, गुण-ज्येष्ठ (रत्नाधिक) की श्रेष्ठता का एक अनुपम उदाहरण है।

ब्राह्मणकुंड के पश्चिम में ही भगवान् महावीर की जन्म भूमि थी—क्षत्रिय-कुण्डग्राम। अज्ञात रूप में ही पुत्र-दर्शन से जहाँ देवानन्दा का रोमोद्‌गम हुआ, वहाँ आज वीर-पुत्र के चरण-स्पर्श से क्षत्रिय-कुंड की भूमि का कण-कण पुलकित हो उठा हो तो क्या आश्चर्य की बात।[1] आज त्रिशला यदि विद्यमान होती और भगवान् महावीर को इस अनन्त ऐश्वर्य-सम्पन्न स्थिति में देखती तो शायद मरुदेवी की भाँति हर्ष और आनन्द की चरम स्थिति का नया उदाहरण प्रस्तुत कर देती। पर वह तो भगवान् महावीर की प्रव्रज्या के पूर्व ही स्वर्गवासिनी बन गई थी। अब क्षत्रियकुंड का शासन-सूत्र नन्दीवर्धन सभाल रहे थे।

नन्दीवर्धन ने प्रभु के आगमन पर नगरी को नववधू की भांति सजा दिया, घर-घर में मंगल-दीप जलाकर सुगृहिणियों ने प्रभु की आरती उतारी और सर्वत्र उल्लास का अभूतपूर्व वातावरण छा गया। भगवान् महावीर की पुत्री प्रियदर्शना और दामाद जमालि भी प्रभु के दर्शन करने चले। धर्मसभा में पूरा क्षत्रिय कुंड-ग्राम उपस्थित हो गया। शायद प्रभु का यह प्रथम उपदेश था—अपनी जन्म-भूमि में। विदेह-पुत्र की विदेह-भावना स्वर के प्रत्येक आलाप में अनुगुंजित हो रही थी। जिसने सुना, उसका हृदय आन्दोलित हुए बिना नहीं रहा था। प्रभु की प्रथम

१ बहुसाल उद्यान क्षत्रियकुंड और ब्राह्मणकुंड के बीच में था, भगवान् महावीर वहीं ठहरे थे, जमालि वहीं दर्शनार्थ आया।

देशना ने ही जमालि के अन्तःकरण को झकझोर दिया। उसकी अध्यात्म-चेतना जागृत हो गई। संसार के समस्त भोग-विलास उसे विडम्बना और स्नेह-प्यार एक प्रवंचना प्रतीत होने लगे। वह प्रबुद्ध होकर भगवान् महावीर के समक्ष उपस्थित हुआ "भंते ! मुझे आपकी वाणी सत्य प्रतीत हुई है, आपका उपदेश जीवन की यथार्थता का बोध देता मेरे आसक्ति के बन्धन शिथिल हो गये, मैं संसार-त्याग कर आपका शिष्य बनना चाहता हूँ।"

प्रभु महावीर ने अति सहजता के साथ कहा—"अहा सुहं देवाणुप्पिया'—तुम्हारी अन्तर् आत्मा को जैसा सुख हो, वैसा करो !"

भगवान् महावीर का यह उत्तर उनकी उपदेश शैली की सहजता सिद्ध करता है। उनकी वाणी जलधारा की भाँति अत्यन्त सहजता के साथ बहती थी। उसमें अपनी सत्यता सिद्ध करने का न कोई आग्रह था, न लोगों को व्रत स्वीकार करने का कोई दबाव होता, न स्वर्ग और परलोक का ही कोई प्रलोभन होता। वे सहजभाव से विश्व-स्थिति का, जीवन की यथार्थता का दर्शन करा देते, मानव-जीवन के कर्त्तव्य का अवबोध देते, उनकी वाणी अपने लक्ष्य में कृत-कृत्य थी। उस अन्त.-स्फूर्त वाणी को सुनकर श्रोता सहज ही शीतल-जल-स्पर्श का-सा सुखद अनुभव करता, उसके अन्तःकरण में उसकी सत्यता प्रतिभासित होने लगती और भाव-विभोर होकर वह कह उठता—"प्रभो ! आपकी वाणी सत्य है, यथार्थ है, आत्मा को हित-कर है, आपकी सरस्वती (वाणी) श्रुति के माध्यम से मेरी अनुभूति बन गई है, इस अनुभूति ने मन में जागृति पैदा की है, जागृति मेरी सत्प्रवृत्ति को प्रोत्साहित कर रही है, मेरी वृत्ति अन्तर्मुख बन गई है, मैं अब आप द्वारा उपदिष्ट यथार्थ मार्ग का अनुसरण करना चाहता हूँ।"

इस प्रकार भगवान् महावीर का उपदेश सहज रूप से श्रोता के मन-मस्तिष्क को प्रभावित कर उसकी अन्तश्चेतना को जागृत कर देता, न केवल जागृति ही, किन्तु उस पथ पर बढ़ जाने की एक आकुलता भी पैदा कर देता, जागृत आत्मा जब तक साधना के पथ पर चला न आता, उसे विश्रान्ति नहीं मिलती।

जमालि के समक्ष भी यही स्थिति बनी। प्रभु की वाणी ने उसके हृदय में जागृति की लहर पैदा कर दी, और फिर उनकी 'अहासुहं' की सहज स्वीकृति ने उसे और अधिक बल प्रदान कर दिया, तो अब वह रुक नहीं सका। वह उसी क्षण, भगवान् के समक्ष ही अपने राजकीय परिवेश का त्यागकर साधु बन जाना चाहता था, पर त्याग उसे उतावला, कर्त्तव्य-विमुख और उत्तरदायित्वहीन न बनाये, इसलिये वह भगवान महावीर की स्वीकृति पाकर दीक्षा की अनुमति के लिये माता-

पिता के पास गया। माता ने स्नेह-सिक्त स्वर में कहा—"मेरे लाल ! भगवान् महावीर की वाणी सुनकर तेरा हृदय प्रफुल्लित हुआ—यह तो प्रसन्नता की बात है, पर हमारे बैठे ही तू घर-बार छोड़कर साधु बनने की बात करता है—यह तो हमारे लिए असह्य है। तेरा क्षण भर का वियोग भी मुझे बेचैन कर डालता है.......।"

जमालि ने कहा—"माताजी, संयोग का अन्त तो वियोग ही है। संयोग की सुखानुभूति वियोग की वेदना लेकर ही आती है। यह शरीर ! यह यौवन ! यह वैभव ! और यह माता-पिता का स्नेह ! आठ रमणियों का प्रेम ! क्या चिरस्थायी है ? किसे पता, पहले कौन काल का ग्रास बनेगा ? मनुष्य सोचता है वृद्धावस्था में धर्म करूँगा, परन्तु यह नहीं सोचता कि वह अवस्था आयेगी भी या नहीं.......?"

माता—पुत्र ! तेरा शरीर उत्तम रूप-लक्षण युक्त है, तेरा बल-वीर्य-पराक्रम श्रेष्ठ है। तू विचक्षण है, सब प्रकार से समर्थ है। जब तक यौवन, रूप आदि गुण अस्खलित है, भोग-उपभोग कर, कुल की वृद्धि कर ! बुढ़ापे में दीक्षित हो जाना फिर मै नहीं रोकूंगी।" इस प्रकार मोह-जनक बातों से माता ने जमालि को रोकने की चेष्टा की, किन्तु मोह और स्नेह की बातें तभी तक हृदय को प्रभावित करती हैं, जब तक हृदय में मोह भरा हो, निर्मोह हृदय को मोह नहीं रोक सकता, सच्चा वैराग्य कठिन से कठिनतर आसक्ति और स्नेह के बन्धनों को क्षण-भर में तोड़ देता है। जमालि को माता-पिता का करुण स्नेह, आठ सुन्दरियों का प्यार और राज-लक्ष्मी का मोह अब कैसे रोक पाता। वह निर्मोह के पथ पर बढ़ गया। उसकी चेतना में वैराग्य की लौ प्रज्वलित हो गई थी, प्रकाश फैल गया था, अब अंधकार में कैसे भटकता ? अन्त में माता-पिता की अनुमति पाकर वह भगवान् महावीर के चरणों में प्रव्रजित हो गया।

अपने पति को, अपने जीवन-साथी को त्याग-विराग के पथ पर बढ़ा देखकर प्रियदर्शना (भ० महावीर की पुत्री) पीछे कैसे रहती ? वह भी तो सीता और दमयन्ती के अतीत आदर्शों की अनुगामिनी थी, जो राज्य-त्याग के समय भी पति के साथ वनवासिनी बनने को आगे-आगे चलीं। जमालि ने पाँच सौ व्यक्तियों के साथ दीक्षा ली, प्रियदर्शना ने एक हजार स्त्रियों को प्रबुद्ध कर दिया और सब को साथ लेकर भगवान् महावीर की धर्मसभा में उपस्थित हुई—"भंते ! हम सब श्रमण धर्म की आराधना करने के लिए अपने जीवन को समर्पित करती हैं। प्रभो ! हमें भी अपने श्रमणी संघ में दीक्षित कर जीवन-श्रेयस् का पथ दिखाइए।"

प्रभु महावीर की स्वीकृति पाकर प्रियदर्शना आदि एक हजार स्त्रियाँ आर्या चन्दना के पास प्रव्रजित हुईं। इस प्रकार भगवान् महावीर का यह विदेह विहार

सचमुच में जन-मानस को विदेह-भाव (अनासक्ति) की एक प्रबल प्रेरणा देता रहा। विदेह देश के घर-घर में वैदेही (महावीर) का विदेह-संदेश गूंज उठा।[1]

तप एवं त्याग के शिखरयात्री

भगवान् महावीर ने आत्म-साधना के दो मार्ग बताये हैं—आगार-धर्म एवं अनगार-धर्म। अनगार-धर्म स्वीकार करके साधना-पथ पर बढ़ने वाले कुछ श्रमणोपासकों का जीवन-परिचय अगले प्रकरण में दिया जा रहा है, अनगार-धर्म स्वीकार कर साधना-पथ पर बढ़ने वाले हजारों श्रमणों में से एक-दो उत्कृष्ट साधकों का परिचय यहां प्रस्तुत है।

यद्यपि इन घटनाओं के आरोह-अवरोह भगवान् महावीर के जीवन से कुछ दूर भी चले गए हैं, किंतु पूरे घटना-चक्र पर उनकी जीवनदृष्टि और उनके प्रेरणादायी सान्निध्य की छाया व्याप्त है। अतः यहाँ दो उदाहरण प्रस्तुत हैं जो अपने दोनों पक्षों—गृहि एवं साधक जीवन की उत्कृष्टता को एक साथ लिए हुए हैं।

[रणवीर क्षमावीर—राजर्षि उदायन]

भगवान् महावीर का तीर्थंकर-जीवन विश्व को 'बोधि-दान' करने में ही व्यतीत हुआ। वे स्वयं कृत-कृत्य थे, किन्तु जब किसी भव्य हृदय में भावना का वेग उमड़ता देखते तो उसे आत्मा के ऊर्ध्वगामी विकास में प्रेरित करने अपने शारीरिक श्रम, कष्ट एवं पीड़ा की उपेक्षा कर देते। बोधिदान हेतु एक अत्यंत कष्टप्रद तथा सुदीर्घ यात्रा का प्रसंग भगवान् महावीर के जीवन में घटित हुआ, जिसकी भाव-प्रवणता आज भी सजीव-सी है।

उन दिनों भारत के पश्चिमी अंचल पर-सिंधु-सौवीर आदि देशों पर राजा उदायन (उद्रायन) शासन करता था। उदायन अपने युग का प्रताप और महान् शासक था। पहले वह तापस-परम्परा का अनुगामी था, किन्तु उसकी रानी प्रभावती, जो वैशाली गणाध्यक्ष चेटक की पुत्री थी और निर्ग्रन्थ धर्म की उपासिका थी की प्रेरणा से राजा उदायन भी निर्ग्रन्थधर्म का अनुयायी बन गया था।

1 इस सन्देश की प्रतिध्वनि विदेह के कोने-कोने में गूंजती रही और एक वर्ष पश्चात् भगवान् महावीर पुनः विदेह के वाणिज्यग्राम में आये, तब वहाँ का प्रमुख गाथापति आनन्द, श्रावक बना, जिसका वर्णन 'भोग के सागर में त्याग का सेतु' शीर्षक में पढ़िए।

निर्ग्रन्थधर्म का अनुयायी बनने के बाद उदायन ने उसके आदर्शों को जीवन में साकार रूप प्रदान किया। क्षमा (समता) निर्ग्रन्थधर्म का सार है और यह क्षमा उदायन के जीवन में मूर्तिमान हुई। उसने चंडप्रद्योत जैसे पराक्रमी राजा को पराजित कर बंदी बना लिया था। इससे उसके उद्दाम बाहुबल एवं प्रचंड सैन्यबल की धाक पूरे दक्षिण-पश्चिम भारत में जम गई। पर, इस पराक्रम से भी प्रखर पराक्रम उदायन ने तब दिखाया, जब पर्यूषण पर्व पर उसने चंडप्रद्योत से क्षमा-याचना की और उत्तर में उसने अपराधी चंडप्रद्योत को क्षमा मांगते हुए शुद्ध अध्यात्मदृष्टि से क्षमादान कर मुक्त कर दिया।

बंदी चंडप्रद्योत ने कहा—"पर्यूषण पर आप मुझसे क्षमायाचना कर रहे हैं, पर मैं तो आपका कैदी हूं, अपराधी हूं, पराधीन की क्षमा-याचना कैसी ? किसी को बंधन में बांधकर कैदी बना लेना और फिर उससे क्षमापना करना—यह कैसी क्षमापना ? यह कैसी पर्यूषण-पर्वाराधना ?"

चंडप्रद्योत के इसी तीखे व्यंग्य ने विजेता उदायन के धर्मपरायण सरल हृदय को झकझोर डाला, उसे लगा— सचमुच वह विजेता होकर भी अपराधी बन गया है, जो किसी को बंदी बनाकर उसके साथ क्षमापना का नाटक कर रहा है। उदायन ने चंडप्रद्योत के बंधन खोल दिये, प्रचंड शत्रु को मुक्त कर दिया। चंडप्रद्योत उदायन की यह सरलता, हृदय की विशालता और क्षमाशीलता से गद्गद होकर गलबाहियाँ डालकर मिला और उसका प्रशंसक बनकर चला गया।

इस घटना से समूचे दक्षिण-पश्चिम भारत में उदायन की शौर्य-गाथा के साथ-साथ आध्यात्मिक तेजस्विता का भी शंखनाद गूंज उठा। ऐसे क्षमाशील, वीर और भव्य भावनाशील भक्त को प्रतिबोध देने भगवान् स्वयं खिंचे आए हों तो क्या आश्चर्य !

भगवान् महावीर उन दिनों चम्पा नगरी में विहार कर रहे थे।[1] सर्वज्ञ प्रभु के ज्ञान में प्रतिबिम्बित हुआ उदायन का अध्यात्म-आरोहण। उदायन पौषध में बैठा सोच रहा था—"वे नगर धन्य हैं, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर का चरण-स्पर्श हो रहा है, और भव्य जनता उनके दर्शन कर, उनके उपदेश का श्रवण कर जीवन को सार्थक बना रही है। यदि भगवान् महावीर वीतभय नगर में पधारें तो मैं भी उनकी वन्दना करके जीवन को कृतार्थ करूं।"

१ घटना वर्ष वि. पू. ४९६-९५

भक्त के हृदय का संदेश भगवान् को मिला और भगवान् महावीर अपने विशाल शिष्य-समुदाय के साथ सिंधु-सौवीर की ओर प्रस्थित हुए।

चंपा से सिंधु-सौवीर प्रदेश बहुत दूर था। एक था भारत के पूर्वांचल में, दूसरा पश्चिमांचल में।

मरुभूमि का लंबा प्रवास और सैकड़ों श्रमण-श्रमणियों का साथ, साधुजीवन की कठिन भिक्षा-विधि ! इस दुस्सह यात्रा में भगवान् के अनेक शिष्यों को प्राणों से खेलना पड़ा। सिनपल्ली के रेतीले मरुस्थल में कोसों तक बस्ती का नाम-निशान नहीं था। श्रमण क्षुधा-पिपासा से पीड़ित हो गए। किन्तु फिर भी अपने श्रमण-जीवन की कठोर मर्यादा से चलित नहीं हुए।

भगवान् सुदीर्घ विहार करके वीतभय पत्तन पधारे। अपनी भावना को सफल होते देखकर महाराज उदायन का रोम-रोम नाच उठा। भगवान् की वंदना करके सम्राट् ने प्रार्थना की - "भंते ! आपके दर्शन करके मैं कृतार्थ हुआ हूं, अब संसार त्यागकर दीक्षा लेना चाहता हूं।"

प्रभु महावीर ने कहा—"राजन् ! जहा सुहं—तुम्हारी आत्मा को जिसमें सुख हो, वैसा करो, सत्कार्य में प्रमाद मत करो।"

उदायन का पुत्र था—अभीचिकुमार। राजा ने सोचा—'राजेश्वरी 'नरकेश्वरी' की लोकोक्ति कभी-कभी सच हो जाती है, जिस राज्य को मैं स्वय बंधन और दलदल समझकर त्याग रहा हूं, उस राज्य-पाश में पुत्र को क्यों फंसाऊं ? सच्चा पिता पुत्र के लोकोत्तर हित की कामना करता है, क्षणिक लौकिक हित की नहीं। इस प्रकार राजर्षि उदायन ने राजनीति से ऊपर उठकर अध्यात्मदृष्टि से चिन्तन किया। राज्य का उत्तराधिकार अपने भानजे केशीकुमार को सौंपकर वे भगवान् महावीर के चरणों में दीक्षित हो गए।

भगवान् ने भक्त का उद्धार किया, वे उसी भयानक ग्रीष्मऋतु में पुनः विदेह की ओर चले और वाणिज्यग्राम में वर्षावास व्यतीत किया।

राजर्षि उदायन दीक्षित होकर कठोर तपश्चरण एवं विशुद्ध ध्यान-साधना करने लगे। सुकुमार शरीर तप का कठोर आचरण सह नहीं सका। राजर्षि रुग्ण हो गए। विहार करते हुए एक बार वीतभय नगर में आए।

केशीकुमार के मंत्री बड़े दुष्ट थे। उन्होंने राजा के कान भरे—"राजर्षि पुनः गृहस्थाश्रम में आकर राज्य करना चाहते हैं, इसी कारण नगर में आए हैं, संभवतः

कोई दूसरा षड्यंत्र रचेंगे। अतः विष-फल लगने से पहले ही विष-अंकुर को मिटा देना चाहिए।" मंत्रियों की नीच मंत्रणा के अनुसार राजर्षि को विष-मिश्रित अन्न दे दिया गया। विष-मिश्रित भिक्षान्न खाते ही राजर्षि को पता चल गया, किन्तु वे तो समता के परम उपासक बन चुके थे। विष ने राजर्षि के प्राण लूट लिए, पर उनकी समता, तितिक्षा एवं समाधि को कोई क्या लूटता? परम समाधि के साथ केवलज्ञान प्राप्त करके राजर्षि ने निर्वाण प्राप्त कर लिया।

[उत्कृष्ट भोगी : उत्कृष्ट योगी—धन्य-शालिभद्र]

तप एवं त्याग के शिखरयात्रियों की गणना में प्रथम प्रसंग हमने महाराज उदायन का दिया है, जिन्होंने युद्ध-क्षेत्र में अद्भुत पराक्रम दिखाकर चंडप्रद्योत जैसे दुर्दान्त शासक को बन्दी बनाया, और फिर संसार त्यागकर साधु बने, तो परम समतायोग एवं स्थितप्रज्ञता के शिखर पर पहुंच गये। भोजन में विष दिये जाने पर भी मन में पूर्ण शान्ति और समाधि के साथ आत्म-भावना में रमण करते हुए निर्वाण प्राप्त किया।

इसी माला में दूसरा प्रसंग आता है—समतायोगी शालिभद्र का। शालिभद्र का भोगी जीवन एक शिखर पर पहुंचा हुआ था, जिसे देखकर मगधपति श्रेणिक स्वयं विस्मित थे, किन्तु वही उत्कृष्ट भोगी भगवान् महावीर के चरणों में आया, त्याग और साधना के पथ पर बढ़ा तो योग के चरम शिखर पर पहुंच गया। उसका भोग भी उत्कृष्ट था, तो योग भी उत्कृष्ट। शालिभद्र का जीवन-प्रसंग इस प्रकार है:—

राजगृह में गोभद्र नाम का एक अत्यन्त धनाढ्य सेठ था। सेठानी का नाम भद्रा था। शालिभद्र उसका पुत्र था। शालिभद्र बहुत ही सुन्दर व सुकुमार था। सुन्दरियों के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। माता-पिता द्वारा सब सुख-सुविधाएं प्राप्त कर, शालिभद्र प्रतिपल भोग-विलास व ऐश-आराम के सागर में निमग्न रहता।

गोभद्र सेठ ने अपना अन्तिम जीवन साधु-चर्या में बिताया। विविध तपश्चर्याओं द्वारा निर्जरा के साथ पुण्यबन्ध करके मृत्यु को प्राप्तकर देव बना। पुत्र के प्रति अत्यन्त स्नेह-अनुराग के कारण वह विविध दिव्य भोग-सामग्रियां पुत्र के महलों में पहुंचाता रहता।

शालिभद्र के पास अब भोग-सुख की क्या कमी थी·······स्वयं देवता जिसके साधन जुटाते हों·······।

एक बार राजगृह में कुछ विदेशी व्यापारी रत्नकम्बल लेकर आये। उनका मूल्य बहुत अधिक होने के कारण महाराज श्रेणिक ने भी वे रत्नकम्बल नहीं खरीदे। विदेशी व्यापारी निराश होकर जा रहे थे कि भद्रा सेठानी के महलों की तरफ आ गये। भद्रा के पास अपार स्वर्ण-भण्डार भरे थे, उसने विदेशी व्यापारियों को मुँह मांगा मूल्य देकर रत्नकम्बल खरीद लिए। कम्बल सोलह ही थे, अतः उनके दो-दो टुकड़े करके बत्तीसों पुत्र-वधुओं को दे दिये।

महारानी चेलणा ने राजा श्रेणिक से एक रत्नकम्बल की मांग की। राजा ने व्यापारियों को बुलाया तो पता चला कि सभी कम्बल सेठानी भद्रा ने खरीद लिए हैं। राजा ने सेठानी के पास कहलाया "एक कम्बल हमें चाहिए, जो भी मूल्य हो वह लेकर कम्बल दे दें।" भद्रा ने विनयपूर्वक वापस सूचित किया कि "वे रत्न-कम्बल तो खण्डित हो गये। मेरी पुत्र-वधुओं ने उनके पाद-प्रोञ्छन (पैर पोंछने के रूमाल) बना लिए हैं, अतः अब मैं क्षमा चाहती हूँ।"

राजा श्रेणिक को यह जानकर बहुत ही आश्चर्य हुआ कि नगर में उससे भी अधिक श्रीमन्त और उदार लोग बसते हैं, जिनके वैभव और भोग-साधनों की थाह पाना कठिन है। राजा को जिज्ञासा हुई कि आखिर उसका पुत्र कैसा है, जिसकी पत्नियाँ देव-दुर्लभ रत्नकम्बल के पोंछने बनाकर फेंक देती हैं। राजा ने भद्रा को कहलाया—"महाराज आपके पुत्र शालिभद्र को देखना चाहते हैं।"

भद्रा असमंजस में पड़ गई। शालिभद्र आज तक सातवीं मंजिल से नीचे भी नहीं उतरा, उसे कुछ भी लोक-व्यवहार का पता नहीं। राजा कहीं अप्रसन्न न हो जायें, अतः वह स्वयं राज-दरबार में उपस्थित हुई और महाराज से प्रार्थना की—"महाराज! शालिभद्र आज तक कभी महल से नीचे नहीं उतरा, वह बहुत ही सुकुमार है, यहां आने में उसे बहुत कष्ट होगा, अतः कृपा कर आप सपरिवार मेरे घर पर पधार कर आतिथ्य स्वीकार करें।

भद्रा की प्रार्थना स्वीकार कर राजा श्रेणिक भवन में पहुंचा। उसकी विशाल शोभा और मनोहर व्यवस्था देखकर चकित रह गया। भद्रा ने राजा का शाही स्वागत किया। शालिभद्र को बुलाने सेवक को ऊपर भेजा। सेवक ने जाकर कहा—"अपने महलों में राजा श्रेणिक आये हैं, अतः आपको नीचे बुलाया है।" शालिभद्र ने कहा—"उसे जो कुछ लेना-देना हो, देकर विदा करो, मेरा वहां क्या काम है?" तब भद्रा स्वयं ऊपर गई, उसने सब स्थिति समझाई—"श्रेणिक राजा अपने स्वामी हैं, नाथ हैं, वे तुमसे मिलना चाहते हैं, तुमको अपने राज-भवन में बुलाया था, लेकिन मेरी प्रार्थना

पर ही वे अपने घर आये हैं, चौथी मंजिल में मैंने उन्हें ठहराया है, बेटा ! दो-तीन मंजिल उतरकर तो अपने स्वामी का स्वागत करना ही चाहिए...... ।"

शालिभद्र माता के आग्रह पर नीचे आया, अनमने भाव से राजा से औपचारिक मुलाकात भी की। श्रेणिक और चेलणा आदि राजपरिवार शालिभद्र के वैभव व सौकुमार्य आदि से अत्यन्त चकित हुए, पर, शालिभद्र इस मुलाकात से खिन्न हो गया।

उसने "स्वामी ! नाथ !" ये शब्द जीवन में पहली बार सुने। इन शब्दों की ध्वनि से उसके मन, मस्तिष्क और अन्तश्चेतना के तार झनझना उठे। उसे आज पहली बार अपनी तुच्छता और पामरता का भान हुआ। उसके मन में पराधीन की पीड़ा जगी, इस पीड़ा की टीस इतनी गहरी पैठी कि वह व्याकुल हो गया। उस पीड़ा से मुक्त होकर पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए वह सब कुछ निछावर करने को तैयार हो उठा।

इसी बीच वह धर्मघोष नामक मुनि के सम्पर्क में आया, फलस्वरूप उसे पूर्ण स्वतन्त्रता का मार्ग—संयम-साधना का ज्ञान हुआ, धीरे-धीरे उसके मन में विषयों से विरक्ति होने लगी, प्रतिदिन एक-एक पत्नी और एक-एक शैय्या का परित्याग कर वह संयम-साधना का अभ्यास करने लगा।

शालिभद्र की छोटी बहिन उसी नगर में श्रेष्ठी धन्यकुमार को ब्याही थी। उसने अपने भाई के वैराग्य की बात सुनी तो वह उदास हो गई, आंखें भींग गईं। धन्य ने उदासी का कारण जाना तो व्यंग्य के साथ बोले—"क्यों चिन्ता कर रही हो ? उसका वैराग्य नकली है, एक-एक पत्नी को छोड़ने वाला कभी साधु-धर्म के असिधारा पथ पर नहीं चल सकता...... ।"

धन्य की पत्नी ने भी व्यंग्य में कहा—"आपसे तो वह भी नहीं हो रहा है, किसी का मज़ाक करना सरल है, त्याग करना कठिन...... कठिनतर है...... ।"

धन्य के मन में सहसा एक चिनगारी उठी—"अच्छा, तो लो, हमने आज से सभी पत्नियों को एक साथ छोड़ दिया.... ।"

बस, संकल्प का वेग उमड़ा, फिर कौन रोक सकता था.... ?

धन्य घर से निकल कर शालिभद्र के पास पहुंचे। और कहा – यदि वैराग्य सच्चा है तो क्यों नहीं सब कुछ एक साथ छोड़ देते.... जब भोग से घृणा हो गई तो फिर त्याग का नाटक क्यों ? आओ, वज्र-संकल्प के साथ बढ़ें, चले आओ।"

शालिभद्र (साला) और धन्य (बहनोई) दोनों घर से निकलकर चले आये भगवान् महावीर के पास। भगवान महावीर तब राजगृह के गुणशिलक चैत्य में

ठहरे हुये थे।[1] दोनों साले-बहनोई ने प्रभु से दीक्षा ग्रहण की। दीक्षानन्तर वे अध्ययन और तपश्चरण में जुट गये।

भोग के उत्कृष्ट साधनों का त्याग कर शालिभद्र और धन्य—अब योग के उत्कृष्ट मार्ग पर बढ़ने लगे। कठोर तपश्चरण, ध्यान आदि द्वारा उन्होंने शरीर की सम्पूर्ण वासना को भस्मसात् कर डाला। तीन-तीन, चार-चार मास के कठोर निर्जल उपवास से दोनों का शरीर अत्यन्त कृश हो गया, नस-नस निकल आई देह पर सिर्फ चमड़ी ओढ़ी हुई-सी लगती थी।

एक बार धन्य-शालिभद्र भगवान् महावीर के साथ विहार करते पुनः राजगृह में आये। दोनों को ही मासिक तप का पारणा था। अनुमति लेने के लिए वे भगवान् के निकट आये। भगवान् ने अनुमति देते हुए कहा—"आज तुम अपनी माता के हाथ से प्राप्त आहार से पारणा करोगे।"

धन्य-शालिभद्र भिक्षार्थ पर्यटन करते हुए भद्रा सेठानी के गृहद्वार पर पहुंचे। घोर तपश्चरण से दोनों के ही शरीर इतने कृश और क्लान्त हो गये थे कि वहाँ किसी ने इन्हें पहचाना तक भी नहीं। भद्रा स्वयं भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जाने की तैयारी में व्यस्त थी, उसने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया। गृह-द्वार पर आये दोनों तपस्वी (पुत्र और दामाद) बिना भिक्षा लिए ही लौट आये। नगर के बाहर आते-आते एक ग्वालिन ने तपस्वी को देखा, उसके हृदय में अज्ञात स्नेह का ज्वार उमड़ पड़ा। मुनियों को आग्रह के साथ उसने अपना दही भिक्षा में दे दिया।

वहाँ से लौटकर शालिभद्र ने भगवान् महावीर से पूछा—"भंते ! हम अपनी माता के द्वार पर भिक्षार्थ गये थे, पर वहाँ भिक्षा नहीं मिली आपने जो कहा था कि अपनी माता के हाथ से आहार ग्रहण कर पारणा करोगे—वह कैसे घटित हुआ प्रभु........ ?"

सर्वदर्शी प्रभु ने कहा—"जिस ग्वालिन ने तुम्हें दही दिया, वह तुम्हारे पूर्वजन्म की माता थी.......तभी तो स्नेहवश वह रोमांचित हो गई।" भगवान् ने शालिभद्र के पूर्वजन्म की कथा सुनाई। धन्य और शालिभद्र ने पारणाकर आजीवन अनशनव्रत स्वीकार कर लिया और वैभारगिरि पर जाकर स्थिरमुद्रा में तपोलीन हो गये।

भद्रा सेठानी भगवान् महावीर के दर्शन करने आई। अपने प्रिय पुत्र (शालि-

१ घटना वर्ष, वि. पू. ४९६। (तीर्थंकर जीवन का चौथा वर्ष)

भद्र) को वहाँ नहीं देखकर पूछा—"भंते ! शालिभद्र अनगार कहां हैं ?" भगवान् ने उसे आज की सब घटना सुनाई। सुनते ही वह फूट-फूट कर रोने लगी—"हाय ! मैं कैसी हत-भागिनी ! द्वार पर आये हुए पुत्र को भी नहीं पहचाना और उसे बिना भिक्षा दिये ही लौटा दिया········ ? मेरा भाग्य सो गया ! मैं कैसी पुण्य-हीन हूं।" कुछ देर विलाप करने के बाद वह उनके दर्शनों के लिए आतुर हो उठी। भगवान् ने बताया "शालिभद्र और धन्य अनागार आजीवन अनशन-मारणान्तिक संलेखना, संथारे का व्रत लेकर वैभारगिरि पर चले गये हैं।"

महाराज श्रेणिक तथा भद्रा आदि तपस्वियों के दर्शन करने वैभागिरि पर आये। वहाँ अपने पुत्र की अत्यन्त कृश काया देखकर वह विलाप के साथ रो उठी। श्रेणिक ने समझाया—तुम्हारे पुत्र ने तो तपस्या के द्वारा जीवन कृतार्थ कर लिया है, ये न केवल ऐश्वर्य-भोग में ही अद्वितीय थे, किन्तु योग-साधना में भी अद्वितीय सिद्ध हुए, ऐसे पुत्र की माता को तो गौरव अनुभव करना चाहिये—देखो, दोनों तपस्वी समाधिस्थ हैं, कहीं तुम्हारे विलाप से उनको विक्षेप न हो········ ?

तपोमूर्ति अनगार को वन्दना करके श्रेणिक, भद्रा आदि चले आये।

भगवान् के धर्म-शासन में इस प्रकार त्याग एवं तप के शिखरयात्रियों की एक लम्बी परम्परा चलती रही है। ये गृहि-जीवन में भी श्रेष्ठ और विशिष्ट बनकर रहे और तप-त्याग के पथ पर बढ़े—तब भी उत्कृष्ट और विशिष्ट बनकर।

इस परम्परा के सिर्फ दो जीवन-प्रसंग यहाँ दिये गये हैं, किन्तु इसी प्रकार महचन्द्र, दशार्णभद्र, प्रसन्नचन्द्र, सुबाहुकुमार, महाबल आदि ने अपार भोग-सामग्रियों को तिलांजलि देकर, राज्य और ऐश्वर्य का त्याग कर संयम साधना स्वीकार की तथा समत्व की साधना में उत्कृष्ट स्थिति पर पहुंचकर त्याग की शिखर-यात्रा पूर्ण की।[१]

भोग के सागर में त्याग का सेतु

[भगवान् महावीर के प्रमुख उपासक]

श्रमण महावीर ने साधना-काल के प्रथम वर्षावास में अस्थिक ग्राम में दस स्वप्न देखे थे। उनमें चौथा स्वप्न था—सुरभित कुसुमों की दो सुन्दर मालायें।

---

१ धन्य-शालिभद्र की विस्तृत जीवन-गाथा के लिए—"त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग १०"—देखना चाहिए।

उसका फलितार्थ था—महावीर द्वारा दो धर्मों—आगारधर्म एवं अनगारधर्म का प्ररूपण किया जायेगा।

धर्मतीर्थ-प्रवर्तन के समय भगवान् महावीर ने धर्म के इन्हीं दो रूपों का प्रतिपादन किया। जो साधक संसार से सर्वथा विरक्त होकर पूर्ण संयम के पथ पर बढ़े, वे अनगार (भिक्षु—श्रमण) धर्म के आराधक बने और जो गृहस्थदशा में रहकर धर्म की यथाशक्य आराधना-उपासना करना चाहते थे, वे आगार-धर्म के अनुसर्त्ता (श्रावक-उपासक) कहलाये। श्रमणों के लिये पंच महाव्रतरूप अनगार धर्म की प्ररूपणा की और श्रमणोपासकों के लिए पांच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत रूप—बारह व्रतों का विधान किया।

भगवान् महावीर ने श्रावकधर्म की व्यवस्थित एवं विस्तृत व्याख्या सर्वप्रथम गाथापति आनन्द के समक्ष प्रस्तुत की। उनके तीर्थंकर काल की इस अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण घटना का तथा उनके जीवन में समय-समय पर आये प्रमुख गृहस्थ उपासकों के सम्पर्कों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. गाथापति आनन्द

भगवान् महावीर विदेहभूमि में विहार करते हुए वाणिज्यग्राम पधारे।[1] वहां पर आनन्द नाम का एक समृद्ध और प्रतिष्ठित गृहपति रहता था। उसके पास अपार सम्पत्ति, खेती योग्य विशाल भूमि एवं अगणित पशुधन था। हजारों कर्मकार व दास-दासियां उसके आश्रित थे। उस प्रदेश के कृषकों व व्यापारियों में उसका बड़ा वर्चस्व था। राज-कारण तथा समाज के प्रत्येक कार्य में लोग उसका परामर्श लेते, सहयोग लेते तथा जैसा वह कहता - उसी प्रकार करते। एक प्रकार से आनन्द वाणिज्य-ग्रामवासियों के लिये आँख के समान पथ-प्रदर्शक, खलिहान में रोपी गई खीली (मेढ़ी) के समान आधार-स्तम्भ था। आनन्द की धर्मपत्नी का नाम शिवा-नन्दा था—वह अत्यन्त रूपवती और पति-भक्तिपरायणा थी। अपने नाम के अनु-सार सम्पूर्ण परिवार का शिव और आनन्द करने वाली थी।

भगवान् महावीर के आगमन की सूचना पाकर आनन्द को अति प्रसन्नता हुई। उनके दर्शन करने और धर्म-उपदेश सुनने की उत्सुकता जगी। शुद्ध वस्त्र आदि पहन-कर अपने मित्रों व सेवकों आदि के साथ पैदल चलकर वह भगवान् से समवसरण में पहुंचा। भगवान् की विनयपूर्वक वंदना की, प्रदक्षिणा करके धर्मसभा में बैठ गया

1 पटना वर्ष वि. पु. ४६८

और धर्म-देशना सुनने लगा। भगवान् महावीर का उपदेश सुनकर आनन्द के हृदय में समता एवं वैराग्य की अद्भुत हिलोर उठी। ऐसा अनुभव हुआ कि वास्तव में ही इस उपदेश का अनुसरण करने से जीवन में चिर शांति और आत्मिक आनन्द की प्राप्ति होगी। अतः प्रवचन के पश्चात् अन्तःप्रेरणा से प्रेरित होकर आनन्द भगवान् महावीर के निकट आया और प्रसन्नता के साथ बोला—"भंते ! मैं आपके उपदेश (निर्ग्रन्थ-प्रवचन) में विश्वास करता हूं और इसे सत्य समझता हूं। आपने आत्म-साधना के जो दो मार्ग बताये हैं—(श्रमणधर्म एवं श्रावकधर्म), उन पर मेरी श्रद्धा हुई है। यद्यपि मैं अपने में इतनी पात्रता और क्षमता नहीं पा रहा हूं कि सब कुछ त्यागकर श्रमण बन जाऊँ, किन्तु मैं जीवन में भोगों की मर्यादा अवश्य करना चाहता हूं। त्यागमार्ग पर संपूर्ण रूप से नहीं, तो यथाशक्य रूप से ही उस पर चलना चाहता हूं। जीवन में भोगों का, कामनाओं का अथाह समुद्र फैला पड़ा है, जब तक इस पर त्याग का, समता का सेतु नहीं बांधा जाता, इस समुद्र को तैर पाना कठिन है। आपने इस समुद्र को तैरने का मार्ग बताया है—यह आपके तीर्थंकरत्व का यथार्थ रूप है। अतः मैं हृदय से आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हुआ आगार-धर्म को स्वीकार करना चाहता हूं।"

भगवान् महावीर ने कहा—"आनन्द ! आत्म-साधना का मार्ग इच्छा-योग का मार्ग है। स्वतः प्रेरित साधना ही सच्ची साधना है. उसी में आनन्द है। तुम्हें जिस प्रकार सुख हो, करो।"

आनन्द ने भगवान् महावीर के समक्ष स्थूलहिंसा का मर्यादापूर्वक त्याग किया, असत्य, चोरी, और अब्रह्मचर्य का भी मर्यादापूर्वक त्याग किया। परिग्रह के त्याग में उसने 'इच्छा-परिमाण' रूप परिग्रह के विविध रूपों का प्रत्याख्यान किया। जैसे—चार कोटि हिरण्य निधिरूप (भूमिगत एक प्रकार का निधान), चार कोटि हिरण्य ब्याज में तथा चार कोटि हिरण्य व्यापार में लगा हुआ है—यों बारह कोटि हिरण्य के उपरांत हिरण्य का त्याग। पशुधन की मर्यादा में गायों के चार व्रज के अतिरिक्त (प्रत्येक व्रज दस हजार गायों का, अतः कुल ४० हजार गाय) रखने का त्याग। पांचसौ हल[1] से अधिक खेती योग्य भूमि रखने की मर्यादा। एक हजार शकट (पांचसौ शकट खेतों से माल ढोने योग्य और पांचसौ यात्रा एवं व्यापारार्थ बाहर जाने योग्य) से अधिक रखने की मर्यादा। तथा चार वाहन सामान ढोने योग्य

१ 'हल' उस समय का पारिभाषिक शब्द है। ४०,००० वर्ग हस्त भूमि का एक निवर्तन होता है। तथा १०० निवर्तन का एक 'हल'। डा० जगदीशचन्द्र जैन (लाइफ-इन-एशेंट, इंडिया, पृ० ९०) के अनुसार एक हल लगभग एक एकड़ के बराबर होता है।

भार वाहक एवं चार वाहन यात्रा करने योग्य—इस प्रकार आठ वाहनों से अधिक रखने की मर्यादा। इसी प्रकार भोगोपभोगों की छोटी-बड़ी समस्त सामग्रियों की मर्यादा करके, उसके उपरान्त रखने और उपयोग करने का त्याग किया।

आनन्द ने यह समस्त मर्यादा भगवान् महावीर के समक्ष प्रकट की और उसके उपरान्त वस्तु-सामग्री-सेवन का त्यागकर पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये। आनन्द ने सम्यक्दर्शन और सम्यगचारित्र से सम्बन्धित त्रुटियों एवं स्खलनाओं का भी परिज्ञान किया। भगवान् को वन्दना-नमस्कार करके वह अपने भवन पर आया। घर आकर आनन्द ने अपनी धर्मपत्नी शिवानंदा से आज के देव-दुर्लभ प्रसंग की चर्चा करते हुए कहा—"देवानुप्रिये ! मैंने श्रमण भगवान् महावीर से धर्म का उपदेश सुना है, वह मुझे बहुत ही प्रिय तथा जीवन में शांति प्राप्त करने के लिए अत्यंत इष्ट लगा, मैंने उस धर्म को स्वीकार कर लिया है, यदि तुम भी चाहो तो भगवान् महावीर के दर्शन करो तथा उनके मुख से धर्म उपदेश सुनकर द्वादशव्रत रूप श्रावकधर्म ग्रहण कर सकती हो।"

शिवानंदा के मन में भी धर्म-जिज्ञासा जगी, वह भी भगवान् महावीर की धर्मसभा में गई और तत्त्व-बोध को सुनकर श्रावकधर्म को ग्रहण किया।

इस प्रकार आनन्द गाथापति ने भोगों की असीम आकांक्षा को त्यागकर संयम एवं साधना का मध्यम मार्ग अपनाया। अपार समृद्धि होते हुए भी उसका मन-चाहा भोग नही कर, समता के द्वारा उस समृद्धि की मादकता को शांत किया। विशाल संपत्ति और असीम भोग-सामग्री की मर्यादा करके, मर्यादा से उपरान्त समस्त साधन-सामग्रियों का समाज एवं राष्ट्र के हित में परित्याग करके संग्रह में समर्पण का आदर्श प्रस्तुत किया।

आनन्द का जीवन—भगवान् महावीर की जीवन-दृष्टि का एक जीता जागता उदाहरण है। असीम साधन-सामग्री होते हुए भी उसने न तो कर्मयोग का त्याग कर निठल्ला एवं अकर्मण्य जीवन स्वीकार किया तथा न अनियमित आकांक्षाओं के पीछे ही दौड़ता रहा। कृषि एवं व्यापार करते हुए भी मर्यादा से अधिक लाभ नहीं कमाना तथा शक्ति, धन एवं अनुभव का समाज तथा राष्ट्र के हित में उपयोग करते रहना—एक श्रावक का महान आदर्श था, जो आनन्द ने प्रस्तुत किया।

समाज में सम्मान एवं श्रेष्ठता प्राप्त करके भी आनन्द अपने जीवन को त्याग एवं साधना की ओर मोड़ कर ले गया। सामायिक, पौषध, उपवास, स्वाध्याय, ध्यान आदि का नियमित कार्यक्रम चलाते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। श्रावक-

जीवन का पन्द्रहवां वर्ष चल रहा था। एक दिन रात्रि के अंतिम प्रहर में, शांत एवं नीरव वातावरण में आत्म-चिन्तन करते हुए आनन्द के मन में एक शुभ संकल्प जगा—"मैं अब तक नगर के सभी राजकीय एवं सामाजिक कार्यों में अग्रणी रहा हूं. उन प्रवृत्तियों में प्रमुख रूप से भाग लेता रहा हूं, इस कारण मेरा जीवन बाह्योन्मुखी अधिक रहा है, मैं चाहते हुए भी अन्तर्मुखी एवं निवृत्त जीवन-यापन नहीं कर पाता, भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म-प्रज्ञप्ति (निवृत्त-साधना) स्वीकार करने में भी असमर्थ रहा। अब वृद्ध हो गया हूं, इसलिए मुझे प्रवृत्तियों के भार को कम करके निवृत्ति एवं शांति-परायण जीवन जीना चाहिये। परिवार, व्यापार, समाज एवं राष्ट्र के सब उत्तरदायित्व अपने ज्येष्ठ पुत्र को संभलाकर मुझे एकांत जीवन बिताना चाहिए।"

अपने संकल्प के अनुसार प्रातःकाल होने पर आनन्द ने समस्त जाति-बन्धुओं को, मित्रों को और नगर के प्रमुख व्यक्तियों को भोजन के लिए निमंत्रित किया। भोजन आदि द्वारा सत्कार-सम्मान देकर उनकी सभा में रात्रि में किये हुए अपने मानसिक संकल्प को प्रकट किया।

आनन्द के निवृत्ति-प्रधान संकल्प की सभी स्वजनों ने सराहना की। उसने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का सब भार सौंपा। पुत्र की अनुमति लेकर कोल्लाग सन्निवेश में स्थित ज्ञातकुल की पौषधशाला में चला गया।

पौषधशाला के एकांत-शांत वातावरण में आनन्द का अन्तर्हृदय प्रफुल्लित हो गया। उसने अपने आवश्यक दैहिक कार्यों के निमित्त उच्चार-प्रश्रवण की भूमि आदि देख ली, दर्भ (घास) का एक बिस्तर (संथारा) बिछा लिया और सादा श्रमण-जैसा परिधान पहनकर श्रमण की भांति ही जीवन-चर्या बिताने लगा। क्रमशः आनन्द ने भगवान् महावीर द्वारा कथित श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार कीं। ध्यान-स्वाध्याय-चिन्तन-तपश्चरण आदि पूर्ण विधि के अनुसार श्रावक प्रतिमाओं की सफल आराधना की। इस दीर्घकालीन तपश्चर्या से उसका शरीर सूख गया, शक्ति और बल क्षीण हो गया तथा देह अस्थि-पंजर मात्र रह गया। फिर भी उसकी धर्म-चेतना जागृत थी, आत्म-बल प्रदीप्त था। एक दिन धर्म-जागरण करते हुए आनन्द ने सोचा—"अब मेरा शरीर अस्थि-पंजर मात्र रह गया है। रक्त-मांस सूख गये हैं, फिर भी अभी तक मुझ में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम, श्रद्धा, धृति और संवेग हैं।[1] अतः अब मुझे प्रातःकाल होने पर जीवन-पर्यन्त के लिए भक्तपान-

१ ये सब आत्म-बल के लक्षण हैं, अर्थात् शरीर-बल क्षीण हो चुका है, किन्तु आत्म-बल जीवित है।

आहार-पानी का त्याग करके, संल्लेखना संथारा-पूर्वक मृत्यु की कामना नहीं करते हुए धर्म-जागृति के साथ विचरना श्रेयस्कर होगा।"

धर्म-जागृति के इन पवित्र तथा उत्तम संकल्पों से आनन्द की भावना अत्यंत विशुद्ध हो रही थी, उसकी लेश्याएँ निर्मल तथा अध्यवसाय शुभ थे इस प्रकार अति विशुद्ध भाव-धारा में बहते हुए उसे अवधि-ज्ञान नाम का विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हुआ। उस अवधि-ज्ञान के प्रभाव से वह छहों दिशाओं में दूर-दूर तक के पदार्थ देखने-जानने लगा।

उसी समय[1] भगवान् महावीर वाणिज्यग्राम में पधारे। भगवान् के प्रथम शिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम भिक्षार्थ नगर में गए और वहाँ पर लोगो से आनन्द गाथापति के संथारा की चर्चा सुनी। इन्द्रभूति आनन्द से मिलने ज्ञातृकुल की पौषध-शाला की ओर चल पड़े। आनन्द वहाँ अपनी साधना में लीन था। इन्द्रभूति गौतम को आते देखकर वह प्रसन्न हुआ और वंदना करके बोला - "भगवन् ! क्या गृहस्थ को अवधि-ज्ञान हो सकता है?"

गणधर गौतम—"हाँ, हो सकता है।"

आनन्द—"भगवन् ! मुझे अवधि-ज्ञान हुआ है, जिसके द्वारा मैं पूर्व, पश्चिम एवं दक्षिण दिशा में लवण समुद्र के भीतर पाँचसो योजन तक, उत्तरदिशा में चुल्ल हिमवंत पर्वत तक, ऊर्ध्व-लोक में सौधर्मकल्प तक, तथा अधोदिशा में लोलुपच्चुय नामक नरकावास (रत्नप्रभा का) तक देख रहा हूं।"

आनन्द की बात सुनकर गौतम ने कहा—"आनन्द ! श्रमणोपासक (गृहस्थ) को अवधि-ज्ञान होता तो अवश्य है, पर इतना दूरग्राही नहीं होता जितना कि तुम बतला रहे हो ! तुम्हारा यह कथन भ्रांत प्रतीत होता है, अतः तुम्हें अपने मिथ्याकथन का आलोचना-पूर्वक प्रायश्चित्त करना चाहिए।"

आनन्द ने विनय किन्तु दृढ़ता के साथ उत्तर दिया– "भगवन् ! क्या निर्ग्रन्थ-शासन में सत्य कथन करने पर भी प्रायश्चित्त करना चाहिए।"

गौतम ने चौंककर कहा—"नहीं ! ऐसा तो नहीं है, पर इसका क्या मतलब ......?"

आनन्द—"भगवन् ! मैंने जो कुछ कहा है, वह यथार्थ है, सत्य है, आप उसे मिथ्या कथन बता रहे हैं तो यह प्रायश्चित्त मुझे नहीं, आपको करना चाहिए।"

---

१ त्रि. पु. ४७७।

दृढ़ता-पूर्वक कही गई आनन्द की बात से गौतम का मन संशयग्रस्त हो गया, वे सीधे दूति-पलास चैत्य में आए, भगवान् महावीर के निकट जाकर आनन्द के साथ हुए वार्तालाप की चर्चा की।

भगवान् ने कहा—"गौतम ! श्रमणोपासक आनन्द का कथन सत्य है। तुमने उसके सत्य को असत्य कहा है--यह सत्य की बहुत बड़ी अवहेलना है। तुम शीघ्र आनन्द के पास वापस जाओ ! उससे क्षमा माँगो और अपने भ्रांत-कथन के लिए प्रायश्चित्त करो।"

सत्य के परम जिज्ञासु इन्द्रभूति उलटे पाँवों आनन्द के निकट आये। आनन्द ! मैंने तुम्हारे सत्य ज्ञान की अवहेलना की, मैं तुम्हें खमाता हूं। तुम्हारा कथन सत्य है, मेरी ही धारणा भ्रांत थी।"

एक श्रमणोपासक के समक्ष भगवान् महावीर के ज्येष्ठ एवं श्रमणसंघ के श्रेष्ठतम श्रमण द्वारा यों सरलता पूर्वक क्षमा-याचना किये जाने पर आनन्द गाथापति का हृदय गद्गद हो गया। निर्ग्रन्थ प्रवचन में सत्य की कितनी उत्कट निष्ठा है— यह जानकर वह उल्लास व प्रमोद से पुलकित हो उठा।

बीस वर्ष तक गृहस्थधर्म की शुद्ध आराधना करके अन्त में मारणांतिक संलेषणा के साथ मनःसमाधि-पूर्वक आनन्द ने देह त्याग किया।[१]

गाथापति आनन्द का जीवन भोग में योग और समृद्धि में समता का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। इसीप्रकार भगवान् महावीर के निकट में समय-समय पर अन्य अनेक गृहस्थ साधक आये, जिन्होंने जीवन को त्याग-पथ पर अग्रसर किया, स्व-पुरुषार्थ से अर्जित अपार समृद्धि में संतोष और वैराग्य धारण कर सच्ची समाधि और आत्मानन्द का अनुभव किया। उनका संक्षिप्त परिचय भी इसी प्रकरण में प्रस्तुत है—

२. परम निष्ठावान गाथापति कामदेव

भगवान् महावीर एक बार चम्पा नगरी में पधारे। वहाँ कामदेव नाम का धनाढ्य गृहस्थ रहता था। उसके पास छह कोटि हिरण्य निधान में, छह कोटि ब्याज में और छह कोटि व्यापार में— यों अठारह हिरण्यकोटि धन था। दस-दस हजार गायों के छह गोकुल (व्रज) थे। भगवान् महावीर का धर्म-प्रवचन सुनकर कामदेव

१ आनंद के व्रत ग्रहण आदि का विस्तृत वर्णन देखिए—उपासक दशा, अध्ययन १।

ने अपनी अपार संपत्ति की मर्यादा की और आनन्द की तरह गृहस्थधर्म स्वीकार किया।[1]

कामदेव परम निष्ठावान श्रावक था। अपार समृद्धि के बीच भी वह बड़ा त्याग एवं तपःप्रधान जीवन जीता था। आनन्द की भांति ही जीवन के अंतिम समय में वह घर-व्यापार आदि से निवृत्त होकर पौषधशाला में भगवान् महावीर द्वारा कथित धर्म-प्रज्ञप्ति के अनुसार जीवन बिताने लगा।

एक बार कामदेव पौषध करके धर्म-जागरण कर रहा था। मध्यरात्रि में घोर अंधकार के समय एक मायावी देव भयानक पिशाच रूप धारण कर हाथ में नंगी तलवार लिए उसके समक्ष आया और बोला—"कामदेव! तू मोक्ष की मृग-तृष्णा में अपने जीवन को बर्बाद कर रहा है। तू मूर्ख है। मेरे कहने से तू इस धर्म के पाखंड को छोड़ दे और आराम से भोग-उपभोग का आनन्द लूट! यदि मेरी बात स्वीकार नहीं करेगा तो मैं इसी तलवार से तेरे टुकड़े-टुकड़े कर डालूंगा।"

कामदेव अपने ध्यान में स्थिर रहा। दैत्य ने क्रोधावेश में उस पर तलवार से क्रूर प्रहार किये। फिर भी कामदेव स्थिरता और प्रसन्नता के साथ धर्म-चिंतन में लीन रहा। दैत्य ने हाथी का रूप धारण कर भयानक कष्ट दिये। सर्प बनकर जगह-जगह डंक मारे इन भयंकर वेदनाओं में भी कामदेव विचलित नहीं हुआ। उसकी अपूर्व तितिक्षा व धर्मनिष्ठा के समक्ष दैत्य परास्त हो गया। उसने दिव्य रूप धारण कर अपने दुष्कृत्य की क्षमा मांगी और उसकी अपूर्व धर्मनिष्ठा की प्रशंसा करता हुआ नमस्कार करके चला गया।

प्रातःकाल भगवान् महावीर चम्पा नगरी में पधारे।[2] कामदेव भगवान के दर्शन करने गया। धर्म-देशना के बाद भगवान् महावीर ने कामदेव की ओर संकेत करके अपने श्रमण-श्रमणियों को सम्बोधित करते हुए कहा—"श्रमणोपासक कामदेव गृहस्थ-जीवन में रहते हुए भी अपनी धर्म-साधना में इतना निष्ठावान, तितिक्षाशील और अविचल है कि रात्रि में पिशाच द्वारा प्राणांतक पीड़ाएँ दिये जाने पर भी वह चंचल व क्षुब्ध नहीं हुआ। श्रमणो! साधना का आनन्द समभाव में है। श्रमणो-पासक कामदेव ने जो समभाव का उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह सबके लिए अनु-करणीय है।"

१ 'महावीर कथा' (गोपालदास पटेल) पृ० ३०७ के अनुसार—कामदेव ने महचन्द्र के साथ ही सोलहवें वर्षावास के बाद (वि० पू० ४९५) चंपा में गृहस्थधर्म स्वीकार किया।

२ राजगृह में तीसवां वर्षावास करने के बाद वि. पू. ४८३

श्रमण-श्रमणियों ने आश्चर्य-पूर्वक कामदेव की ओर देखा, कामदेव भगवान् के चरणों में श्रद्धावनत था। जीवन के अन्तिम समय में कामदेव ने समता व शांति के साथ साठ दिन का अनशन कर देहत्याग दिया।[1]

३. श्रमणोपासक चुल्लनीपिता और सुरादेव

भगवान् महावीर की धर्म-यात्रा के प्रसंगों में वैसे तो अनेक गृहस्थों ने श्रावक-धर्म स्वीकार कर जीवन को कृतार्थ किया, पर जिन कुछ महत्त्वपूर्ण श्रावकों का उल्लेख आगमों में मिलता है, उनमें से आनन्द और कामदेव का प्रसंग पीछे आ चुका है। अन्य श्रावकों का प्रसंग यहां संक्षेप में दिया जा रहा है :—

वाणिज्यग्राम में[2] चातुर्मास व्यतीत करके भगवान् महावीर वाराणसी के कोष्ठक चैत्य में पधारे। चुल्लनीपिता एवं सुरादेव नाम के दो धनाढ्य गृहस्थों ने भगवान् महावीर का उपदेश सुनकर श्रावकधर्म स्वीकार किया। ये दोनों गृहस्थ वाराणसी के प्रमुख और प्रसिद्ध व्यक्ति थे। चुल्लनीपिता ने अपनी सम्पत्ति की मर्यादा की, उसमें आठ कोटि हिरण्य निधान में, आठ कोटि ब्याज में एवं आठ कोटि व्यापार में—यों कुल चौबीस कोटि हिरण्य के उपरांत सम्पत्ति रखने की तथा आठ गोकुल (प्रत्येक गोकुल में १० हजार गायें) से अधिक पशुधन रखने की मर्यादा की। सुरादेव ने छः-छः कोटि हिरण्य एवं छह गोकुल से अधिक रखने का प्रत्याख्यान किया।

उक्त दोनों श्रमणोपासक यद्यपि आनन्द और कामदेव की भांति ही अडिग श्रद्धा तथा समता के साथ अपने व्रतों एवं श्रावक-धर्म-प्रज्ञप्ति का आचरण कर रहे थे, किन्तु उनके मन में किसी एक-एक वस्तु के प्रति आसक्ति (ममत्व) का बन्धन कुछ गहरा था।

समत्व-परीक्षा

एक बार चुल्लनीपिता पौषध करके धर्म-जागरणा कर रहा था कि मध्य रात्रि में एक विकराल पुरुष हाथ में तलवार लिए हुए उसके सामने आया और धमकी देते हुए बोला—"तू जिस धर्म की आराधना में लगा है, वह निरा पाखण्ड है, मेरे कहने से तू इस धर्म को और अपने व्रतों को भंग करना स्वीकार कर ले, अन्यथा मैं तेरे समक्ष अभी तेरे पुत्रों की घात करके उन्हें खौलते हुए तेल में डाल दूंगा और उनके रक्त-मांस के छींटों से तेरे शरीर को सींचूंगा।"

१ उपासकदशा २।
२ दीक्षा-काल का अठारहवां चातुर्मास वि. पू. ४९४।

चुल्लनीपिता नहीं डरा, वह स्थिर रहा। उस क्रूर दैत्य ने सचमुच ही उसके बड़े पुत्र को लाकर उसी के समक्ष तीन टुकड़े किये और उसके खून के छींटे चुल्लनीपिता के शरीर पर डाले। वह शान्त रहा। दूसरे और तीसरे पुत्र को भी उसने वैसे ही उसके सामने टुकड़े-टुकड़े कर तेल के कड़ाहे में डाल दिये। चुल्लनीपिता फिर भी पुत्र-मोह से व्याकुल नहीं हुआ, वह पारिवारिक सम्बन्धों की अनित्यता का विचार करता हुआ समभाव में स्थिर रहा। उस क्रूर दैत्य ने आखिर एक भयंकर अट्टहास के साथ कहा—"यदि तू अब भी मेरा कथन नहीं मानता है और पुत्रों के मर जाने पर भी अपना ढोंग नहीं छोड़ता है तो इस बार मैं तेरी माता को भी इसीप्रकार लाकर टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा।"

चुल्लनीपिता के हृदय में माता की ममता जाग उठी।—"यह दुष्ट सचमुच ही ऐसा अनर्थ न कर डाले"—इस आशंका से भ्रांत होकर वह चिल्लाता हुआ उसे पकड़ने दौड़ा। दुष्ट दैत्य छूमन्तर हो गया, चुल्लनीपिता अंधकार में एक खम्भे से टकरा कर गिर पड़ा। माँ के मोह में वह जोर-जोर से रोने लगा।

माता भद्रा ने पुत्र का रुदन सुना, वह दौड़कर आयी। पूछा—"पुत्र ! क्या हुआ ?" चुल्लनीपिता ने सब घटना सुनायी। माँ ने कहा—"पुत्र ! तुम्हारे पुत्र सकुशल हैं, मैं भी कुशलतापूर्वक हूं, किसी दुष्ट देव ने तुम्हें अपनी साधना से विचलित करने का यह प्रयत्न किया है. तुम चलित चित्त हो गये, इसका अर्थ है—मेरे प्रति तुम्हारे मन में अभी भी मोह के संस्कार दृढ़ हैं। तुम अपनी कषाय-संक्लिष्ट चित्त-वृत्तियों की आलोचना करो, और मोह के संस्कारों को निर्मूल बनाओ। निर्मोह ही व्रत आराधना का सार है।"

चुल्लनीपिता ने माता की शिक्षा के अनुसार प्रायश्चित किया और ममता की केन्द्र 'माँ' के प्रति भी निर्मोहभाव का अभ्यास कर अन्त में समाधि-मरण प्राप्त किया।[1]

४. देहासक्ति का निवारण—सुरादेव

चुल्लनीपिता के अन्तर्मन में जिसप्रकार पुत्रों से अधिक माता के प्रति मोह था, उसीप्रकार श्रमणोपासक सुरादेव के मन में अपने शरीर के प्रति ममत्व का सूक्ष्म बन्धन था। जब तक वह बन्धन नहीं टूटे, साधना निःशल्य कैसे बने ? जैसे

१ उपासक दशा, अध्ययन ३

इस ममत्व केन्द्र को तोड़ने के लिए ही उसके समक्ष यह विकट प्रसंग उपस्थित हुआ हो।

धर्म-जागरण करते हुए एक रात्रि में सुरादेव के समक्ष एक दुष्ट देव आया और बड़ी ही क्रूरता के साथ उसे व्रत-नियम छोड़ने की धमकी देने लगा। सुरादेव नहीं डिगा तो दुष्ट देव ने क्रमशः उसके तीन पुत्रों की घात उसी के समक्ष की और उनके रक्त के छींटे उसके शरीर पर डाले! इस भयानक और बीभत्स दृश्य को देखकर भी सुरादेव शांत एवं धर्म-चिन्तना में लीन रहा। अन्त में देव ने कहा—"यदि तू व्रत नहीं छोड़ता है तो मैं तेरे शरीर में सोलह महारोग उत्पन्न कर दूँगा, तू तड़प-तड़प कर मरेगा।"

देव की धमकी से सुरादेव की शारीरिक आसक्ति जग पड़ी। वह व्याकुल हो उठा और दुष्ट देव को पकड़ने के लिए दौड़ा। देव गायब हो गया, वह खम्भे से जा टकराया। उसकी चिल्लाहट सुनकर पत्नी आई। उसने बताया—"सब पुत्र कुशलता-पूर्वक सोये है, किसी प्रवंचक देव ने तुम्हें धर्म-भ्रष्ट करने के लिए यह भयावना दृश्य खड़ा किया है।"

सुरादेव अपनी देहासक्ति के प्रति जागरूक हो गया, और देह की अनित्यता एवं अशुचिता का ध्यान कर देहासक्ति की वासना से मुक्त हुआ। चुल्लनीपिता की भांति उसने भी अन्तिम समय में अनशन कर समाधि-पूर्वक मृत्यु प्राप्त की।[1]

५. धनासक्ति का त्याग—चुल्लशतक

भगवान् महावीर के दस प्रमुख श्रावकों में पाँचवाँ नाम चुल्लशतक का है। उसके पास भी छह-छह हिरण्यकोटि की सम्पत्ति (कुल १८ कोटि) थी और गायों के छह गोकुल थे। भगवान् महावीर जब आलभिका नगरी के शंखवन में पधारे[2] तो चुल्लशतक ने धर्मोपदेश सुनकर सपत्नीक श्रावक-धर्म स्वीकार किया और आनन्द आदि श्रमणोपासकों की भाँति निर्दोष एवं निर्भय होकर धर्म-साधना करता रहा।

एक बार धर्म-साधना में बैठे हुये रात्रि के समय किसी दुष्ट देव ने उसे व्रत भंग करने को विवश किया। वह अडिग रहा। देव उसी के समक्ष उसके पुत्र की घात कर कड़ाहे में उबालने लगा। यह भयानक दृश्य देखकर भी चुल्लशतक कम्पित

१ उपासक दशा, अध्ययन ४।

२ अठारहवें वर्षावास के बाद (वि. पू. ४९१)।

नहीं हुआ। आखिर देव ने कहा—"मैं तुम्हारे समस्त धन-वैभव को, स्वर्ण-भण्डार को नगर के राजपथ पर, गलियों और चौराहों पर फेंक दूँगा, तुम्हारे सब खजाने खाली कर डालूँगा।"

चुल्लशतक मौन रहा। दो बार तीन बार यही बात सुनने पर वह विचलित हो गया—"यह दुष्ट कहीं सचमुच मेरा धन कुछ चौराहों पर फेंक न दे।" धन के प्रति रही हुई गुप्त वासना प्रसंग पाकर प्रकट हो गई। वह देव को पकड़ने उठा। देव आकाश में उछाल लगा गया। चुल्लशतक का चिल्लाना सुनकर उसकी पत्नी बहुला आई। पूछा—"क्या हुआ?" चुल्लशतक ने उस भयावने दृश्य की बात कही। बहुला ने कहा—"आपको भ्रम हुआ है। घर में सब कुशल हैं।"

चुल्लशतक को अपनी मनो भ्रांति पर पश्चाताप हुआ। उसने सोचा—"धन की ममता ने मुझे चंचल बना दिया, अतः इस ममत्व के सूक्ष्मशल्य को निकालना चाहिये।" उसने मन को निर्मम की साधना में लगाया। अन्त में समाधि और समता के साथ उसने देह-त्याग किया।[1]

६. तत्वज्ञ श्रद्धालु—कुंडकोलिक

श्रमणोपासक कुंडकोलिक का त्याग एवं धर्म-साधना तो विशिष्ट थी ही, किन्तु इनसे भी विशिष्ट थी—तत्वज्ञान-जनित अडिग धर्मश्रद्धा। उसकी तत्व-रुचि और प्रतिवादियों को निरुत्तर करने की तर्क-कुशलता को देखकर स्वयं भगवान महावीर ने भी मुक्तमन से प्रशंसा की थी।

कुंडकोलिक कांपिल्यपुर का प्रमुख धनपति था। इसके पास छह-छह कोटि हिरण्य एवं गायों के छह व्रज थे। भगवान महावीर जब उस नगर में पधारे[2] तो कुंडकोलिक ने उनका उपदेश सुना और तत्त्व-बोध ग्रहण कर श्रावक धर्म स्वीकार किया।

एक बार मध्याह्न के समय वह अपनी अशोकवाटिका में बैठा धर्म-चिन्तन कर रहा था कि एक दिव्य आकृतिधारी पुरुष उसके सामने आया और बोला—"कुंडकोलिक! श्रमण महावीर द्वारा बताया गया धर्म (धर्म-प्रज्ञप्ति) उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उसमें उत्थान (उद्यम) और पराक्रम पर बल दिया गया है, जब कि सब कुछ तो नियति के आधार पर ही चलता है। मंखलिपुत्र गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति

---

१ उपासक दशा, अध्ययन दशा ५।

२ इक्कीसवां वर्षावास (वि. पू. ४९१ वर्ष)।

युक्ति-युक्त है, जिसमें उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम आदि कुछ नहीं है, जो कुछ है—वह नियति ही है, अतः तुम श्रमण महावीर की धर्म प्रज्ञप्ति का परित्याग कर गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति स्वीकार करो।"

कुंडकोलिक ने उत्तर दिया—"देवानुप्रिय ! तुम्हारे कथन के अनुसार मंखलि पुत्र गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति ठीक है तो फिर तुम्हें जो दिव्य देव-ऋद्धि, दिव्य बल आदि प्राप्त हुए हैं—क्या वे बिना कुछ पुरुषार्थ किये ही मिले होंगे ?"

"हाँ, बिना कुछ पुरुषार्थ किये ही मिले हैं"—देवता ने कहा।

"तो फिर जिन प्राणियों ने पुरुषार्थ आदि नहीं किया है, उन्हें भी यह देव-ऋद्धि प्राप्त होनी चाहिए थी। आपके कथन के अनुसार तो जितने भी पुरुषार्थहीन प्राणी हैं, वे सब देव बनने ही चाहिए थे—ऐसा क्यों नहीं हुआ ?" कुंडकोलिक ने प्रति तर्क के साथ कहा।

कुंडकोलिक की निर्भ्रांत धर्म-श्रद्धा और प्रत्युत्तर-कुशलता के समक्ष देव निरुत्तर हो गया। उसने देखा—यह जितना दृढ़ श्रद्धालु है, उतना ही गहरा तत्त्वज्ञानी भी है। देव चला गया।

भगवान् महावीर ने अपने श्रमण-समुदाय के समक्ष इस घटना की चर्चा करते हुए कुंडकोलिक को एक आदर्श तार्किक और तत्त्वज्ञ श्रावक बताकर उसकी श्रद्धा की प्रशंसा की।

कुंडकोलिक का शेष जीवन भी अन्य श्रावकों की तरह धर्म-आराधना में बीता व अंत में समाधि-मरण प्राप्त किया।[1]

७. पुरुषार्थवाद का उपासक—सद्दालपुत्र

भगवान् महावीर का कर्म-सिद्धान्त वास्तव में पुरुषार्थवाद का ही एक रूप है। भगवान महावीर ने नियति की सत्ता अवश्य मानी है, पर उसमें जो जड़ता (निष्क्रियता) का दोष आ जाता है, उसे दूर करने के लिए पुरुषार्थ का सम्बल लेना भी आवश्यक है। इसीदृष्टि से भगवान् ने मुख्यतः पुरुषार्थ उत्थान, बल-वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम पर अत्यधिक बल दिया है।

आजीवक आचार्य गोशालक भगवान् महावीर के साधना-काल में उनके साथ

१ उपासक दशा, अध्ययन ६।

शिष्य बनकर रहा, तभी कुछ घटनाओं की प्रतिक्रिया उसके मन पर हुई और वह नियतिवाद का पक्का समर्थक बन गया। स्वतंत्र होकर फिर उसने अपने इस सिद्धांत का प्रचार भी खूब किया। उसके अनेक शिष्यों में से पोलासपुर का धनाढ्य गृहस्थ कुम्भकार सद्दालपुत्र प्रमुख था। उसके पास तीन कोटि हिरण्य की संपत्ति थी, तथा दस हजार गायों का एक गोकुल था। मिट्टी के बर्तन बनाने के व्यापार में उसकी दूर-दूर तक प्रसिद्धि थी तथा पांच सौ दुकानें चलती थीं। आजीवक परम्परा का वह प्रमुख और कट्टर समर्थक था। उसकी पत्नी अग्निमित्रा भी उसी धर्म की अनुगामिनी थी।

एक बार सद्दालपुत्र अपनी अशोकवाटिका में बैठा था कि आकाशवाणी सुनाई दी—"सद्दालपुत्र! कल प्रातः सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महाब्राह्मण इस नगर में पधारेंगे, तुम उनकी वंदना-स्तवना-भक्ति करके अशन-पान आदि से उन्हें निमंत्रित करना।"

देव वाणी सुनकर सद्दालपुत्र सोचने लगा—"ऐसे शुभ लक्षणों युक्त महा पुरुष तो मेरे धर्माचार्य मंखलिपुत्र गोशालक ही होने चाहिए।" किन्तु जब दूसरे दिन प्रातः वह उठा तो उसने सुना—नगर में श्रमण भगवान महावीर पधारे हैं।[1] देव वाणी से प्रेरित हुआ वह भगवान महावीर के दर्शनार्थ गया। भगवान महावीर ने पूछा—"सद्दालपुत्र! तुम किसी देव वाणी से प्रेरित होकर यहाँ आये हो?"

विनम्रता एवं श्रद्धा के साथ वह बोला—"भगवन्! हाँ, ऐसा ही है। मैंने आपके दिव्य प्रभाव का साक्षात् अनुभव किया है। आप मेरी भांडशाला में ठहरिए और शय्या-आसन आदि स्वीकार कीजिए।"

सद्दालपुत्र के आग्रह पर महावीर उसकी भांडशाला (विशाल दुकान) में ठहरे। मध्याह्न के समय सद्दालपुत्र बाहर खड़ा था, मिट्टी के कुछ बर्तन धूप में सूख रहे थे और कुछ सूखे हुए बर्तनों को छाया में रखवा रहा था। श्रमण भगवान् महावीर ने उसे सम्बोधित कर पूछा—"सद्दालपुत्र; ये बर्तन कैसे बने हैं?"

सद्दालपुत्र—"भंते! पहले मिट्टी होती है, उसे जल में भिगोकर राख, गोबर आदि मिलाकर उसका पिंड बनाया जाता है, फिर पिंड को चाक पर चढ़ाकर हांडी आदि विभिन्न आकार वाले बर्तन बनाये जाते हैं।

महावीर—'ये बर्तन पुरुषार्थ और पराक्रम के द्वारा बनते हैं अथवा उनके बिना ही?"

---

१ वि. पृ. ४९१।

सद्दालपुत्र कुछ अचकचाया, पर अपने सिद्धान्त को अखंडित रखते हुए उसने कहा—"ये सब बर्तन नियतिबल से ही बनते हैं। उत्थान आदि की क्या आवश्यकता है?"

महावीर—"तुम्हारे इन बर्तनों को कोई पुरुष चुरा ले, बिखेर दे, फोड़ डाले या फेंक दे, तो तुम उसे क्या करोगे?"

सद्दालपुत्र (कुछ जोश के साथ)—"मैं उस पुरुष को पकड़ लूंगा, पीटूंगा उसका वध भी कर डालूंगा।"

महावीर—"समझ लो! कोई अनार्य पुरुष तुम्हारी धर्मपत्नी अग्निमित्रा के साथ बलात्कार करने का प्रयत्न करे तो तब तुम क्या करोगे?"

सद्दालपुत्र—"मैं उस दुष्ट को पीटूंगा, उसके प्राण तक ले लूंगा!"

भगवान् महावीर ने तर्क को सीधा घुमाते हुए कहा—"सद्दालपुत्र! तुम्हारे सिद्धान्त (नियतिवाद) के अनुसार तो कोई भी पुरुष न बर्तन चुरा सकता है और न तुम उसे किसी प्रकार का दण्ड आदि दे सकते हो। चूंकि जो कुछ होता है वह तो सब नियति है, पुरुषार्थ और प्रयत्न को अवकाश ही कहाँ है?"

भगवान् महावीर के हृदय-स्पर्शी विवेचन से सद्दाल पुत्र की ज्ञान चेतना प्रबुद्ध हो गई, उसे प्रकाश-सा मिला और नियतिवाद की असारता एवं अव्यावहारिकता स्पष्ट प्रतीत होने लगी। उसने महावीर के दर्शन को समझा और अपनी पत्नी को भी समझाया। सत्य को समझने के बाद असत्य का आग्रह स्वतः समाप्त हो जाता है, सद्दालपुत्र महावीर के धर्म में दीक्षित हो गया। गाथापति आनन्द की भाँति श्रावक-धर्म के व्रतों को ग्रहण कर लिया और अपार संम्पत्ति एवं भोग तृष्णा की मर्यादा कर समतामय जीवन बिताने लगा।

सद्दालपुत्र के धर्म-परिवर्तन की बात सुनकर गोशालक दिग्मूढ़-सा हो गया, वह भावावेश में बोल पड़ा—"हाय! पोलासपुर का धर्म-स्तम्भ गिर गया।" उसने सद्दालपुत्र को पुनः अपने धर्म में खींचने के जी-तोड़ प्रयत्न किये, परन्तु सद्दाल पुत्र अविचल रहा। श्रावक बनने के पन्द्रहवें वर्ष की घटना है—एक रात्रि में वह ध्यानस्थ बैठा था, कि एक मायावी देव ने उसे ध्यान-साधना से चलित करने की माया रची। चुल्लशतक आदि की भाँति ही पहले उसे धर्म छोड़ने की धमकी दी, फिर पुत्रों को काट-काट कर कड़ाहे में डाला, इस पर भी वह चलित नहीं हुआ तो उसकी प्रिय पत्नी अग्निमित्रा को कड़ाहे में डालने का भय दिखाया। सद्दालपुत्र सहसा चौंक पड़ा, उस अनार्य पुरुष के पीछे दौड़ा, तो वह गायब हो गया। तब उसे

लगा—यह सब तो भ्रम था, छलना थी। उसने पत्नी के प्रति रहे हुए सूक्ष्म स्नेह को समझा और उससे मुक्त होकर जीवन की अंतिम साधना में सर्वथा समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण किया।[1]

८. अप्रिय सत्य का निषेध—महाशतक

महाशतक मगध का एक प्रसिद्ध धनकुबेर गृहस्थ था। उसके पास चौबीस कोटि हिरण्य एवं अस्सी हजार गायों के आठ गोकुल थे। राजगृह में उसका विशिष्ट स्थान था। उसके १३ पत्नियाँ थीं। सबसे बड़ी पत्नी थी—रेवती। उसके पिता ने दहेज में आठ कोटि हिरण्य एवं एक गोकुल दिया था।

भगवान् महावीर मगध भूमि में विहार करते हुए राजगृह में पधारे।[2] महाशतक ने भगवान् का उपदेश सुना, उसकी अन्तर आत्मा जगी, विषयों से विरक्ति हुई, परिणामस्वरूप महाशतक ने श्रावकधर्म स्वीकार कर तृष्णा एवं भोग-साधनों की मर्यादा की।

महाशतक की पत्नी रेवती अत्यंत भोग-पिपासु, मांस-लोलुप और ईर्ष्यालु थी। ईर्ष्या और तीव्र कामासक्ति के कारण ही उसने अपनी १२ सौतों को शस्त्र एवं विष-प्रयोग करके मार डाला था। महाशतक शांत एव सदाचारपूर्ण जीवन जीता था, रेवती उसे बार-बार अपनी काम-वासना के चंगुल में फँसाने की कुचेष्टा करती रहती। मद्य-मांस के उन्मुक्त सेवन से उसकी वासनाएँ प्रबल हो गई थीं। वह महाशतक से उनकी पूर्ति नहीं कर पाती—इस कारण वह कभी-कभी उस पर क्रोध और आक्रोश भी करने लगती।

महाशतक पत्नी के इस असंयत, वासनापूर्ण, क्रूर एवं दुष्ट चाल-चलन से बहुत क्षुब्ध रहता। इस क्षोभ से, अशांति से किनारा करने के लिए घर का सब भार पुत्र को संभलाकर स्वयं एकान्त में ब्रह्मचर्य, पौषध, उपवास आदि के साथ आत्म-चिन्तना करने लगा।

एक बार महाशतक पौषधशाला में बैठा ध्यान कर रहा था। रेवती ने उस दिन छक कर मद्य-पान किया था, नशे में उन्मत्त होकर वह ध्यानस्थ महाशतक के पास आई और मोह-उन्माद जनक हाव-भाव करके उसे अपनी ओर खींचने लगी। महाशतक प्रस्तर-प्रतिमा की भाँति अपनी साधना में स्थिर रहा। काम-प्रार्थना अस्वीकृत होने पर रेवती दाँत-पीसती हुई उसके ब्रह्मचर्य तथा व्रतों पर आक्षेप करने लगी। महाशतक शांत व मौन रहा।

१ उपासक दशा, अध्ययन ७।
२ बाईसवाँ वर्ष (वि. पू. ४६०)।

इस प्रकार महाशतक को घर में ही अग्नि-परीक्षा के अनेक प्रसंगों से गुजरना पड़ा, पर साधना में उसका तेज निखरता ही गया। कठोर मनो-निग्रह, ब्रह्मचर्य एवं समताचरण के कारण उसकी चित्त-वृत्तियां अत्यन्त विशुद्ध हो गई, फलस्वरूप उसे अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई।

एक बार पुनः रेवती उसी प्रकार मद्य के नशे में चूर होकर बड़ी निर्लज्जता के साथ महाशतक के समक्ष काम-याचना करने लगी। महाशतक को ध्यान में स्थिर व मौन देखकर उसे क्रोध आ गया और विह्वलता के साथ क्रूर एवं दुष्ट वचन बोलने लगी।

पत्नी के इस निर्लज्ज एवं दुष्ट व्यवहार से महाशतक के मन में क्षोभ उमड़ आया, क्रोध के हल्के से आवेग में उसने पत्नी को चेतावनी देते हुए कहा—"रेवती! मैं अपने ज्ञान-बल से यह देखकर तुझे कह रहा हूं कि तुम अल्प से जीवन को यों बर्बाद क्यों कर रही हो? आज के सातवें दिन तो तेरी मृत्यु है, तू अलस रोग से पीड़ित होकर अत्यन्त वेदना और दुर्ध्यान के साथ मृत्यु को प्राप्त होकर प्रथम नरक में उत्पन्न होगी……… इस बात की भी जरा चिंता कर!"

पति के मुंह से यह बात सुनते ही रेवती संत्रस्त हो गई, भय और उद्वेग से वह व्याकुल हो उठी—"हाय! पति ने क्रोध में आकर मुझे शाप दे दिया।" वह चली आई, लेकिन उसका हृदय उत्पीड़ित हो रहा था। सातवें दिन अत्यन्त शोक व पीड़ा के साथ उसने प्राण छोड़ दिये।

उन्हीं दिनों[1] भगवान् महावीर राजगृह में पधारे। रेवती के प्रति किये गये हृदय-वेधक कटु भाषण के सम्बन्ध में भगवान महावीर ने गणधर गौतम से कहा—"यहीं पर श्रमणोपासक महाशतक पौषधशाला में धर्मजागरणा कर रहा है। वह अपनी पत्नी के मोहजनक वचनों से सताये जाने पर क्रुद्ध हो गया और बड़े ही कर्कश वचनों के साथ उसने पत्नी की तर्जना की एवं उसके हृदय को चोट पहुंचाई है। समभाव की साधना करते हुए साधक को ऐसे कटु वचन नहीं बोलने चाहिए, भले ही वे सत्य हों। क्योंकि सत्य में हृदय की कोमलता और करुणाशीलता भी अनिवार्य है। अतः तुम जाकर उसे कहो, वह अपनी भूल का प्रायश्चित करे।"

भगवान महावीर का संदेश पाकर इन्द्रभूति महाशतक के पास गये और बोले—"देवानुप्रिय! तुमने अपनी पत्नी को जो दुर्वचन कहे, जिनसे उसके हृदय

१ दीक्षा का इकतीसवां वर्ष (वि. पू. ४७१)।

को वेदना हुई, वह अहिंसा-सत्य के उपासक के लिये उचित नहीं थी। भगवान के संकेतानुसार तुम्हें उसका प्रायश्चित कर अपने सत्य व्रत की शुद्धि करनी चाहिये।"

गौतम के द्वारा भगवान् का संदेश सुनकर महाशतक का हृदय गद्‌गद् हो गया—"भगवान ने इसीलिये तो सत्य के साथ अहिंसा (करुणा) का अनुबन्ध किया है। अप्रिय एवं कठोर सत्य भी साधक के लिए वर्ज्य है! धन्य है परम कारुणिक प्रभु को।" वन्दना के साथ महाशतक ने अपनी भूल का प्रायश्चित किया।

श्रावक महाशतक ने अन्त में संलेषना–संथारा करके समाधि-मृत्यु प्राप्त की।[1]

अन्य उपासक

इन श्रमणोपासकों के अतिरिक्त अनेक विशिष्ट श्रावकों का वर्णन आगम व उत्तरवर्ती साहित्य में मिलता है, जिन्होंने भगवान महावीर से व्रत ग्रहण कर तथा तत्व-ज्ञान प्राप्त कर जीवन को उच्च बनाया।

दस उपासकों में नन्दिनीपिता और सालिहीपिता नाम के श्रावकों की चर्चा भी है। ये दोनों ही श्रावस्ती के धनाढ्य गृहस्थ थे। इनमें प्रत्येक के पास बारह कोटि हिरण्य एवं चालीस हजार गायें थीं। भगवान् महावीर जब श्रावस्ती में[2] पधारे तो दोनों ने ही उपदेश सुनकर श्रावक धर्म स्वीकार किया, असीम भोगाकांक्षाओं को सीमित किया और जीवन को समता, सामायिक एवं पौषध आदि की साधना में लगाया।

दस प्रमुख श्रावकों के नाम संभवतः इसलिये भी प्रसिद्ध हैं कि ये सब अपने-अपने क्षेत्र के प्रमुख कोट्याधीश एवं समर्थ व्यक्ति थे। समृद्धि में समता का मार्ग अपनाना, यौवन में ब्रह्मचर्य स्वीकार करना जैसा महत्वपूर्ण माना गया है, उसी दृष्टि से हमने भगवान् महावीर द्वारा प्रस्तुत श्रावक धर्म को—"भोग के सागर में त्याग का सेतु" शीर्षक दिया है।"

चुल्लनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक एवं सद्दालपुत्र की देव-परीक्षा की घटनाएँ यह भी संकेत देती हैं कि—जब तक मन में बाह्य पदार्थ के प्रति आसक्ति, मूर्छा और ममत्व-बुद्धि रहती है, तब तक साधक अपने पथ पर अविचल तथा अस्खलित गति से नहीं बढ़ पाता। ममत्व-बुद्धि तथा सूक्ष्म-आसक्ति के कारण कभी भी प्रसंग पाकर आत्मा का पतन हो सकता है, अतः साधक को मन में रही मूर्च्छा, एवं ममत्व-बुद्धि को मिटाने का प्रयत्न करना चाहिये।

१ उपासक दशा, अध्ययन ८।
२ तेईसवां वर्ष, वि. पू. ४८६।

तत्वज्ञ श्रावक मद्दुक

इनके अतिरिक्त भगवान् महावीर के प्रमुख श्रावकों में मद्दुक, शंख, पुष्कली (पोखली) के नाम भी आते हैं। मद्दुक के जीवन का एक प्रसंग इस प्रकार है —

राजगृह के गुणशिलक चैत्य में भगवान् महावीर ठहरे हुये थे।[1] उसके निकट ही कालोदायी, शैलोदायी आदि परिव्राजकों का आश्रम था। एक दिन परिव्राजकों के बीच भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित पंचास्तिकाय के विषय में चर्चा चल रही थी। उसीसमय राजगृह का प्रमुख तत्वज्ञ श्रावक मद्दुक उस मार्ग से निकला। परिव्राजकों ने मद्दुक को देखा तो वे उससे अपनी शंका-समाधान करने लगे—

"मद्दुक, आपके धर्माचार्य महावीर धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल—इन पांच अस्तिकाय की प्ररूपणा करते हैं, परन्तु धर्म, अधर्म, आकाश और जीव अस्तिकाय अमूर्त हैं, अतः उन्हें कैसे माना जा सकता है ?"

मद्दुक ने परिव्राजकों से कहा—"क्रिया से किसी के अस्तित्व का पता लग सकता है। केवल आंखों से देखना ही सब कुछ नहीं है। अनुमान भी एक प्रमाण है। क्रिया के माध्यम से बाहर में अदृष्ट वस्तु के अस्तित्व का भी परिबोध किया जा सकता है।"

"वह कैसे ?"

"हवा चल रही है, यह आप जानते हैं न ?"

"हां, जानते हैं।"

"आप आंखों से हवा का रंग-रूप देखते हैं ?"

"नही देखते हैं।"

"नाक में प्रविष्ट होते गंध के पुद्गलों का रूप देखते है ?"

"नही देखते हैं।"

"अरणि (काष्ठ विशेष) में अग्नि होती है न ?"

"हां, होती है।"

"आप अरणि में रखी हुई अग्नि को देखते हैं ?"

"नहीं देखते हैं।"

'आयुष्मान् ! आप समुद्र के परवर्ती रूपों को देखते हैं ?"

1 तेईसवां वर्ष (वि. पू. ४८९)।

"नहीं देखते है।"

"देवलोक में रूप है या नहीं ?"

"है, किन्तु देवलोकगत रूप देखे नहीं जा सकते।"

मद्दुक—"आयुष्मानो ! इसी तरह तुम या कोई छद्मस्थ मनुष्य जिस वस्तु को नहीं देख पाते, क्या उस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है ? यदि आँखों से नहीं दीखने वाले पदार्थों का अस्तित्व न मानोगे तो तुम्हें लोक के अधिकांश पदार्थों को अस्वीकार ही करना पड़ेगा।

मद्दुक की कुशल तर्कों से अन्यतीर्थिक निरुत्तर हो गये और उनके मन में महावीर के सिद्धान्तों को जानने की उत्कण्ठा प्रबल हुई।

मद्दुक भगवान् महावीर की धर्म सभा में पहुंचा तो भगवान ने मद्दुक के निर्भ्रान्त तत्वज्ञान की प्रशंसा की।

कुंड कौलिक, मददुक आदि श्रावकों के उदाहरण से एक बात यही भी स्पष्ट होती है कि भगवान महावीर के श्रावक सिर्फ दृढ़ श्रद्धालु ही नहीं, किन्तु प्रखर तार्किक भी थे। महावीर की दृष्टि उनके अन्तरंग में उतर गई थी और वे अपनी कुशल तत्व-प्रतिभा के बल पर महावीर के तत्व-ज्ञान को अन्यतीर्थिकों के हृदय में उतार सकते थे। महावीर द्वारा उन तत्वज्ञ श्रावकों की प्रशंसा यह सूचित करती है कि महावीर श्रद्धा को प्रमुखता देते थे, पर अंधश्रद्धा को नहीं, तर्कपूर्ण श्रद्धा अर्थात् श्रद्धा और प्रज्ञा ही उन्हें अधिक प्रिय थी। इसप्रकार भगवान महावीर के धर्म-संघ के कुछ प्रमुख श्रावकों का यह जीवन-परिचय यहाँ प्रस्तुत किया है, जिससे भगवान महावीर की जीवन-दृष्टि, दर्शन एवं तत्व-बोध की एक झाँकी मिल जाती है।

समत्व का धनी—पूणिया श्रावक

भगवान् महावीर के कुछ प्रमुख उपासकों के वर्णन से हम यह धारणा नहीं बना सकते कि उनके श्रावक सभी धनकुबेर ही होते थे या सभी का वैराग्य समृद्धि में ही जनमा था।

हजारों-लाखों श्रावक तो बहुत साधारण स्थिति के थे। जैसे धनकुबेरों ने अपनी इच्छाओं का दमन कर सम्पत्ति का सीमांकन किया, वैसे ही सामान्य गृहस्थों ने भी अति लालसा का त्याग किया। सन्तोष व्रत का सबसे बड़ा लाभ तो यही है कि सद्भाव में जिस प्रकार समता रहे उसी प्रकार अभाव में भी मन समता में

रमता रहे। अत्यन्त अभावों में भी महावीर का श्रावक कितना समताशील व प्रसन्न रहता इसका एक उदाहरण भी हमारे सामने आता है।

अगले प्रकरण में बताया गया है कि जब मगधपति श्रेणिक ने अपनी नरक गति टालने के लिये भगवान महावीर से कुछ उपाय पूछे तो अन्य उपायों के साथ एक उपाय यह भी बताया गया "पूणिया श्रावक की एक सामयिक खरीदने पर नरक टल सकती है।"

यह सुनते ही श्रेणिक स्वयं सीधे पहुंचे पूणिया श्रावक के आवास पर! आवास क्या, एक छोटा सा बसेरा था, बस वह उसी बसेरे में रहता, थोड़ा-बहुत सामान! एक चरखा-पूणी! रोज पूणी कातना, बेचना और जो मिले उससे जीवन निर्वाह कर सन्तुष्ट रहना। नियमित अपनी सामायिक-स्वाध्याय करना।

मगधपति-श्रेणिक को अपने घर पर आया देखकर पूणिया श्रावक ने प्रसन्नता के साथ स्वागत किया और पूछा—"मैं क्या सेवा कर सकता हूं।"

श्रेणिक ने कहा—"सेवा मैं तुम्हारी करूंगा। तुम तो मेरा एक कार्य करो, बड़ा उपकार मानूंगा।"

पूणिया—क्या ?

श्रेणिक—बस, तुम्हारी एक सामायिक मुझे चाहिये। जो भी मूल्य चाहो; मांग लो। लाख, दस लाख जो मन हो। बस एक सामायिक चाहिए!

पूणिया श्रावक कुछ देर चकित होकर सुनता रहा, फिर बोला—सम्राट! आप कैसी बात करते हैं? सामायिक कभी बेची जाती हैं!

श्रेणिक—क्यों नहीं, भगवान महावीर ने कहा है तुम्हारी एक सामायिक मैं खरीद लूं तो मेरी नरक गति टल सकती है। बोलो, क्या मूल्य चाहते हो?

विस्मय के साथ पूणिया श्रावक बोला—राजन्! जब भगवान महावीर ने ऐसा कहा है तो उसका मूल्य भी उन्हीं से पूछ लीजिये! मैं नहीं बता सकता।

श्रेणिक ने भगवान महावीर से पुनः पूछा—भंते! पूणिया श्रावक सामायिक बेचने को तैयार है, मैं उसका जो भी मूल्य होगा दे दूंगा। आप कृपा करके इतना बता दीजिये कि एक सामायिक का मूल्य क्या होना चाहिये।

प्रभु महावीर ने सम्राट को उद्बोधित करते हुए कहा—श्रेणिक! सामायिक आत्मा की समता का नाम हैं। उस आत्म शांति का भौतिक मूल्य क्या हो सकता है? लाख-करोड़ स्वर्ण मुद्राएं तो क्या, तुम्हारा यह साम्राज्य तो उस सामा-

यिक की दलाली के लिए भी अपर्याप्त है। सामायिक अमूल्य है। वह आध्यात्मिक वैभव है, चक्रवर्ती के भौतिक वैभव से भी उसकी तुलना नहीं हो सकती।

श्रेणिक के अन्तर-नयन खुल गये। वे देखते ही रह गये कि समताशील श्रावक की एक सामायिक कितनी मूल्यवान ! कितनी महत्वपूर्ण है !

इस घटना प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् महावीर के उपासक चाहे वे भौतिक वैभव की दृष्टि से हीन रहे हों, तब भी उनका आत्म-वैभव सर्वश्रेष्ठ था। उनकी समत्व-साधना अद्वितीय थी। यही समता भोगों के सागर में सेतु बनकर उनको इस महासागर से पार करने में समर्थ बनी।

श्रेणिक की भक्ति और युक्ति

भगवान् महावीर के परम भक्त उपासकों में मगधपति श्रेणिक का नाम प्रथम श्रेणी में लिया जा सकता है। यह माना जाता है कि श्रेणिक पहले बौद्धधर्मानुरागी था। फिर अनाथी मुनि के संपर्क में आकर वह जैनधर्म का अनुयायी बना।[1] श्रेणिक की प्रिय रानी चेलणा वैशाली गणाध्यक्ष चेटक की पुत्री थी और निर्ग्रन्थ धर्म के तत्त्वों की जानकार श्रद्धाशील उपासिका थी। चेलणा की प्रेरणा से ही श्रेणिक जैनधर्म की ओर आकृष्ट हुआ और संभवतः भगवान् महावीर के साथ उसका प्रथम संपर्क राजगृह में तब हुआ, जब वे केवलज्ञान प्राप्त कर सर्वप्रथम राजगृह में आये।[2] इसी सिलसिले में—चेलणा श्रेणिक को भगवान् के निकट ले जाती है, पहले वह स्वयं आगे बढ़कर वंदना करती है, और फिर मगधपति श्रेणिक को आगे कर भगवान् की पर्युपासना करवाती है। चेलणा और श्रेणिक की सुन्दर मनोहर जोड़ी देखकर भगवान् के अनेक श्रमण-श्रमणियाँ, वैसे ही रमणीय कामभोग प्राप्त करने का निदान कर डालते हैं। महावीर द्वारा निदान के कुफल का बोध कराने पर भिक्षु-भिक्षुणियाँ उस निदान की आलोचना करते हैं। श्रेणिक पर भगवान् महावीर के सिद्धान्त और व्यक्तित्व का इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि वह निर्ग्रन्थ प्रवचन का परम उपासक सम्यक्त्वी श्रावक बन जाता है। इसीप्रसंग पर महामन्त्री अभय कुमार भगवान के समक्ष श्रावक व्रत ग्रहण करता है। धीरे-धीरे श्रेणिक की श्रद्धा भगवान के प्रति इतनी प्रगाढ़ हो जाती है कि वह अपने प्रिय पुत्रों (मेघ-नंदीषेण)

१ आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार श्रेणिक के पिता भगवान् पार्श्वनाथ के श्रावक थे।
—त्रिषष्टि शलाका० १०।६।८

२ दीक्षा का १३ वां वर्ष। वि. पू. ५००।

आदि) एवं रानियों को भगवान् महावीर के धर्मसंघ में प्रव्रजित होने की अनुमति देता है, और उनके दीक्षा समारोह बड़ी धूम-धाम से कराता है।

श्रेणिक की उत्कट भक्ति एवं श्रद्धा के कारण भगवान् महावीर बार-बार राजगृह में पधारते रहे और शीघ्र-शीघ्र चातुर्मास भी करते रहे।

नरक गमन और तीर्थंकर पद

एक बार भगवान् महावीर राजगृह पधारे।[1] श्रेणिक, अभय कुमार एवं अन्य सहस्रों नागरिक भगवान् के समवसरण में बैठे थे। तभी एक कुष्टी, जिसके शरीर से रक्त, मवाद झर रहा था, मक्खियां भिन-भिना रही थीं, महाराज श्रेणिक के पास आ कर बैठ गया। भगवान् की धर्म-सभा में तो सब को समान अधिकार था। कोई किसी को रोक नहीं सकता था। कुष्टी ने कुछ देर बाद भगवान् महावीर की तर्फ देख करके कहा—"मर जाओ!" श्रेणिक कुष्टी का यह अशिष्ट व अभद्र व्यवहार देखकर रोष में भर रहा था। तभी कुष्टी ने श्रेणिक को संकेत करके कहा—'जीते रहो।' फिर अभय कुमार की ओर मुंह कर कुष्टी बोला—"चाहे जी, चाहे मर!" और अंत में क्रूर हिंसक काल शौकरिक की तर्फ देख कर कुष्टी ने कहा—"मत मर! मत जी!"

कुष्टी के इस असम्बद्ध प्रलाप पर श्रेणिक क्षुब्ध हो उठा। सैनिकों ने उसे पकड़ना चाहा तभी वह देखते-देखते अंतरिक्ष में विलीन हो गया।

श्रेणिक के आश्चर्य का वेग बढ़ता गया। उसने सर्वज्ञ महावीर से पूछा—"भंते! वह कुष्टी कौन था? और क्यों अनर्गल बकवास कर गया?"

महावीर बोले—"वह देव था, और जो कुछ कहा वह एक कटु सत्य का संकेत था। वह सत्य तुम्हें अप्रिय भी लगेगा।"

"भंते! मैं उसके कथन का रहस्य जानना चाहता हूं। आपकी पर्युपासना से इतनी तितिक्षा तो सीख पाया हूं कि अप्रिय सत्य को भी बर्दाश्त कर सकूं।"

महावीर ने रहस्य का पर्दा उठाते हुये कहा—'मुझे मरने के लिए कहा, इसका कारण है, मैं यहां देह-बन्धन में हूं; आगे मुक्ति है। शाश्वत सुख है।" तुम्हें जीने के लिये कहा, क्योंकि तुम्हारा अगला भव 'नरक' का है। अभयकुमार अपने धर्माचरण एवं व्रत-नियमों की आराधना के कारण यहां भी श्रेष्ठ जीवन जी रहा है

१ दीक्षा का १८ वां वर्ष। वि. पू. ४९५

और आगे भी उसे देव गति में जाना है। कालशौकरिक के दोनों भव दुःखमय है। अतः न जीना इष्ट है न मरना !"

श्रेणिक के हृदय पर जैसे वज्राघात हो गया। अपने नरक-गमन की बात सुनकर वह स्तब्ध रह गया। "भंते ! क्या आपकी उपासना का यही फल मिलता है ?" धैर्य का बांध तोड़ते हुये श्रेणिक के खेदखिन्न उद्‌गार निकले।

"राजन् ! ऐसा नहीं है। मेरे सम्पर्क में आने से पूर्व तुमने क्रूरतापूर्वक अनेक प्राणियों की हिंसा की थी। उस कारण से तुमने नरक-आयुष्य बांध लिया। मेरी उपासना (सत्य की साधना) का फल तो यह है कि नरक से मुक्त होकर आगामी चौबीसी में तुम मुझ जैसे ही पद्‌मनाभ नामक प्रथम तीर्थंकर बनोगे।"[1]

श्रेणिक का विषाद हर्ष में बदल गया। तीर्थंकर पद की अपार गरिमा और चरम श्रेष्टता के समक्ष उसे नरक की यातना तो तुच्छ एवं क्षणिक-सी प्रतीत हुई। फिर भी उसने नरक गमन को टालने की युक्ति प्रभु से पूछी। प्रभु ने कहा—"अगर तुम्हारी दासी कपिला ब्राह्मणी श्रमणों को दान दे दे, अथवा कालशौकरिक जीव-वध छोड़ दे तो तुम्हारी नरक गति टल सकती है।" श्रेणिक ने कपिला से जबरदस्ती दान दिलवाया। देते-देते वह बोल पड़ी—यह दान मैं नहीं, श्रेणिक, का चाटू ही दे रहा है।" कालशौकरिक को जीववध नहीं करने के लिए कूए में उतारा लेकिन वहीं पर ५०० कल्पित भैंसे बनाकर उनका वध करता रहा। इस प्रकार दोनों ही युक्तियाँ असफल हुईं। श्रेणिक ने भगवान् से अन्य युक्ति पूछी। अन्त में भगवान् ने कहा—यदि पूणिया श्रावक की एक सामायिक खरीद सको तो तुम्हारी नरक टल सकती है। प्रयत्न करने पर वह योजना भी व्यर्थ गई।[2] अन्त में भगवान ने स्पष्ट कहा—"न तुम्हारा नरकगमन टल सकता है और न कोई युक्ति चल सकती है।"[3]

इस घटना के बाद श्रेणिक का मन विषयों से विरक्त प्रायः रहने लगा। वह सूक्ष्म आसक्ति के कारण स्वयं संसार त्याग तो नहीं कर सका किन्तु त्याग की प्रेरणा देने के लिये उसने राजगृह में उद्‌घोषणा करवाई—"कोई भी व्यक्ति भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण करे तो मैं उसे रोकूँगा नहीं, तथा उसके पीछे पालन-पोषण की कोई भी पारिवारिक चिन्ता होगी तो उसकी व्यवस्था राज्य की ओर से की जायेगी।"

१ पद्मनाभ तीर्थंकर का वर्णन स्थानांग सूत्र, स्थान ९ उ. ३ में देखना चाहिए।
२ पूणिया श्रावक का वर्णन पृष्ठ १८८ पर किया जा चुका है।
३ त्रिषष्टि शलाका० पर्व १०।९

श्रेणिक की इस घोषणा का बड़ा ही सुन्दर प्रभाव पड़ा। अनेक नागरिकों के अतिरिक्त जालि-मयालि आदि श्रेणिक के पुत्रों तथा नन्दा, नन्दमती आदि १३ रानियों ने श्रमण धर्म स्वीकार किया।[1] श्रेणिक की दस रानियों ने उसकी मृत्यु के बाद जब वैशाली के महायुद्ध में कालकुमार आदि दस राजकुमार मर गये (ये राजकुमार अजातशत्रु कूणिक के पक्ष में सेनापति बनकर दस दिन तक लड़े थे) तब भगवान के पास प्रव्रज्या ग्रहण करली थी।[2] इस प्रकार श्रेणिक की अनेक रानियों में से २३ रानियों ने तथा अभयकुमार, मेघ, नन्दीषेण प्रमुख १६ से अधिक राजकुमारों ने भगवान के पास दीक्षा ग्रहण की।

मगधपति श्रेणिक का भगवान महावीर के धर्मसंघ के साथ निकटतम सम्बन्ध रहा और उसकी श्रद्धा एवं धर्मनिष्ठा भी आदर्श रही। श्रेणिक की सम्यक्त्व परीक्षा हेतु एक देव ने भी अनेक प्रकार की विकुर्वणाएँ दिखाईं। श्रेणिक की निर्ग्रन्थ प्रवचन से आस्था हटाने का प्रयत्न भी किया, पर श्रेणिक अपनी तत्व श्रद्धा एवं निर्ग्रन्थ श्रमणों के प्रति अविचल भक्ति की परीक्षा में खरा उतरा। उसकी दृढ़ता पर प्रसन्न होकर देव ने उसे ऐतिहासिक अठारहसरा हार दिया, यही हार आगे चल कर 'रथमूसलसंग्राम' व 'महाशिलाकंटकयुद्ध' का प्रत्यक्ष निमित्त बना।

इस प्रकार भगवान महावीर एवं उनके धर्मसंघ के प्रति श्रेणिक की अगाध भक्ति एवं धर्म युक्ति का यह प्रसंग सदा प्रेरक एवं स्मरणीय रहेगा।

राजनीति को नया मोड़

भगवान् महावीर का तत्त्वचिंतन जितना व्यक्ति-परक था, उतना ही समाज-परक भी। समाज एवं राज्यव्यवस्था जब तक दोष पूर्ण रहती है, व्यक्ति परक साधना, जिसे हम अध्यात्म कहते हैं, शुद्ध रूप से हो नहीं सकती। चूंकि व्यक्ति के जीवन का आधार तो समाज ही है। इसीलिए मानना होगा कि भगवान महावीर जितने गहरे अध्यात्मवादी थे, उतने ही गहरे समाजवादी भी। शूद्र से घृणा, श्रमिक का शोषण, दास को प्रताड़ना, स्त्री जाति का अपमान, बंधन तथा असीमभोग

१ अणुत्तरोववाइअ दसाओ एवं अंतगडदसाओ

२ दीक्षा का २६वां वर्ष। वि. पू. ४८७-४८६।

३ चउप्पन्न महापुरिस चरियं।

सामग्रियों का संग्रह करना, ये सब तत्कालीन समाज-व्यवस्था के भयंकर दोष थे; जिन्हें दूर करने के लिए भगवान महावीर ने अथक श्रम किया, अहिंसा और अपरिग्रह का आयाम विस्तृत किया।

समाज-व्यवस्था की भांति उस समय की राज-व्यवस्था भी अत्यंत दोषपूर्ण थी। राज्यों में परस्पर झगड़े होते थे। एक दूसरे के राज्य पर आक्रमण और पराजित प्रजा की मनमानी लूट की जाती थी। इस अशांतिपूर्ण और भय-विभीषका-युक्त राज-व्यवस्था का भी भगवान् महावीर ने अनेकबार खुल कर विरोध किया। कभी-कभी वे पड़ोसी राज्यों की उलझी हुई विकट समस्याओं को बड़े ही शांतिपूर्ण और सहज ढंग से सुलझा कर भयंकर नर-संहार को भी बचा लेते थे। यद्यपि भगवान् महावीर की विद्यमानता में ही वैशाली का महायुद्ध हुआ, जिसमें दोनों ओर उनके परम भक्त राजा थे—एक ओर अजातशत्रु कूणिक तथा दूसरी ओर चेटक। दस दिन के इस महायुद्ध में सिर्फ दो दिन में दोनों पक्षों के १ करोड़, ८० लाख मनुष्य मारे गये।[1] भगवान् महावीर ने इस भयानक नर-संहार को टालने का प्रयत्न किया, अथवा नहीं? ये प्रश्न इतिहास की खोज के विषय हैं। किंतु भगवान् महावीर की शांति, समन्वय और अहिंसाप्रिय वृत्ति को देखते हुए लगता है, कि यह नरसंहार अथक प्रयत्नों के बावजूद भी टलने-जैसा नहीं था, इसलिए महावीर संभवतः मौन ही रहे हों, अन्यथा स्त्री और शूद्र के उद्धार हेतु प्रयत्नशील रहने वाले महावीर अपने युग में यह नर-रक्त की होली नहीं खेलने देते।

हमारी इस धारणा की पुष्टि इस बात से भी होती है कि ऐसा ही युद्ध का एक विकट प्रसंग वैशाली युद्ध से सात वर्ष पूर्व महावीर के जीवन के ५० वें वर्ष में कौशाम्बी और उज्जयिनी (उदयन एवं चंडप्रद्योत) के बीच उपस्थित हुआ था और तब महावीर स्वयं उस युद्धभूमि में पहुंचकर रणनीति को नया मोड़ देते हैं—अध्यात्मनीति की ओर। उनके उपदेश के प्रभाव से रणभूमि तपोभूमि बन जाती है। वह घटना-प्रसंग इस प्रकार है—

छद्मस्थ अवस्था के अंतिम दिनों में कौशाम्बी में जब चन्दना के हाथ से महावीर के घोर अभिग्रह की पूर्ति हुई थी, उन दिनों वहां शतानीक नृप राज्य करते थे। उसके तीन वर्ष बाद[2] जब तीर्थंकर महावीर कौशाम्बी पधारे तो वहां की स्थिति में बहुत बड़ी उथल-पुथल हो चुकी थी। चम्पा को लूटकर चन्दना को अनाथ बनाने

१ भगवती सूत्र शतक ७ । उ० ९
२ दीक्षा के १५ वें वर्ष। वि. पू. ४९७

वाला शतानीक स्वयं चंडप्रद्योत के आक्रमण का शिकार हो गया था और बालक उदयन को अनाथ अवस्था में छोड़कर चल बसा था। ऐसा होता ही है—दूसरों का घर उजाड़ने वाला स्वयं भी उजड़ जाता है।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि उज्जयिनीपति चंडप्रद्योत और शतानीक परस्पर साढ़ू थे। शतानीक की रानी मृगावती और चंडप्रद्योत की रानी शिवादेवी महाराज चेटक की पुत्रियां तथा महावीर की बहनें (मौसी-पुत्री) थीं।

कामांध पुरुष संसार का कोई भी सम्बन्ध नहीं देख पाता, यह बात चंड प्रद्योत के विषय में सही थी। मृगावती के अपूर्व सौन्दर्य से आकृष्ट हो उसको अपनी पटरानी बनाने का स्वप्न देखा, और उस हेतु कौशाम्बी पर आक्रमण किया। शतानीक की मृत्यु हुई। उदयन अनाथ हो गया। मृगावती ने अपने सतीत्व की, राजकुमार की और राज्य की सुरक्षा के लिए दीर्घदृष्टि से काम लिया। चंडप्रद्योत के प्रस्ताव का चतुराई के साथ उत्तर दिया—"उदयन अभी बालक है, मैं पति-वियोग में दुखी हूं, प्रजा भयभीत है। अतः आप हमारी सुरक्षा-व्यवस्था कीजिए, सब को आश्वस्त होने के लिए समय दीजिए, आखिर तो हम जायेंगे कहां··· ?"

चतुर महारानी के उत्तर से आशान्वित होकर चंडप्रद्योत ने कौशाम्बी की सुरक्षा-व्यवस्था मजबूत कर दी और स्वयं अवन्ती चला गया, समय के इन्तजार में········।

इसी बीच भगवान् महावीर कौशाम्बी में पधारे थे। राजमाता मृगावती, तत्वज्ञा जयंती और उदयन आदि सभी महावीर की देशना सुनने आये। जयंती से ज्ञान-चर्चा भी हुई और अंत में जयंती ने दीक्षा ग्रहण कर ली।[1]

राज्य में शांति और निश्चिन्तता थी। उदयन शस्त्रविद्या में निपुण हो गया था और भगवान् महावीर भी कौशाम्बी में बार-बार पधार रहे थे। समय बीतने पर चंडप्रद्योत ने मृगावती को अपना प्रणयपत्र भेजा। उत्तर में मृगावती ने सिंहनी की भांति हुंकार के साथ कामी राजा को लताड़ दिखाई। चंडप्रद्योत को लगा—'रानी ने मेरे साथ धोखा किया है।' क्रुद्ध हो उसने पुनः कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। अवन्ती की सेनाओं ने कौशाम्बी को घेर लिया। रानी ने कौशाम्बी के सुदृढ़ वज्रमय द्वार बंद करवा दिये और भीतर अपनी सुरक्षा-व्यवस्था मजबूत करने लगी।

युद्ध की इस विकट वेला में भगवान् महावीर ने शांति का बीड़ा उठाया।

१ जयंती की ज्ञानचर्चा देखें 'ज्ञान-गोष्ठियां' प्रकरण में

रणभेरियों के बीच शांति का जयघोष सुनाते हुए वे कौशाम्बी के बाहर चन्द्रावतरण चैत्य में आकर ठहरे ।[1] मृगावती को भगवान् के आगमन की सूचना मिली । उसने मंत्रिमंडल की सम्मति ली—"द्वार खोलने चाहिए कि नहीं ?" इस विकट स्थिति में सभी ने कहा—"द्वार खुलते ही शत्रुसेना नगर में घुसकर लूट मचा देगी, किसी भी स्थिति में द्वार नहीं खुलने चाहिए ।"

रानी मृगावती ने कहा—"शांति का देवता जब हमारे द्वार पर आ गया है तब हम हतभागी क्या उसके स्वागत के लिए द्वार भी न खोलें ? भगवान् महावीर की उपस्थिति में हमें कुछ भी भय नहीं । मुझे अटल विश्वास है, यह विपत्ति भी टल जायेगी और भगवान् की धर्मनीति रणनीति को नया मोड़ दे देगी ।"

रानी का विश्वास जीता । शत्रुसेना से घिरी कौशाम्बी के द्वार खुल गये । महारानी अपने समस्त राजपरिवार के साथ भगवान् महावीर के दर्शन करने गई । उधर चंडप्रद्योत एवं उसकी अंगारवती आदि रानियां भी भगवान् की धर्म-देशना सुनने आईं । भगवान् महावीर ने अत्यंत प्रेरक और हृदयवेधी उपदेश दिया । चंड प्रद्योत का हृदय गद्‌गद हो गया । उसी समय समयज्ञा रानी मृगावती भगवान् की धर्मसभा में खड़ी हुई और प्रार्थना करने लगी—"भगवन् ! मैं महाराज प्रद्योत (चंडप्रद्योत) की आज्ञा लेकर आपके पास दीक्षा लेना चाहती हूं । मेरा पुत्र उदयन अभी बालक है, इसके संरक्षण की जिम्मेदारी महाराज प्रद्योत स्वीकार करेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है ।" और रानी ने उदयन को प्रद्योत की गोदी में बिठा दिया ।

वातावरण बदल गया । चंडप्रद्योत को उदयन का अभिभावकत्व स्वीकार करना पड़ा । आक्रांता अभिभावक बन गया । मृगावती के साथ ही चंडप्रद्योत की आठ रानियों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की ।[2] रणभूमि तपोभूमि बन गई । युद्धभेरियों के बदले शांति व त्याग के जयघोष गूंजने लगे । भगवान् महावीर ने भारत की राजनीति को शांति की दिशा में एक नया मोड़ दे दिया ।

पार्श्वनाथ-परम्परा का सम्मिलन

भगवान् महावीर सहज प्रज्ञा के पक्षधर थे, परम्परा के नहीं । सत्य का निर्णय किसी शास्त्र या परम्परा के आधार पर नहीं, किन्तु अपनी आत्म-साक्षी से

१ दीक्षा का २० वां वर्ष । वि. पू. ४९३-४९२

२ आवश्यक टीका पत्र ६४-६७

करने का संदेश देते थे। तथापि वे शुद्ध व्यवहारवादी भी थे। एकांत आग्रह से तो सर्वथा मुक्त थे। सत्य के नाम पर परम्परा का उच्छेद व अनादर भी उन्हें इष्ट नहीं था और परम्परा के नाम पर असत्य का आग्रह तो कभी भी नहीं। इस कारण अपने तीर्थंकर-जीवन में वे पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ-परम्परा के साथ कभी टकराये नहीं, और न कभी उसे मिलाने का आग्रह ही किया। किन्तु प्रज्ञावाद की तुला पर पार्श्वापत्य श्रमणों के साथ समन्वय-मार्ग की चर्चा की। उनकी समन्वयशील सत्योन्मुखी वाणी से आकृष्ट हो, पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमण धीरे-धीरे उनके धर्म-संघ में सम्मिलित हो गए। पार्श्व-परम्परा का सम्मिलन भगवान् महावीर की समन्वयशीलता का एक ऐतिहासिक उदाहरण है।

पहले बताया जा चुका है कि भगवान् महावीर के माता-पिता पुरुषादानीय पार्श्वनाथ के श्रमणोपासक थे। उनके मामा चेटक भी पार्श्वनाथ परम्परा के प्रमुख श्रावक थे। इसलिए पार्श्व-परम्परा के धार्मिक-संस्कार उनके पारिवारिक जीवन में घुले-मिले थे। अतः यह सहज ही माना जा सकता है कि उस प्राचीन निर्ग्रन्थ परंपरा के प्रति उनमें आदर व सम्मान की भावना तो बनी ही है।

महावीर स्वयंबुद्ध थे, इसलिये जब उन्होंने साधना-पथ पर चरण बढ़ाया तो किसी गुरु का सहारा लेने की अपेक्षा नहीं हुई। किन्तु चूँकि जिस ध्येय की ओर वे बढ़ रहे थे, वही ध्येय पार्श्वनाथ का भी था तथा जिस धर्म-क्रान्ति का स्वर भगवान् पार्श्वनाथ ने मुखरित किया था, वही महावीर का इष्ट था। इसलिए दोनों में साध्य की और साधनों की प्रायः समानता थी। उस परम्परा के अवशेष रूप में अनेक श्रमण अंग-मगध आदि क्षेत्रों में विचरण कर रहे थे और यदा-कदा भगवान् महावीर के संपर्क में भी वे आते रहे।

साधना-काल के चौथे वर्ष में (वि० पू० ५०९) में अंग के कुमारासन्निवेश में मुनिचन्द्र स्थविर के साथ गोशालक की भेंट हुई, वह उनसे तकरार करके आया तब भगवान् महावीर ने उसे सावधान किया था—"वे पार्श्वापत्य अनगार हैं। उनका आचार यथार्थ है, तुम उनकी अवहेलना मत करो।"

इसी प्रकार छठे वर्ष (वि० पू० ५०७) में भी तंबायसन्निवेश (मगध) में भी गोशालक ने पार्श्वापत्य अनगार नंदीषेण के साथ झड़प कर ली। उक्त प्रसंगों पर भगवान् ने उसे प्राचीन निर्ग्रन्थ-परम्परा की यथार्थता बताकर उसके प्रति आदर प्रकट किया।

उस समय भगवान् महावीर मौन-साधना में थे, इस कारण किसी परम्परा के

प्रति कुछ विशेष कहना इष्ट नहीं था। पर स्थान स्थान पर उन्हें पार्श्वापत्य श्रमणों का नैकट्य अवश्य मिलता रहा।

तीर्थंकर काल में इस प्रकार के अनेक प्रसंग आते हैं, जब पार्श्वापत्य श्रमण भगवान् महावीर के निकट आकर उनसे विचार-चर्चा करते हैं, उनकी सर्वज्ञता के सम्बन्ध में आश्वस्त होते हैं, उनकी व पार्श्वनाथ की धर्मप्रज्ञप्ति के मूल लक्ष्य के प्रति समानता अनुभव करते हैं और वे स्वतःप्रेरित होकर भगवान् महावीर के धर्मसंघ में सम्मिलित हो जाते हैं।

पार्श्वनाथ-परम्परा के सम्मिलन के कुछ प्रसंग यहां दिये जाते हैं।

स्थविरों द्वारा तत्त्वचर्चा

भगवान् महावीर राजगृह के गुणशिलक उद्यान में विराजमान थे।[1] उस समय अनेक पार्श्वापत्य स्थविर भगवान के समवसरण में आये। वे कुछ दूर खड़े रहे और भगवान् से लोक के सम्बन्ध में अनेक जटिल प्रश्न किये। उन प्रश्नों का भगवान् ने बड़ी सूक्ष्मता व सरलता के साथ समाधान किया। समाधान पाकर श्रमणों को विश्वास हो गया कि महावीर भगवान् पार्श्व के समान ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। तब उन्होंने विनयपूर्वक वन्दना की और बोले—"भंते! हम आपके पास चातुर्याम धर्म के स्थान पर पंचमहाव्रतात्मक सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार करना चाहते हैं।"

महावीर बोले—"श्रमणो! तुम सुखपूर्वक ऐसा कर सकते हो।"

प्रभु की अनुमति पाकर सभी श्रमण महावीर के धर्मसंघ में सम्मिलित हो गए।[2]

संयमफल-विषयक चर्चा

राजगृह के निकट ही तुंगिया नगरी थी। यहाँ पार्श्वनाथ-परम्परा के अनेक तत्वज्ञ श्रावक रहते थे। एक बार कुछ पार्श्वापत्य स्थविर पांच सौ अनगारों के साथ तुंगिया के पुष्पवतीक उद्यान में आये। श्रमणोपासकों ने स्थविरों का उपदेश सुना। तदनन्तर विचार-चर्चा करते हुए उन्होंने प्रश्न किया—"भगवन्! संयम का फल क्या है और तप का फल क्या है?"

"संयम से कर्मों का आगमन (आश्रव) रुकता है, और तप से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है।" स्थविरों ने कहा।

१ दीक्षा का बाईसवां वर्ष। वि० पू० ४९१-४९०।

२. भगवती सूत्र-शतक ५ उद्देशक ९

"हमने सुना है कि संयम से देवलोक की प्राप्ति होती है ?"—श्रमणोपासकों ने पूछा।

स्थविर बोले—"सराग (आसक्तिपूर्वक) अवस्था में किये गये तप एवं संयम से, अर्थात् संयम-तप में रही हुई आसक्ति के कारण पूर्ण कर्मक्षय न होने से आत्मा मोक्ष के बदले देवगति को प्राप्त करता है।"

स्थविरों के समाधान से श्रमणोपासक पूर्ण संतुष्ट हुए। उसी समय गणधर इन्द्रभूति राजगृह में भिक्षा के लिए भ्रमण कर रहे थे। उन्होंने तुंगिया के श्रमणोपासकों व स्थविरों के बीच हुये प्रश्नोत्तर की चर्चा सुनी। उन्हें कुछ संशय हुआ। अतः वे भिक्षा से लौटकर भगवान् महावीर के निकट आये और वंदनापूर्वक प्रश्न किया—"भंते ! क्या स्थविरों द्वारा दिये गये उत्तर सत्य हैं, यथार्थ हैं ?"

सत्य के पक्षधर महावीर बोले—"गौतम ! स्थविरों ने जो उत्तर दिये हैं, वे यथार्थ हैं। वे सम्यग्ज्ञानी हैं। मैं भी इसी बात का समर्थन करता हूं।"[१]

केशी-गौतम का ऐतिहासिक मिलन

भगवान् महावीर के धर्मसंघ में पार्श्वापत्य श्रमणों का जो समय-समय पर मिलन हुआ, उसमें श्रमण केशीकुमार और इन्द्रभूति गौतम की तत्त्वचर्चा और सम्मिलन एक ऐतिहासिक घटना कही जा सकती है। यद्यपि इस मिलन में मुख्य भूमिका गौतम की रही है, किंतु गौतम के समाधानों में भगवान् महावीर का ही स्वर गूंज रहा है, अतः दो परम्पराओं के इस ऐतिहासिक सम्मिलन का श्रेय भगवान् महावीर की वीतरागदृष्टि को ही दिया जा सकता है।

भगवान् महावीर कौशल भूमि में विहार करते हुए पश्चिम की ओर बढ़ रहे थे। इन्द्रभूति गौतम कुछ शिष्यों को साथ लेकर उनसे पहले श्रावस्ती में चले गये। वहाँ पार्श्वनाथ-परम्परा के विद्वान श्रमण केशीकुमार भी अपने शिष्य समुदाय के साथ तिन्दुक उद्यान में ठहरे हुए थे। दोनों परम्पराओं के श्रमण समुदाय में एक-दूसरे को देखकर कुछ आश्चर्य हुआ और अनेक प्रश्न भी खड़े हुए। वे सोचने लगे—"यह धर्म कैसा है और वह धर्म कैसा ? यह आचारविधि और वह आचारविधि इतनी भिन्न क्यों ? महामुनि पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म और श्रमण वर्धमान का

१ दीक्षा का २४ वां वर्ष। वि० पू० ४९८। विशेष वर्णन के लिए देखें—भगवती सूत्र, शतक २ उ० ५।

पंचमहाव्रतात्मक धर्म ? दोनों का लक्ष्य एक है मोक्ष-प्राप्ति। फिर दोनों के आचार-मार्ग में इतना अन्तर क्यों ?"

उक्त चर्चाएं जब केशीकुमार श्रमण एवं इन्द्रभूति गौतम के समक्ष आई तो दोनों ने ही परस्पर मिलकर विचार-चर्चा करने का निश्चय किया। गौतम व्यवहार-दक्ष एवं विनम्रता की मूर्ति थे। अपने शिष्यों के साथ वे स्वयं ही केशीकुमार के निकट गये। श्रमण केशी ने गौतम का उचित स्वागत-सत्कार किया, उनके मधुर-व्यवहार से प्रसन्न होकर कुछ जिज्ञासाएं प्रस्तुत करने की अनुमति मांगी।

गौतम-केशी के इस मिलन की चर्चा श्रावस्ती के बाजारों में फैली तो हजारों गृहस्थ तथा अनेक अन्यतीर्थिक साधु भी उत्सुकता व जिज्ञासा-वश वहां आ गये।[1]

गौतम की अनुमति लेकर केशीकुमार बोले—"महानुभाव ! महामुनि पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया और भगवान् वर्धमान ने पंचशिक्षिक धर्म का। समान ध्येय के लिये चलने वाले साधकों में इस प्रकार की मत-भिन्नता क्यों ? यह द्वैध, क्या आपके मन को संशय एवं अश्रद्धा से उद्वेलित नहीं करता ?"

गौतम—"महामुनि ! धर्मतत्त्व का निर्णय बुद्धि से किया जाता है। जिस युग में जैसी बुद्धि वाले मनुष्य होते हैं उनकी पात्रता देखकर ही धर्म का उपदेश किया जाता है। प्रथम तीर्थंकर के समय मनुष्य वस्तुतत्त्व को समझने में अकुशल और अन्तिम तीर्थंकर के समय में मनुष्य तर्कप्रधान तथा बौद्धिक कुटिलता से युक्त होते हैं, जबकि मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के समय में मनुष्य सरल एवं श्रद्धा-प्रधान ! सरल एवं श्रद्धालुजन चातुर्यामधर्म में ही आचार की पूर्ण शुद्धता रख लेते हैं, किन्तु अकुशल एवं तर्क-कुटिल मानस के लिये आचार को स्पष्टता और नियमों का विस्तार करते हुये पंच महाव्रतिकधर्म की प्ररूपणा की जाती है। अतः धर्म की मूलभूत साधना में कोई भेद व द्वैध नहीं है।"[2]

केशी—"भगवान् वर्धमान ने अचेलकधर्म बताया है, जबकि महामुनि पार्श्वनाथ ने सान्तरोत्तर (वर्ण आदि से विशिष्ट एवं मूल्यवान वस्त्र रखने की अनुमति युक्त) धर्म का प्रतिपादन किया है। एक ही कार्य—(उद्देश्य) में प्रवृत्त दोनों में भेद का कारण क्या है ? वेष के इन दो प्रकारों को देखकर क्या आपके मन में कुछ संशय नहीं होता ?"

१ उत्तराध्ययन २३।१८-१९
२ उत्तराध्ययन, २३। २३ से २७

गौतम—"विज्ञान से—(विशिष्ट ज्ञान से) अच्छी प्रकार जानकर ही धर्म के साधनभूत उपकरण आदि की अनुमति दी गई है। वास्तव में नाना प्रकार के उपकरण आदि की परिकल्पना लोक-प्रतीति के लिये है। संयम-यात्रा का निर्वाह होता रहे और "मैं साधु हूं" इसकी अनुभूति बनी रहे, इसलिये ही लोक में लिंग—वेष का प्रयोजन है।"

गौतम के स्पष्ट और सन्तुलित भाव-भाषायुक्त उत्तरों से केशीकुमार की जिज्ञासा शांत हो गई। उन्होंने साधना, धर्म एवं आत्मविषयक अनेक सुन्दर प्रश्न गौतम से पूछे और गौतम ने उनका प्रज्ञा-पुरस्सर समाधान किया। प्रश्नोत्तरों का पूरा वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र (अध्ययन २३) में आज भी सुरक्षित है।

केशी-गौतम के प्रश्नोत्तरों में भगवान् महावीर की अध्यात्म-दृष्टि जितनी सुन्दर रूप में स्पष्ट हुई है, उतनी ही स्पष्टता के साथ धर्म एवं वेष के सम्बन्ध में उनकी क्रांतिकारी भावना भी झलक रही है कि धर्म का सम्बन्ध आत्मा के साथ है, वेष का प्रयोजन सिर्फ बाह्य-प्रतीति– सामाजिक मर्यादा तक है।

केशीकुमार अपनी जिज्ञासा और शंकाओं का समाधान पाकर अत्यंत प्रसन्न हुए। श्रद्धा और भावना के साथ उन्होंने गौतम को वन्दना की और भगवान् महावीर के धर्मसंघ में सम्मिलित होने की भावना प्रकट की। गौतम ने उन्हें भगवान् महावीर के संघ में सम्मिलित किया।[1]

पार्श्व-परम्परा का यह ऐतिहासिक सम्मिलन निर्ग्रन्थ-परम्परा के अभ्युदय, उत्कर्ष एवं समन्वयप्रधान दृष्टि के विस्तार में बड़ा ही उपयोगी सिद्ध हुआ।

अनगार गांगेय का समाधान

केशीकुमार श्रमण जब महावीर के धर्मसंघ में सम्मिलित हो गये तो एक प्रकार से पार्श्वनाथ-परम्परा के मुख्य प्रभावशाली एवं विद्वान श्रमणों का समुदाय एकीकरण के सूत्र में बंध गया। इससे अन्य तीर्थिकों में भी श्रमण-परम्परा का गौरव एवं सम्मान बढ़ा। फिर भी कुछ तत्त्वज्ञ तथा तपस्वी पार्श्वापत्य स्थविर अभी भी भगवान् महावीर के धर्मसंघ से पृथक् थे तथा वे भगवान् की सर्वज्ञता को सन्देहभरी दृष्टि से देखते थे। तथापि एक मुख्य बात थी कि उनमें जड़-आग्रह नहीं था, सिर्फ निकट आने की देर थी।

एक बार भगवान् महावीर वाणिज्यग्राम के द्युतिपलाश उद्यान में ठहरे

१ दीक्षा का अट्ठाईसवां वर्ष। वि. पू. ४८५-४८४।

हुये थे।[1] प्रतिदिन उनकी धर्मदेशना होती थी, हजारों-हजार नर-नारी सुनने को आते हैं।

एकदिन धर्मदेशना के बाद पार्श्वापत्य-श्रमण गांगेय भगवान् की धर्मसभा में आये और दूर खड़े रहकर ही उन्होंने नरक, असुरकुमार, द्वीन्द्रिय आदि जीव तथा 'सत्-असत्' आदि के सम्बन्ध में काफी विस्तार से प्रश्न पूछे। सभी प्रश्नों का यथोचित समाधान मिलने पर गांगेय अनगार को भगवान् की सर्वज्ञता में विश्वास हो गया। वे तुरन्त विनयपूर्वक वन्दना कर निकट आये और भगवान् की पंच महाव्रतिक धर्मपरम्परा में प्रविष्ट होने की स्वीकृति मांगी। भगवान् की अनुमति प्राप्त कर गांगेय अनगार उनके धर्मसंघ में सम्मिलित हो गये। गांगेय अनगार के तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण विविध प्रश्नोत्तर व स्वर्ग नरक-सम्बन्धी भगजाल जैन तत्त्वज्ञान में प्रमुख स्थान रखते हैं।[2]

उदकपेढाल द्वारा संघ-प्रवेश

भगवान् महावीर के संघ में पार्श्व-परम्परा के जो श्रमण सम्मिलित हुए उनमें सबसे आखिरी नाम उदकपेढाल का है। भगवान् महावीर को धर्मसंघ स्थापित किये लगभग २२ वर्ष बीत गये थे। इस दीर्घकाल में केशीकुमार जैसे प्रभावशाली श्रमण, गांगेय जैसे तत्त्वज्ञ अनगार तथा अनेकों स्थविर भगवान् के संघ में प्रविष्ट हो चुके थे, पर लगता है कुछ पार्श्वसन्तानीय श्रमण अब भी इस धर्मसंघ से दूर थे। जो एक-एक करके संघ में सम्मिलित हो रहे थे। इन्हीं में पेढालपुत्र उदक का नाम है।

भगवान् महावीर एक बार नालंदा के हस्तियाम[3] उद्यान में ठहरे थे। वहाँ पर पार्श्वापत्य श्रमण पेढालपुत्र उदक की भेंट इन्द्रभूति गौतम के साथ हो गई। उदक ने गौतम से कहा—"गौतम! मेरे मन में कुछ शंकाएँ हैं। क्या आप मेरे प्रश्नों का उचित उत्तर देंगे?"

"पूछिए!"—गौतम ने कहा।

इस पर उदक ने गौतम से बड़े लंबे-चौड़े प्रश्न पूछे। गौतम ने शांति के साथ सबका उत्तर दिया। दोनों की चर्चा चल ही रही थी कि कुछ अन्य पार्श्वापत्य-स्थविर भी वहां आ गये। वे भी दोनों की चर्चा सुनने लगे। अनेक प्रश्नोत्तरों के

१ दीक्षा का बत्तीसवां वर्ष। वि. पू. ४८१-४८० ।

२ विस्तार के लिए देखें—भगवती सूत्र शतक ९। उ० ३२।

३ यह उद्यान नालंदा के प्रमुख श्रमणोपासक 'लेव' का अपना निजी उद्यान था। दीक्षा का ३४वां वर्ष। वि. पू. ४७८।

बाद समाधान पाकर उदक जब ऐसे ही उठकर चलने लगा तो उसकी अविनीतता (अव्यावहारिकता) गौतम को जरा खटकी, वे बोले—"आयुष्मन् ! किसी श्रमण-ब्राह्मण के मुख से एक भी हितवचन सुनकर योग-क्षेम का मार्ग जानने वाला मनुष्य उस उपदेशक का आदर करता है, और आप तो किसी प्रकार के आदर, कृतज्ञता-ज्ञापन तथा अभिवादन के बिना यों ही उठकर चल रहे हो, क्या तुम्हें इस सद्-व्यवहार की विधि का परिज्ञान नहीं है ?"

गौतम के इस स्पष्ट तथा मार्मिक कथन पर उदक रुक गया। बोला—"महानुभाव ! सचमुच ही मुझे इस प्रकार के धर्म-व्यवहार का ज्ञान आज तक नहीं था। अब मैं आपके कथन पर श्रद्धा करता हूं और चातुर्यामधर्म-परम्परा के बदले पंचमहाव्रतिक धर्म-मार्ग स्वीकार करना चाहता हूं।"

गौतम ने उदक की जिज्ञासा में प्रबलता देखी तो वे उसे भगवान् महावीर के पास ले आये। उदक ने भगवान् से पंच महाव्रत-धर्म में प्रवेश पाने की उत्कंठा बताई। भगवान् की अनुमति पाकर उदक उनके धर्म-संघ में सम्मिलित होगया।[1]

भगवान् महावीर के धर्म-संघ में पार्श्वनाथ-परम्परा के सम्मिलन की ये घटनाएं भगवान् महावीर की दो दृष्टियां स्पष्ट करती हैं—

१. सत्य-शोधक में परम्परा का व्यामोह नहीं होता। जब सत्य की जिज्ञासा प्रबल हो जाती है तो साधक परम्परागत पद, मान व सम्मान की आकांक्षा से मुक्त होकर मात्र सत्य के लिए स्वयं को न्यौछावर कर देता है।

२. सत्य की अनुगामिनी कोई भी परम्परा चाहे वह प्राचीन हो या नवीन, उसका विरोध या अनादर नहीं करना चाहिए और बलात् एकीकरण का प्रयत्न भी नहीं होना चाहिए। परम्परा के अनुयायियों में जब सत्य की अन्तर्दृष्टि खुल जाती है तो वे दूर या पृथक्-पृथक् रह ही नहीं पाते। वे स्वतः ही एकाकार हो जाते हैं, जैसे जल नदी में मिलकर। वास्तव में लिंग, वेश, बाह्य सीमाएं ये सब मात्र लोक-व्यवहार है, तत्त्वतः आत्मदृष्टि तथा कषायमुक्ति ही सच्ची साधना है।

महावीर की इन्हीं दोनों दृष्टियों को स्पष्ट करने के लिए पार्श्वनाथ-परम्परा के सम्मिलन व तत्त्वचर्चा की ये घटनाएं यहां प्रस्तुत की गई हैं।

१ देखिए सूत्रकृतांग श्रुतस्कंध २, नालंदीय अध्ययन ७।

परिव्राजकों के साथ परिचर्चा

[सत्योन्मुखी जिज्ञासा]

प्राचीन समय में गृहत्याग कर प्रव्रजित होने वाले भिक्षुक अपनी परम्परागत विधि के अनुसार विभिन्न नामों से पुकारे जाते थे। निर्ग्रन्थ, शाक्य और आजीवक आदि भिक्षुक 'श्रमण' कहलाते थे। 'श्रमण' शब्द वेद-विरोधी अथवा यज्ञ-विरोधी संस्था का सूचक बन गया था। वैदिक यज्ञ-याग आदि कर्मकांडों में विश्वास रखने वाले तथा वेद-उपनिषद् आदि के अभ्यासी भिक्षुक, संन्यासी अथवा परिव्राजक कहलाते थे। दोनों परम्पराएँ धार्मिक विश्वास एवं क्रिया-विधि में काफी भिन्न होते हुए भी निवृत्ति-प्रधान थीं तथा मोक्ष एवं आत्म-ज्ञान की उन्मुखता दोनों में ही थी। इस कारण इन विविध-परम्पराओं के भिक्षुओं में अपनी धार्मिक निष्ठा का बाहुल्य होते हुए भी अन्य धार्मिकों (तीर्थिकों) के प्रति अनादर एवं आक्रोश का भाव कम था एवं एक प्रकार की सत्योन्मुखी जिज्ञासा का प्राबल्य था। उस युग की घटनाओं का पर्यवेक्षण करने पर यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है कि उस युग के उच्चकोटि के विद्वान् चाहे वे वैदिक-परम्परा के रहे हों या श्रमण-परम्परा के, उनके अन्तर् में सत्य की बलवती जिज्ञासा थी, अनाग्रह बुद्धि थी। यथार्थ का अनुभव होने पर वे अपनी परम्परा और धारणा का जड़-आग्रह नहीं रखते थे। वे साम्प्रदायिक व्यामोह से दूर, सत्य के लिए समर्पित जीवन जीते थे। इन्द्रभूति गौतम जैसे ग्यारह दिग्गज वैदिक विद्वानों द्वारा भगवान् महावीर का शिष्यत्व स्वीकार कर निर्ग्रन्थ-प्रवचन में दीक्षित हो जाना—सत्य की जिज्ञासा का एक श्रेष्ठ तथा अविस्मरणीय प्रकरण है। वे विद्वान् गृहस्थ थे। अनेक परिव्राजक (वैदिक-भिक्षुक) भी समय-समय पर भगवान् महावीर के तत्त्व-ज्ञान से प्रभावित होकर उनके निकट आये, तत्त्व-चर्चा कर पूर्वाग्रहों से मुक्त हुए, कुछ श्रमणोपासक बने और कुछ श्रमण ही बन गए— इस प्रकार के अनेक घटना-प्रसंग तीर्थंकर महावीर के जीवन में घटित हुए, जिनमें से कुछ प्रसंगों की चर्चा यहाँ की जाती है।

पुद्गल परिव्राजक

आलंभिका नगरी[1] के शंखवन में पुद्गल नाम का एक परिव्राजक रहता था। पुद्गल विद्वान् भी था और तपस्वी भी। वह ऋग्वेद का गहन अभ्यासी था और दो-दो दिन का उपवास करके सूर्य के सन्मुख ऊर्ध्वबाहू खड़ा होकर आतापना आदि भी लेता था। पुद्गल बड़ा सरल और भद्रप्रकृति था। हृदय की सरलता एवं तपोजन्य

१ यह काशी देश का प्रसिद्ध नगरी थी।

प्रभाव के कारण उसे विभंगज्ञान उत्पन्न हुआ, जिसके द्वारा ब्रह्मदेवलोक तक के देवताओं की स्थिति जानने लगा। उसे लगा कि बस, संसार इतना ही है, जितना कि मैंने देखा है। वह अपने अपूर्ण ज्ञान को ही पूर्ण मानकर लोगों में उसका प्रचार करने लगा।

इसीप्रसंग पर भगवान् महावीर वाराणसी से राजगृह जाते हुए बीच में आलंभिका के शंखवन में रुके।[1] भगवान् के प्रधान शिष्य गणधर इन्द्रभूति भिक्षा के लिए नगर में गए तो वहाँ लोगों में पुद्गल परिव्राजक के दिव्य-ज्ञान की और लोक-विषयक धारणा की चर्चा सुनी। उन्हें लगा—पुद्गल की यह धारणा अधूरी व भ्रांत है, तथापि उसकी सत्यता के विषय में वे निश्चित रूप से जानने को उत्सुक हुए। वे भगवान् के निकट आये और प्रश्न किया।

भगवान् महावीर ने कहा—"गौतम! पुद्गल की धारणा भ्रांत है, अधूरी है। ब्रह्मदेवलोक से ऊपर भी देव-विमान हैं, ब्रह्मदेवलोक पांचवां देवलोक है, जबकि कुल देवलोक छब्बीस हैं और उनकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की है।"

प्रभु द्वारा किया गया यह स्पष्टीकरण उपस्थित श्रोताओं ने भी सुना और उसकी चर्चा पुद्गल परिव्राजक तक भी पहुंची। उसने पहले ही सुन रखा था कि तीर्थंकर महावीर सर्वज्ञ हैं, महान् तपस्वी हैं और संपूर्ण लोक-स्थिति के ज्ञाता हैं। उनके द्वारा कही हुई बात पर विचार करते हुए उसे अपने ज्ञान पर शंका होने लगी, वह विचार-वितर्क में उलझ गया और धीरे-धीरे उसका विभंगज्ञान भी लुप्त हो गया। अब उसे लगा—उसका अपना ज्ञान तो सचमुच ही भ्रांतिपूर्ण था। उसने जो कुछ प्रचार किया, वह असत्य था। अपने अज्ञान पर उसे क्षोभ भी हुआ। सत्य की जिज्ञासा प्रबल हुई, वह भगवान् महावीर से यथार्थज्ञान पाने के लिए शंखवन की ओर चल पड़ा।

पुद्गल भगवान् के समवसरण में जा पहुंचा। वन्दना-नमस्कार कर उसने प्रभु का उपदेश सुना, तत्त्व-चर्चा की। उसके अज्ञान की ग्रन्थि खुल गई, संशय छिन्न हो गया, और सत्य की दिव्य आस्था हृदय में चमक उठी। उसकी सत्य-श्रद्धा का वेग इतना प्रबल था कि वह अपने दंड-कमंडलु आदि समस्त बाह्य परिवेश का त्याग-कर भगवान् का शिष्य बन गया। श्रमणधर्म ग्रहण कर उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और विविध प्रकार के तपों की आराधना करता हुआ कर्ममुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त हुआ।[2]

१ दीक्षा का अठारहवाँ वर्ष। वि. पु. ४९५-४९४।

२ विस्तृत वर्णन के लिए देखिए—भगवती सूत्र ११।१२

स्कन्दक परिव्राजक

श्रावस्ती के निकट गर्दभालि नामक आचार्य का एक विशाल आश्रम था, वहां स्कन्दक नामक परिव्राजक रहता था। स्कन्दक गर्दभालि का प्रमुख शिष्य था और वेद-वेदांग, षष्टितंत्र, दर्शनशास्त्र आदि का प्रकांड विद्वान् था। विद्वत्ता के साथ उनमें विनम्रता, सरलता और तत्त्व-जिज्ञासा भी थी, वह विशिष्ट तपस्वी भी था।

एक बार स्कन्दक श्रावस्ती में आया। वहां पिंगलक नामक निर्ग्रन्थ श्रमण से उसकी भेंट हुई। ज्ञान-चर्चा चली तो पिंगलक ने स्कन्दक से कुछ प्रश्न पूछे। स्कन्दक यद्यपि विद्वान् था, पर पिंगलक के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सका, वह मौन रहा और उनका उत्तर सोचने लगा।

उन्हीं दिनों श्रावस्ती के निकटवर्ती कृतंगला नगरी के छत्रपलास उद्यान में भगवान् महावीर का आगमन हुआ।[1] उसने श्रावस्ती में इसकी हलचल देखी तो स्कन्दक ने सोचा—श्रमण महावीर महान् ज्ञानी हैं, मैं उन्हीं के पास जाकर इन प्रश्नों का समाधान प्राप्त करूं। जिज्ञासा जब प्रबल होती है तो वह न परम्परा का बन्धन मानती है और न क्षेत्र की दूरी ही उसके वेग को मंद कर सकती है। तत्त्व-जिज्ञासा ने स्कन्दक को भगवान् महावीर के समवसरण की ओर बढ़ा दिया। वह अपने परिव्राजक वेश के सभी उपकरणों व चिह्नों के साथ कृतंगला की ओर चल पड़ा।

उस समय भगवान् महावीर ने गणधर गौतम को संबोधित करके कहा—"गौतम! आज तुम अपने एक पूर्व-परिचित स्नेही (बाल-मित्र) को देखोगे।" उत्सुकता के साथ गौतम ने पूछा—"भंते! मैं किस पूर्व-परिचित को देखूंगा?"

महावीर—"तुम आज कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को देखोगे।"

गौतम—"भंते! वह यहां क्यों आ रहा है?"

महावीर—"पिंगलक श्रमण ने उससे लोक व सिद्धिविषयक अमुक प्रश्न पूछे हैं, जिनका उत्तर स्कन्दक नहीं दे सका। उन प्रश्नों का उत्तर खोजने में उसकी मेधा उलझ गई, उसके मन में जिज्ञासा प्रबल हुई, तभी उसे हमारे आगमन की सूचना मिली तो वह अपने मन की उलझी गुत्थी को सुलझाने यहां आ रहा है।"

भगवान् के उत्तर से गौतम का औत्सुक्य बढ़ गया। जैसे उन्हें अपने ही पूर्व-जीवन की स्मृति का मधुर संवेदन होने लगा। वे भी एक दिन पहले प्रतिवादी बनकर, फिर जिज्ञासावश प्रभु के निकट आये थे और सत्य का महाप्रकाश प्राप्तकर

1 दीक्षा काल का तेईसवां वर्ष—वि. पू. ४९०-४८९।

कृतकृत्य हुए। उन्हें स्कन्दक के साथ एक अज्ञात समानता का अनुभव होने लगा। पूछा—"क्या स्कन्दक (मेरी भाँति ही) आपका शिष्य बन सकेगा? क्या उसकी जिज्ञासा में भी वह जागृति है, उसके ज्ञान में यह पात्रता है?"

गौतम के प्रश्न का समाधान देते हुए प्रभु ने कहा—"हां, गौतम! स्कन्दक में भी वह योग्यता है, श्रमणधर्म को स्वीकार कर वह परमपद—निर्वाण को भी प्राप्त कर सकेगा।"

वार्तालाप चल ही रहा था कि स्कन्दक भगवान् के समवसरण के निकट आ गया। उसे देखते ही गौतम उठे, कुछ कदम सामने गए। प्रसन्नमुद्रा में बोले—"मागध! आप आ गए! स्वागत है सत्य की समर्थ जिज्ञासा का।"

गौतम की वाणी से आत्मीयता के मधुर स्वर मुखरित हो रहे थे, जिनकी स्नेहार्द्रता से स्कन्दक प्रथम क्षण ही भाव-विभोर होकर अत्यंत अपनत्व का अनुभव करने लगा। गौतम ने पूछा—"मागध! क्या यह सच है कि पिंगलक निर्ग्रन्थ ने तुमसे—

लोक सान्त है या अनन्त?
जीव सान्त है या अनन्त?
सिद्धि (मोक्ष) सान्त है या अनन्त?
सिद्ध (मुक्त आत्मा) सान्त है या अनन्त?
किस मरण को प्राप्त करने से भव-परम्परा बढ़ती तथा घटती है?

ये पाँच प्रश्न पूछे और इनका उत्तर दे पाने में अपनी असमर्थता देखकर तुम भगवान् महावीर के निकट समाधान पाने आये हो?"

आश्चर्यचकित स्कन्दक ने कहा—"श्रमणवर! आपका कथन बिल्कुल सत्य है। पर ऐसा कौन ज्ञानी व तपस्वी है, जिसने मेरे गुप्त मनोभावों को जाना?"

गौतम ने भगवान् महावीर की ओर संकेत करते हुए कहा—"मेरे धर्माचार्य भगवान् महावीर ही ऐसे ज्ञानी व तपस्वी हैं। ये तीन काल के समस्त भावों को जानने, देखने में सर्वथा समर्थ हैं।"

स्कन्दक—"अच्छा! तब चलिये, सर्वप्रथम उन्हीं महापुरुष की वन्दना कर लूं।"

स्कन्दक गौतम के साथ भगवान् महावीर के समक्ष आया। भगवान् के दिव्य, अलौकिक रूप व ओज-तेजयुक्त मुखमंडल को देखकर वह विमुग्ध हो गया। प्रभु के दर्शनमात्र से ही उसका हृदय श्रद्धा-विभोर हो गया। वह समस्त विकल्पों को भूल गया और हर्षावेग के साथ प्रभु-चरणों में विनत हो गया।

भगवान् महावीर ने स्कन्दक के संशयों का सापेक्षवाद की (द्रव्य तथा भाव की अपेक्षा) प्ररूपण-पद्धति से समाधान किया।[1]

अपने समस्त प्रश्नों का समाधान पाकर स्कन्दक का हृदय प्रतिबुद्ध हो उठा। उसने निर्ग्रन्थ धर्म का उपदेश व आचार सुना। उस पर श्रद्धा हुई, चलने का दृढ़ संकल्प जगा और श्रद्धापूरित भाषा में वह बोला—"भगवन्! यह संसार अग्नि-ज्वालाओं में झुलसते हुए घर के समान है। जलते घर में से जो भी सारभूत पदार्थ है, उसे लेकर गृह-स्वामी बाहर निकल आता है। भगवन्! इस जन्म-मृत्यु की अग्नि से जलते हुए संसार दावानल में से मैं भी अपनी आत्मा को बचाना चाहता हूं—यही मेरा सर्वस्व है।"

भगवान् ने कहा—"स्कन्दक! जिस प्रकार तुम्हारी आत्मा को सुख व हित हो, वैसा करो।"

स्कन्दक ने परिव्राजक परिवेश का त्याग कर श्रमण-आचार को स्वीकार किया। स्कन्दक श्रमण बन गया। उसने ग्यारह अंग-शास्त्रों का अध्ययन किया। भिक्षु की बारह प्रतिमाएं तथा गुण-रत्न संवत्सर आदि तप का आराधन कर उसने समाधि-मरण प्राप्त किया।[2]

शिव राजर्षि का संशय-निवारण

समय-समय पर अपनी शंकाओं का निवारण कर सत्य का दर्शन करने वाले जिज्ञासु परिव्राजकों के दो प्रसंग यहाँ आ चुके हैं, अन्य भी अनेक जिज्ञासु परिव्राजक भगवान् के सान्निध्य में आते रहे हैं। उनमें से एक थे—शिव राजर्षि।

शिव हस्तिनापुर के राजा थे। बड़े संतोषी, धर्म-प्रेमी! संसार से वैराग्य होने पर राज्य त्याग कर वे दिशा-प्रोक्षक तापस बन गए और उग्र तप करने लगे। कठिन तपश्चरण के कारण उन्हें विभंग ज्ञान प्राप्त हुआ, जिससे वे सात समुद्र व सात द्वीपों तक देखने-जानने लगे।

यह ज्ञान-दृष्टि प्राप्त होने पर शिवराजर्षि अपनी तपोभूमि से उठकर हस्तिनापुर में गए और वहाँ के लोगों से कहने लगे—"संसार भर में सात द्वीप व सात समुद्र ही हैं, बस इतना ही विशाल है—यह विश्व।"

जिस समय भगवान् महावीर हस्तिनापुर में आये[3], वहाँ शिवराजर्षि अपने

१ स्कन्दक की चर्चा देखिए 'ज्ञान गोष्ठियां' प्रकरण में।

२ विशिष्ट विवरण के लिए देखिये—'भगवती-सूत्र' शतक २ उद्देशक १।

३ दीक्षा का अठाईसवां वर्ष, वि. पू. ४८५-४८४।

नये सिद्धान्त का प्रचार कर रहे थे। जनता में इस नई बात की काफी चर्चा थी। इन्द्रभूति गौतम नगर में भिक्षा-चर्या के लिए गए तो जनता में सात द्वीप-समुद्र के सम्बन्ध में ऊहापोह सुना। वे लौटकर भगवान् के पास आये और उसकी यथार्थता के विषय में प्रश्न किया। भगवान् ने कहा—"गौतम! शिवराजर्षि का सात द्वीप व सात समुद्र विषयक प्रतिपादन भ्रांतिपूर्ण है, इस विश्व में तो जम्बूद्वीप आदि असंख्य द्वीप व लवणसमुद्र आदि असंख्य ही समुद्र हैं।"

भगवान् महावीर का प्रवचन जिन लोगों ने सुना, उनमें से कुछ लोगों ने शिवराजर्षि के समीप जाकर कहा—"श्रमण तीर्थंकर महावीर का कथन है कि आपका सिद्धान्त मिथ्या है, विश्व में द्वीप-समुद्र सात नहीं, किन्तु असंख्य हैं।"

शिवराजर्षि ने भगवान् महावीर की दिव्य ज्ञान-शक्ति के सम्बन्ध में कई बार चर्चाएं सुनी थीं, वे मानते थे—महावीर यथार्थ-भाषी हैं। उनके मन में अपने ज्ञान के सम्बन्ध में संशय हुआ—"क्या मेरा ज्ञान अपूर्ण है?" इन्हीं विकल्पों में शंका-ग्रस्त होते हुए वे विभंगज्ञान को भी खो बैठे। वे सोचने लगे "सचमुच ही महावीर का कथन सत्य होगा। उन्हें अनेक योग-विभूतियां प्राप्त हैं। मैं भी उन महापुरुष के निकट जाकर अपनी भ्रांति दूर करूं।"

श्रद्धा और जिज्ञासा जगने पर सत्य का द्वार खुले बिना नहीं रहता। शिव राजर्षि हस्तिनापुर के सहस्राम्रवन की ओर जैसे-जैसे बढ़ रहे थे, सत्य की सुरभि उनकी अन्तरात्मा को प्रफुल्लित कर रही थी। वे भगवान् महावीर की धर्म-सभा में पहुंचे। प्रथम दर्शन में ही श्रद्धाभिभूत होकर त्रि-प्रदक्षिणा के साथ वे एक ओर बैठ गए।

सर्वदर्शी प्रभु ने अपने प्रवचन में ही शिवराजर्षि के समस्त संशयों का निराकरण कर दिया। उनके अन्तरंग में सत्य का सहस्ररश्मि उदित हो गया वे श्रद्धा व संकल्प के साथ खड़े हुए और उन्होंने निर्ग्रन्थ-धर्म की दीक्षा स्वीकार कर ली।

स्थविरों के सान्निध्य में रहकर शिवराजर्षि ने पहले ज्ञानार्जन किया, फिर तपश्चरण। अन्त में कर्ममुक्त होकर सिद्धगति को प्राप्त हुए।[1]

कालोदायी की तत्त्व-जिज्ञासा और प्रव्रज्या

भगवान् महावीर के पास तत्त्व-चर्चा करने जो प्रमुख परिव्राजक आये, उनमें से कुछ परिव्राजकों की चर्चा इन पृष्ठों पर दी जा चुकी है। समय-समय पर और

[1] विशेष विवरण के लिए देखिये—भगवती-सूत्र शतक ११, उद्देशक ९

भी अनेक परिव्राजक भगवान् के पास, उनके शिष्यों -गौतम आदि के पास तथा श्रमणोपासकों के साथ भी तत्त्व-चर्चा करते रहे हैं और उचित समाधान पाकर श्रमण-धर्म में दीक्षित भी होते रहे हैं। कालोदायी आदि परिव्राजकों की तत्त्व-चर्चा का वर्णन मद्दुक श्रावक के प्रसंग में दिया गया है, उसके कुछ ही समय के बाद पुनः वे परिव्राजक भगवान् महावीर के पास आये, जिसका वर्णन इस प्रकार है—

कालोदायी-शैलोदायी आदि परिव्राजकों ने मद्दुक श्रमणोपासक के साथ तत्त्व-चर्चा करने के बाद समाधान तो पाया, पर उनकी जिज्ञासा का वेग शांत नहीं हुआ, बल्कि और अधिक तीव्र हो गया। वे समय-समय पर श्रमण महावीर के तत्त्व-दर्शन पर चर्चा करते रहे।

एक बार कालोदायी आदि परिव्राजकों में महावीर द्वारा प्ररूपित पंचास्तिकाय की चर्चा चल रही थी, उसी समय गणधर इन्द्रभूति उन्हें राजगृह के परिपार्श्व में दिखाई दिये। वे सभी गौतम के पास आये और बोले—"गौतम! आपके धर्माचार्य पाँच अस्तिकायों में एक को जीवकाय तथा चार को अजीवकाय बताते हैं, एक को रूपीकाय तथा चार को अरूपीकाय बताते हैं—इसका क्या रहस्य है ?"

गौतम—"देवानुप्रियो! जो अस्ति है (है), उसको अस्ति और जो नास्ति (नहीं है), उसको नास्ति कहा जाता है, इसका रहस्य तो आप स्वयं सोचिए !"

गौतम के रहस्यपूर्ण उत्तर से परिव्राजक और उलझन में पड़ गए। वे गौतम के पीछे-पीछे चलकर श्रमण भगवान् की धर्म-सभा में आये।[1]

भगवान् महावीर ने परिव्राजकों के मन की बात प्रकट करते हुए कहा—"कालोदायिन्! तुम्हारी सभा में पंचास्तिकाय पर जो चर्चा चल रही थी, उसके विषय में अधिक स्पष्ट जानने के लिए ही तुम लोग यहाँ आये हो ......?"

"जी हाँ, ऐसा ही है"—कालोदायी ने कहा और अधिक उत्कंठा से वे भगवान् से अपनी शंकाओं का समाधान पूछने लगे। भगवान् ने विस्तार के साथ उनकी शंकाओं का समाधान करते हुए कहा—"कालोदायी! धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव ये पाँच अस्तिकाय हैं। इनमें पुद्गल रूपीकाय है शेष चार अरूपीकाय हैं।"

कालोदायी—"भगवन्! क्या धर्म, अधर्म आदि अरूपीकाय पर कोई सो सकता है, बैठ सकता है ?"

१ दीक्षा का ३४ वाँ वर्ष—ग्रीष्म काल वि. पू. ४७९-४७८

भगवान्—"कालोदायी ! ये क्रियाएं सिर्फ पुद्गलास्तिकाय पर ही संभव हैं, अन्य काय पर नहीं, क्योंकि वे अरूपी हैं।"

इसप्रकार अनेक प्रश्नोत्तरों के बाद परिव्राजकों को भगवान के उत्कृष्ट यथार्थ ज्ञान पर श्रद्धा हो गई, विश्वास जम गया। बस, विश्वास जगा तो अज्ञान भगा ! कालोदायी भगवान् का शिष्य बन गया और निर्ग्रन्थ-प्रवचन का गहरा अभ्यास कर विशिष्ट तत्त्वज्ञ बन गया।[1]

श्रमणोपासक अम्बड़

पुद्गल, स्कन्दक एवं शिव ऋषि की घटनाएं यह स्पष्ट जताती हैं कि वह युग एक प्रकार की सत्य-जिज्ञासा का युग था। प्रतिपक्ष-परम्परा के प्रमुख विद्वान और धर्मनेता भी जब भगवान् महावीर के सत्य कथन के प्रति आकृष्ट हुए तो वह फिर अगल-बगल नहीं झांकते थे, किंतु अपना पूर्वाग्रह त्यागकर, परम्परा का व्यामोह छोड़कर सर्वात्मना उस सत्य को स्वीकार करके आगे बढ़ते थे।

इन्हीं घटनाओं के साथ अम्बड़ परिव्राजक का भी उल्लेख कर देना चाहिए, जो एक बहुत बड़ा प्रतिष्ठित धर्मनेता और अनेक चमत्कारी विद्याओं का धारक होते हुए भी अपनी परम्परागत धारणाओं का त्यागकर भगवान् महावीर की सम्यक् ज्ञान-दर्शनमूलक सत्य दृष्टि का उपासक बना।

औपपातिक सूत्र के अनुसार अम्बड़ के सात सौ परिव्राजक शिष्य थे। वह ब्राह्मण था, किंतु भगवान महावीर का तत्त्व-बोध पाकर श्रमणोपासक बन गया।

अम्बड़ की विभूतियों आदि के सम्बन्ध में स्वयं भगवान महावीर ने जो वर्णन किया, वह इस प्रकार है।

एक बार भगवान महावीर पांचालदेश की राजधानी कांपिल्यपुर पधारे।[2] वहां पर इन्द्रभूति गौतम ने जनता में अम्बड़ परिव्राजक के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारी बातें सुनीं। तब जिज्ञासु इन्द्रभूति ने भगवान से पूछा, तो भगवान ने बताया—"गौतम ! अम्बड़ परिव्राजक विनीत और भद्रप्रकृति वाला है। वह निरंतर छट्ठ-छट्ठ तप का पारणा करते हुए सूर्य के सामने ऊंची भुजाएं करके आतापना लेता है। दुष्कर तप, शुभ परिणाम और प्रशस्त लेश्याओं के कारण उसे वैक्रियलब्धि, वीर्यलब्धि और अवधिज्ञानलब्धि प्राप्त हुई है। इन लब्धियों के कारण अम्बड़

१ विस्तृत चर्चा जानने के लिए—'भगवती-सूत्र', शतक ७, उद्देशक १०
२ दीक्षा काल का इक्कीसवां वर्ष। (वि. पू. ४८२-४८१)

अपने सौ रूप बना कर सौ घरों में रहता और भोजन करता हुआ लोगों को आश्चर्यचकित करता है। वह हरी वनस्पति का छेदन-भेदन और स्पर्श तक नहीं करता तथा अर्हन्तों (निर्ग्रन्थों) का अनन्य भक्त है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक परम्परा के प्रमुख धर्मनेता और विद्वानों में भगवान् महावीर की सर्वज्ञता तथा वीतरागता के प्रति एक अपूर्व आकर्षण और आस्था का वातावरण बन गया था, जिस कारण वे उनकी ओर खिंचे हुए आये और उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। सोमिल जो मगध (वाणिज्यग्राम) का प्रसिद्ध वेद-वेदांग का पंडित था, वह भी भगवान महावीर के पास आकर तत्त्वचर्चा करके श्रमणोपासक बना, जिसकी चर्चा ज्ञानगोष्ठी प्रकरण में दी गई है।

गोशालक का उपद्रव

फूल के साथ कांटा भी जन्म लेता है, चन्दन के साथ भुजंग भी लिपटे रहते हैं, प्रकाश के पीछे-पीछे अन्धकार भी चला आता है, गुण के पीछे अवगुण भी चलते हैं और सज्जनों के पीछे दुर्जन भी अपनी करतूतें दिखाते रहते हैं। भगवान् पार्श्व-नाथ को कष्ट व संकटों से उत्पीड़ित करने की कुचेष्टा करनेवाला 'कमठ' भी संसार में आया तो भगवान् महावीर को संत्रास देनेवाले 'संगम' और 'गोशालक' भी इस संसार में पैदा हुए। लगता है भलाई के पीछे बुराई का, साधुता के पीछे असाधुता का कोई क्रम संसार में प्रायः चलता ही रहा है।

आश्चर्य की बात है कि विश्ववत्सल भगवान् महावीर के जीवन में जहाँ उत्कट अहिंसा, परम करुणा और प्राणिमात्र के प्रति असीम हितकांक्षा की मधुर, सरस त्रिवेणी बहती थी, वहाँ उन पर द्वेष-वैमनस्य से पूर्ण अत्यन्त क्रूर व प्राण-घातक आक्रमण करने वाले भी पैदा होते रहे। साधकजीवन में अनेक प्राणांतक कष्ट सहे सो तो सहे ही, तीर्थंकर जीवन में भी उन्हें गोशालक जैसे गुरुद्रोही के आक्रमण का शिकार होना पड़ा। इतिहास का यह एक आश्चर्यकारी तथा हृदय-द्रावक प्रसंग है।

भगवान् महावीर के जीवन का ५७वां वर्ष अर्थात् दीक्षा-जीवन का सत्ताईसवां वर्ष (वि० पू० ४८६) उनके लिए सबसे कठिन और कष्टपूर्ण सिद्ध हुआ। यद्यपि वे वीतराग पुरुष थे, इसलिए मानसिक संक्लेश की स्थिति से तो पूर्णतः मुक्त थे, किन्तु फिर भी इस अवधि में उनके धर्मसंघ को भी काफी क्षति उठानी पड़ी और स्वयं

भगवान् महावीर को भी अत्यन्त विकट शारीरिक वेदना भोगनी पड़ी। इसी अवधि में पहले वैशाली का महायुद्ध हुआ। वैशाली के विध्वंस की घटना अभी ताजा ही थी कि श्रावस्ती में गोशालक का विद्रोह और फिर जमालि के साथ मतभेद खड़ा हो गया।

समतासागर भगवान् महावीर के साथ गोशालक के विद्रोह का प्रकरण निम्न-प्रकार है—

पहले बताया जा चुका है कि महावीर को दीक्षा लिए जब दो वर्ष होने आये थे तब नालन्दा में गोशालक उनका स्वयंभू शिष्य बना था। लगभग छः वर्ष तक वह भगवान के साथ-साथ रहा। अनेक प्रकार के मान-अपमान, पीड़ा एवं संत्रास भी उसने सहे, किन्तु अन्त में इन कष्टों से घबराकर वह भगवान् से पृथक् हो गया। यह ध्यान देने की बात है कि जब गोशालक महावीर के साथ रहा, तो महावीर के प्रति उसके मन में भक्तिभाव था, भले ही वह चपल, कुतूहलप्रिय तथा कुछ उद्दण्डवृत्ति का रहा। किन्तु जब कहीं महावीर की विशिष्टता का प्रसंग आता तो वह दूसरों का तिरस्कार कर अपने धर्माचार्य के तपस्तेज की दुहाई देने से भी नहीं चूकता था। महावीर ने भी उसे वेश्यायन तपस्वी द्वारा प्रयुक्त तेजोलेश्या से भस्मसात् होते-होते अनुकम्पापूर्वक बचाया था और तेजोलब्धि जैसी तपःशक्ति की साधना का मार्ग भी बताया।

ये घटनाएँ अब इतिहास के पृष्ठों में दब चुकी थीं। गोशालक तेजोलब्धि एवं निमित्तज्ञान जैसी शक्तियाँ प्राप्तकर अभिमान से गदरा उठा था। जनता में उसकी शक्ति का सिक्का जम चुका था और वह अपने को आजीवकमत का आचार्य बताने लग गया था। इससे भी बढ़कर वह स्वयं को तीर्थंकर भी बताकर लोगों में झूठा गौरव व दम्भ फैलाने लगा। श्रावस्ती गोशालक का प्रमुख केन्द्र था, वहाँ 'अयंपुल'[1] नाम का गाथापति और हालाहला नाम की कुम्हारिन गोशालक के परम भक्त थे। गोशालक अधिकतर श्रावस्ती में हालाहला की भाँडशाला में ही ठहरता था।

जिन दिनों गोशालक श्रावस्ती में अपने को तीर्थंकर प्रसिद्ध कर रहा था; उन्हीं दिनों[2] भगवान महावीर श्रावस्ती के कोष्ठक-उद्यान में आकर ठहरे। श्रावस्ती के बाजारों में यह चर्चा होने लगी कि—"आजकल श्रावस्ती में दो तीर्थंकर आये हुए हैं।"

१ यह गोशालक के दस प्रमुख श्रावकों में एक था।

२ दीक्षा का सताईसवां वर्ष (वि. पू. ४८६)

गणधर इन्द्रभूति भिक्षार्थ पर्यटन कर रहे थे, जब उन्होंने यह जनप्रवाद सुना तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। वे भगवान के निकट आये और इस मिथ्या जनप्रवाद पर टिप्पणी करते हुए भगवान् से पूछा—"भंते ! आजकल श्रावस्ती में दो तीर्थंकरों के विचरण की चर्चा हो रही है, क्या गोशालक सर्वज्ञ एवं तीर्थंकर है ?"

महावीर प्रारम्भ से ही सत्य के दृढ़ समर्थक रहे। जहां कहीं अन्धविश्वास, मिथ्याडम्बर, पाखण्ड व दम्भ देखते, वे उस पर कठोर प्रहार करते। भले ही उसका कुछ भी मूल्य चुकाना पड़े। गोशालक जैसे तेजःशक्तिसम्पन्न दुष्ट के साथ संघर्ष के परिणाम भी महावीर से छिपे नहीं थे, किन्तु उनकी प्रखर सत्यनिष्ठा उस समय मौन नहीं रह सकी, उन्होंने कहा—"गौतम ! गोशालक जिन व तीर्थंकर कहलाने के योग्य नहीं। उसका हृदय राग-द्वेष, अज्ञान व मोह से कलुषित है, फिर वह जिन व तीर्थंकर कैसे हो सकता है ? आज से चौबीस वर्ष पूर्व वह मेरा शिष्य बनकर रहा था, स्थान-स्थान पर अपने स्वच्छन्द एवं उद्दण्ड व्यवहार के कारण उसे अपमान, ताड़ना एवं भर्त्सनाएँ सहनी पड़ीं। एकबार तो अग्नि वेश्यायन तपस्वी की तेजः-शक्ति से भस्म होते-होते मैंने उसे बचाया, फिर मैंने उसे तेजोलब्धि की साधना-विधि भी बताई। बस, वह थोड़ी-सी शक्ति और लब्धि पाकर आज अपने को तीर्थंकर बताने लग गया है.......यह सब पाखण्ड है....... गोशालक का कथन सर्वथा मिथ्या प्रलाप है ....।" भगवान् ने गोशालक का पूर्व इतिहास भी बताया।

गोशालक के सम्बन्ध में की गई महावीर की घोषणा गोशालक के कानों तक पहुंची, बस, सुनते ही वह आगबबूला हो उठा। महावीर द्वारा किया गया सत्योद्घाटन गोशालक के बढ़ते हुए सम्मान पर गहरी चोट थी। गोशालक तिलमिला उठा। वह बाहर आया, आनन्द नाम के एक अनगार भिक्षाचर्या करते हुए उधर से निकले। गोशालक ने उसे रोककर कहा—"आनन्द ! जरा ठहर ! अपने धर्माचार्य महावीर से जाकर कह दे कि मुझ से छेड़-छाड़ न करें। उन्हें समझा दे कि मेरे विषय में कुछ भी अनर्गल कहना, सांप से भिड़ना है। उन्हें बहुत मान-सम्मान मिल चुका है, फिर भी उन्हें अब तक सन्तोष नहीं। इसलिए वे मुझसे टकराना चाहते हैं। बार-बार वे मेरे विषय में कहते हैं 'यह मंखलिपुत्र है, छद्मस्थ है, मेरा शिष्य रहा है।' यह ठीक नहीं, जा, अपने धर्माचार्य को सावधान कर दे, मैं आता हूं और अभी सबकी बुद्धि ठिकाने लगाता हूं।" यों कहते-कहते ही गोशालक की आँखों में खून उतर आया। उसके होठ फड़फड़ाने लगे। गोशालक की क्रोधपूर्ण गर्वोक्ति सुनकर श्रमण आनन्द जरा भयभीत हुए और तत्काल भगवान् महावीर के निकट आकर सब बातें कहीं। फिर आनन्द ने पूछा—"भंते ! क्या गोशालक अपने तपस्तेज से किसी को भस्म कर सकता है ?"

"हाँ, आनन्द ! गोशालक अपनी तेजःशक्ति से किसी को भी भस्मसात् कर सकता है, किन्तु उसकी तेजःशक्ति किसी तीर्थंकर को नहीं जला सकती। जितना तपोबल गोशालक में है, उससे अनन्तगुना तपोबल निर्ग्रन्थ अनगारों में होता है, पर अनगार क्षमाशील होते हैं, क्रोध का निग्रह करने में समर्थ होते हैं, अतः वे अपनी तपःशक्ति का दुरुपयोग नहीं करते। अनगारों से अनन्तगुनी तपःशक्ति स्थविरों में होती है, और स्थविरों से अनन्तगुनी तपःशक्ति अर्हन्तों में होती है, किन्तु वे स्थविर तथा अर्हन्त भगवन्त क्षमाशील होते हैं। अपनी तपोलब्धि से वे किसी आत्मा को कष्ट नहीं पहुंचाते।

"आनन्द ! तुम गोशालक के आगमन की सूचना गौतम आदि स्थविरों को दे दो। इस समय वह द्वेष, मात्सर्य एवं म्लेच्छभाव से आक्रांत है, वह मुँह से कुछ भी ऊलजलूल बोले, मगर कोई भी श्रमण उसका प्रतिवाद न करें। क्रोधाविष्ट नर यक्षाविष्ट जैसा होता है, क्रोध एवं मान के आवेश में मनुष्य कुछ भी दुष्कृत्य कर सकता है, इसलिए कोई भी श्रमण, गोशालक के साथ किसी प्रकार की चर्चा-वार्ता न करें।"

अनगार आनन्द ने भगवान् महावीर का सन्देश समस्त मुनिमण्डल तक पहुंचा दिया। तभी क्रोध में लाल-पीला हुआ गोशालक अपने आजीवक भिक्षुसंघ के साथ महावीर के समक्ष उद्धततापूर्वक आकर खड़ा हुआ। क्षणभर चुप रहकर वह बोला—"काश्यप ! क्या खूब कहा तुमने भी ? मैं गोशालक मंखलिपुत्र हूं ? तुम्हारा शिष्य हूं ? वाह ! वाह ! कितना अंधेर है ! सर्वज्ञ होकर भी तुम तो कुछ नहीं जानते ? यही है तुम्हारी सर्वज्ञता ? तुम्हें मालूम होना चाहिए, कि तुम्हारा शिष्य मंखलि गोशालक तो कब का परलोक सिधार गया ?

"गोशालक के इस शरीर में मैं उदायी कुण्डियायन धर्म-प्रवर्तक की आत्मा हूं। मेरा यह सातवां शरीरान्तर-प्रवेश है। पर तुम्हें अब तक कुछ पता नहीं ! अभी भी अपने शिष्य गोशालक की रट लगाए जा रहे हो ? काश्यप ! सुनो…!" और गोशालक ने उदायी कुण्डियायन से लेकर अपने तक सात शरीरान्तर-प्रवेश तक की कल्पित कहानी सुनाई और अन्त में पुनः दृढ़ स्वर में कहा—"अब तुम्हें पता चल गया न ? मैं गोशालक नहीं, किंतु गोशालक शरीरधारी उदायी कुण्डियायन हूं।"

गोशालक को यों खुलकर निर्लज्जतापूर्वक बकवास करते देखकर महावीर मौन नहीं रह सके—"गोशालक ! जैसे कोई चोर एक-आध ऊन व पटसन के रेशे से, रुई के छोटे से फूल से अपने को ढककर छिपाने की बालचेष्टा करता है, वैसी

ही यह तुम्हारी आत्म-गोपन की चेष्टा है। तुम वही गोशालक होकर अपने को दूसरा बताने की झूठी कोशिश कर रहे हो ! ऐसा करके तुम किसी बुद्धिमान की आँखों में धूल नहीं झोंक सकते ……?"

महावीर की सत्य घोषणा सुनकर गोशालक आपे से बाहर हो गया। वह जमीन पर पैर पीटता हुआ बोला—"काश्यप ! मालूम होता है, अब तुम्हारा विनाश-काल निकट आ गया है। यह समझ लो कि तुम दुनिया में थे ही नहीं ! मृत्यु का चक्र तुम्हारे सिर पर घूमने लग गया है…।"

गोशालक के ये उग्र और कर्कश वचन सुनकर महावीर के शक्ति-संपन्न शिष्यों के रक्त में उबाल आना स्वाभाविक था। गुरु का अपमान शिष्य के लिए मृत्यु से भी अधिक त्रासदायक होता है। फिर भी महावीर के संकेतानुसार सब श्रमण मौन रहे। सर्वानुभूति नाम के एक अनगार से यह सब नहीं सहा गया। वे उछल कर खड़े हो गए और बोले—"गोशालक ! कोई व्यक्ति किसी साधु पुरुष से एक भी हितवचन सुन लेता है तो वह उसे वंदन-नमस्कार करता है। भगवान् महावीर को तो तुमने अपना गुरु माना था, इन्होंने तुम्हें ज्ञानदान दिया है, तुम आज ऐसे सर्वज्ञ पुरुष की भी निन्दा कर रहे हो ? इन वीतराग भगवान् के प्रति भी इतना म्लेच्छ भाव और इतना उग्रद्वेष ! यह तुम्हारे हित में नहीं होगा।"

इन वचनों ने गोशालक की क्रोधाग्नि में घी का काम किया। उसने उसी समय तेजोलेश्या का प्रयोग कर सर्वानुभूति अनगार के शरीर को भस्म कर डाला। और फिर उन्मत्त की भाँति प्रलाप करने लगा। यह देखकर सुनक्षत्र नाम के अनगार की सहिष्णुता का बाँध भी टूट गया। वे भी सर्वानुभूति अनगार की भाँति गोशालक को समझाने गये। गोशालक ने उन पर भी तेजोलेश्या का प्रयोग कर आहत कर डाला। वे भी अंतिम आलोचना कर समाधि-मृत्यु को प्राप्त हुए।

अहिंसा के अवतार की धर्म-सभा में उन्हीं के सामने दो निरपराध मुनियों का बलिदान ! क्या अनहोना हो रहा था। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। इतने पर भी गोशालक की क्रोधाग्नि शांत नहीं हुई। वह क्रोध में अनर्गल प्रलाप करता रहा। उसके दुराचरण पर प्रभु ने एक बार फिर उसे समझाया। पर परिणाम उलटा ही आया। उसने रोष में आकर भगवान् महावीर पर ही अपनी तेजोशक्ति का प्रयोग कर डाला। उसका अटल विश्वास था कि वह महावीर को भस्म कर डालेगा, पर उसका विश्वास झूठा सिद्ध हुआ। गोशालक द्वारा फेंकी हुई तेजोलेश्या महावीर के शरीर से टकराकर पहाड़ से टकराती हुई तेज हवा की भांति लौटकर चक्कर काटने लगी। ज्वालाएँ कुछ ऊँची उठीं और फिर गोशालक के शरीर में घुस गईं।

तेजोलेश्या जैसे ही लौटकर गौशालक के शरीर में प्रविष्ट हुई, वह आकुल-व्याकुल हो उठा, उसका रोम-रोम जलने लगा। अन्तर् की तपन को बाहर फेंकते हुए वह बोला—"काश्यप ! मेरे तपस्तेज से तुम छह महीने के अंदर छद्मस्थदशा में ही मृत्यु के ग्रास बन जाओगे।"

गौशालक की मूर्खता पर महावीर को तरस आगई। अपने ही शस्त्र से स्वयं घायल होकर तड़फते हुए गौशालक के इन अहंकारपूर्ण शब्दों में जैसे उसकी मृत्यु की अंतिम चेतावनी थी। महावीर ने स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा—"गौशालक ! अब भी तुम अंधकार में भटक रहे हो ? तुम देख चुके हो, तुम्हारी तेजोलेश्या मुझ पर कुछ भी असर नहीं कर पाई है, प्रत्युत तुम अपनी ही तेजोज्वाला से दग्ध होकर तड़फ रहे हो। अब भी तुम समझो। सात दिन के भीतर तो तुम अपनी जीवनलीला समाप्त कर ही जाओगे.......क्या ही अच्छा हो कि अपने घोर दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप कर अपना अंतिम जीवन सुधार लो।"

महावीर अब भी गोशालक के कल्याण की कामना कर रहे थे। पर गौशालक अपनी करतूतों से बाज नहीं आ रहा था। वह महावीर को अब भी गालियाँ दे रहा था। उसकी तेजोलेश्या क्षीण हो चुकी थी। वह विषदन्त उखड़े सर्प की तरह, जली हुई घास की तरह निर्वीर्य एवं निस्तेज स्थिति में महावीर के सामने कुछ क्षण खड़ा रहा। आखिर जैसे-जैसे तेजोलेश्या से वह भीतर-ही-भीतर दग्ध होने लगा, अकुलाकर चीख उठा—'हाय मरा !' और वह लड़खड़ाता हुआ दयनीय स्थिति में अपने आवास पर आया।

महावीर और गौशालक के इस विवाद के समाचार श्रावस्ती के घर-घर में फैल गये। लोग बातें करने लगे—"आज कोष्ठक उद्यान में दो जिनों में झगड़ा हो गया। एक कहता है तू पहले मरेगा, दूसरा कहता है तू। इनमें कौन सत्यवादी है, कौन मिथ्यावादी ? पता नहीं।"

जनता की इस चर्चा पर कुछ समझदार लोग टिप्पणी करते हुए कहते—"गौशालक पाखण्डी है, वह पहले तो सिंह की तरह गर्जता रहा किंतु जब महावीर को अपनी तेजोलेश्या से भस्म नहीं कर सका और उलटे अपनी तेजोलेश्या से स्वयं ही दग्ध हो गया तो निस्तेज, निष्प्रभ होकर चीखता-चिल्लाता चला गया, इससे स्पष्ट होगया, महावीर सत्यवादी हैं, जिन हैं, गौशालक विद्रोही है। पाखंडी है।"

शरीर में तेजोलेश्या के प्रकोप से गौशालक असह्य पीड़ा का अनुभव करने लगा। उसे शांत करने के लिए वह आम की गुठली हाथ में लेकर बार-बार चूसता, बार-बार मदिरापान करता, शरीर पर मिट्टी मिला जल सींचता। कभी उन्मत्त

होकर नाचने और गाने लगता और कभी हालाहला को नमस्कार करने लगता। इस प्रकार बड़ी आकुलता, पीड़ा और असह्य मनोव्यथा के साथ उसका अंतिम समय बीता। उसे अंतिम समय में महावीर के साथ की गई कृतघ्नता, विद्रोह और दो मुनियों की हत्या पर पश्चात्ताप होने लगा। अंतिम क्षणों में उसने अपने शिष्यों के समक्ष—सचाई को स्वीकार कर लिया—"महावीर जिन हैं, सर्वज्ञ हैं, मैं पाखंडी हूं, पापी हूं, मैंने तुमको, संसार को और स्वयं को धोखा दिया है। मेरे मरने के बाद मेरी दुर्दशा कर लोगों को कहना—ढोंगी श्रमणघातक और गुरुद्रोही गोशालक मर गया।[1]"

जीवन भर दुष्कर्म, पाखंड और गुरुद्रोह करने वाला गोशालक अन्तिम समय में पश्चात्ताप की आग में अपने पापों को जलाकर कुछ पवित्र हो सका, और पापों के प्रति तीव्र गर्हा व पश्चात्ताप की भावना के साथ स्वर्गवासी बना।[2]

अस्वस्थता और उपचार

गोशालक की मृत्यु के साथ आजीवक संघ का सितारा अस्त हो गया और एक प्रखर श्रमण-विद्रोही की समाप्ति।

गोशालक ने महावीर पर तेजोलेश्या छोड़ी, उससे तात्कालिक हानि तो अधिक नहीं हुई, किंतु उसकी प्रचण्ड ज्वालाओं ने अपना प्रभाव तो दिखाया ही। उसके ताप से महावीर को पित्तज्वर हो गया।

गोशालक की मृत्यु को छह मास पूरे हो रहे थे। भगवान महावीर मेंढिक ग्राम के सालकोष्ठक उद्यान में ठहरे हुए थे। पित्तज्वर एवं खूनी दस्तों के कारण महावीर का शरीर शिथिल एवं कृश हो गया था। भगवान के शरीर की रुग्णता देखकर कुछ लोग बातें करते जा रहे थे—"भगवान महावीर का शरीर बहुत क्षीण (अस्वस्थ) हो रहा है, कहीं गोशालक की भविष्यवाणी सत्य न हो जाय?"

राह चलते नगरवासियों की यह बातचीत सिंह अनगार ने सुनी। सिंह अनगार सालकोष्ठक के निकट ही मालुकाकच्छ में ध्यान व तपःसाधना कर रहे

१ गोशालक के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा में कुछ मतभेद है। उसके अनुसार गोशालक पार्श्वनाथ परम्परा का एक मुनि था। भगवान् महावीर के धर्म-संघ में वह गणधर पद पर नियुक्त होना चाहता था किंतु उसे यह गौरवपूर्ण पद नहीं मिला तो क्रुद्ध होकर संघ से पृथक् हो गया और श्रावस्ती में आकर आजीवक सम्प्रदाय का नेता बना और स्वयं को तीर्थंकर बताने लगा।

—भावसंग्रह गाथा १७६ से १७९ (देखें आगम० त्रिपि० एक अनुशीलन पृ० ३७)

२ भगवती सूत्र शतक १५ में घटना पूर्ण विस्तार के साथ बताई गई है।

थे। छठ-छठ तप और निरन्तर ध्यान में लीन रहने वाले तपस्वी सिंह ने जैसे ही लोक-चर्चा सुनी, उनका ध्यान भंग हो गया, मन खिन्न हो उठा। वे सोचने लगे—"भगवान् महावीर लगभग छह महीने से अस्वस्थ हैं, पित्तज्वर व खूनीदस्त के कारण उनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया है, क्या सचमुच गौशालक का भविष्य-कथन सत्य होगा ?

"हन्त ! यदि ऐसा हो गया तो ……? फिर संसार मेरे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर के सम्बन्ध में क्या कहेगा……?" सिंह अनगार का हृदय दहल उठा। तपोभूमि से प्रस्थान कर वह भगवान् की ओर बढ़ा, मार्ग में ही सहसा उसके हृदय में हूक उठी, वह फूट-फूट कर रोने लगा।

भगवान् महावीर ने शिष्यों को संबोधित करके कहा—"आर्यो ! मेरा शिष्य सिंह मेरे रोग की चिंता से क्षुब्ध होकर विलाप कर रहा है। तुम जाओ और उसे आश्वासन देकर यहाँ ले आओ।"

श्रमण मालुकाकच्छ की ओर गये। सिंह को रोता देखकर आश्वस्त कर बोले—"सिंह ! चलो ! तुम्हें धर्माचार्य श्रमण भगवान् बुला रहे हैं ?"

सिंह भगवान् के चरणों में पहुंचा। वह कुछ क्षण तक उदास, स्तब्ध, भ्रांत-सा भगवान् की कृश काया को देखता रहा। आश्वासन की भाषा में भगवान् बोले—"वत्स सिंह ! मेरे भावी अनिष्ट की आशंका से तू रो पड़ा ?"

"भगवन् ! बहुत दिनों से आपकी तबियत अच्छी नहीं है, यह विचार आने के साथ ही मुझे गौशालक की बात स्मरण हो आई, और मेरा मन उचट गया और भीतर से सहज ही क्रन्दन फूट पड़ा।"

"सिंह ! तुम कुछ भी चिंता न करो ! अभी तो मैं दीर्घकाल (१५॥ वर्ष) तक इस भूमण्डल पर सुखपूर्वक विचरण करूंगा।"

"भगवन् ! हम यही चाहते हैं ? पर, बीमारी से आप कृश हो रहे हैं, इसे मिटाने का कोई उपाय नहीं है ?"

"सिंह ! यदि तुम ऐसा ही चाहते हो तो, मेंढिय गांव में रेवती गाथापतिनी के पास इसकी औषधि है। तुम वहाँ जाओ ! उसके पास दो औषधियां हैं—एक कुम्हड़े से बनी हुई तथा दूसरी बीजोरे से बनी हुई। पहली औषधि उसने मेरे लिये बनाई है, अतः वह अकल्प्य है, दूसरी औषधि उसने अन्य प्रयोजन से बनाई है, तुम उससे दूसरी (बीजोरे की) औषधि की याचना करो। वह रोग-निवृत्ति में उपयोगी सिद्ध होगी।"

भगवान् के संकेतानुसार सिंह अनगार मेंढिय ग्राम में गये, रेवती से उन्होंने बीजोरापाक की याचना की। रेवती ने प्रसन्नतापूर्वक बीजोरापाक मुनि को दिया। इस शुभ भाव युक्त उत्तम औषधिदान से रेवती ने अपना मनुष्य-जन्म सफल कर लिया।

औषधि-सेवन से धीरे-धीरे भगवान् महावीर पुनः स्वस्थ हो गए और पूर्व की भाँति सुखपूर्वक विहार करने लगे।

इस प्रकार गोशालक द्वारा दिया गया कष्ट शांत हुआ।

गोशालक ने भगवान के साथ रहकर तथा बाद में पृथक् होकर उनके प्रति कृतघ्नता और विद्रोह का जैसा आचरण किया वह एक प्रकार से अत्यंत निकृष्ट आचरण था।[1] साथ ही दुःखद व आश्चर्यकारी भी। एक सामान्य व्यक्ति तीर्थंकर जैसे लोकोत्तर पुरुष को भी इस प्रकार पीड़ा एवं संत्रास देने का दुस्साहस करे, यह जैन-परम्परा के इतिहास में महान् आश्चर्य माना गया है। दूसरी ओर करुणावतार समतायोगी महावीर, जिन्हें प्रारंभ से ही उस कृतघ्न व्यक्ति के उपद्रवों से पाला पड़ा, पर फिर भी वे सदा निष्कामभाव से उसकी हितकामना करते रहे। तेजोलेश्या से बाह्य शरीर को झुलसा देने पर भी उसके कल्याण की कामना की और मन को प्रसन्न रखा। यही तो है लोकोत्तर पुरुषों का उज्ज्वल आदर्श।

जमालि, मतभेद की राह पर

भगवान् महावीर को अपने तीर्थंकर जीवन में जहाँ सर्वत्र सद्भाव, सन्मान एवं सौमनस्य के फूल खिले मिले; वहां, गोशालक एवं जमालि जैसे शिष्यों द्वारा पीड़ा एवं परिताप के शूल भी बिखेरे गये। गोशालक ने गुरुद्रोह के साथ-साथ महावीर की हत्या करने का भी दुष्ट प्रयत्न किया, वहां जमालि ने इतनी निकृष्टता तो नहीं दिखाई, पर वह भी अपने को महावीर के समान जिन और तीर्थंकर कहकर एक प्रतिस्पर्धी के रूप में अवश्य सामने आया।

जमालि भगवान् महावीर का भानजा भी था और जामाता भी। वह

---

१ गोशालक की निकृष्ट वृत्तियों से क्षुब्ध होकर तथागत बुद्ध ने भी स्थान-स्थान पर गोशालक को निकृष्ट और दुर्जन कहा है। जैसे—"मंखलि गोशालक से अधिक दुर्जन मेरी दृष्टि में कोई नहीं है" (अंगुत्तरनिकाय १-१८-४ : ५) देखें आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन पृष्ठ ३८)।

क्षत्रियकुंड का सुयोग्य राजकुमार था और बड़े तीव्र वैराग्य के साथ युवावय में ही विषय-वासना से मुक्त होकर पांचसौ क्षत्रिय कुमारों के साथ संयम ग्रहण किया था। जमालि की पत्नी (महावीर की पुत्री) प्रियदर्शना भी एकसहस्र कुलीन स्त्रियों के साथ भगवान् के समवसरण में दीक्षित हुई थी। जमालि की प्रव्रज्या का वर्णन पृष्ठ १६० पर किया जा चुका है। उसके आगे—भगवान् का विरोधी बनने का इतिहास भगवती सूत्र[१] में प्राप्त होता है।

भगवान् महावीर विहार करते हुए ब्राह्मणकुंड के बहुसाल चैत्य में पधारे।[२] जमालि अनगार के मन में स्वतन्त्र विहार की भावना जगी, वे भगवान के निकट आकर बोले—'भंते! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं अपने पांच सौ शिष्यों के साथ पृथक् विहार करना चाहता हूं।"

महावीर जमालि की अस्थिर मानसिक स्थिति से परिचित थे। उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। जमालि ने तीन बार अपना आग्रह दुहराया, पर महावीर मौन रहे। मौन सदा स्वीकृति का ही नहीं, कभी-कभी निषेध का भी सूचक होता है, जमालि ने इस पर चिंतन नहीं किया। वह भगवान् के मौन की स्पष्ट अवगणना कर अपने पांच सौ शिष्यों के साथ स्वतंत्र विचरने लगा। प्रियदर्शना भी जमालि के प्रति अनुरागवश एक हजार श्रमणियों के साथ जमालि का अनुगमन करने लगी।

स्वतंत्र विहार करते हुए भी जमालि कठोर तप का आचरण करता रहा। महावीर की दृष्टि में जमालि अनगार कठोर तपश्चर्या का अधिकारी नहीं था, किंतु जमालि हठपूर्वक तप का आचरण करता ही रहा, इस हठाग्रह से आचरित तप के कारण उसका तन-बल तो क्षीण हुआ ही, मनोबल भी क्षीण होता गया। महावीर तप के साथ तितिक्षा और श्रम के साथ शिक्षा (ज्ञान) पर बल देते थे, जमालि उनका एकांगी आचरण कर रहा था। इस कारण धीरे-धीरे उसका शरीर कृश होता गया, वह पित्त-ज्वर से ग्रस्त होकर चिड़चिड़े स्वभाव का बन गया।

एक बार जमालि विहार करता हुआ श्रावस्ती के तिंदुक उद्यान में ठहरा।[३] व्याधिजन्य वेदना के कारण उसे सोने की इच्छा हुई, अपने शिष्यों से संस्तारक (बिछौना) बिछाने के लिए कहा। शिष्य कार्य में जुट गये। जमालि को बैठे रहने में अधिक वेदना हो रही थी। वेदना की व्याकुलता में एक क्षण भी उसे मुहूर्त जितना लंबा प्रतीत होने लगा, दूसरे ही क्षण पूछा -"क्या संस्तारक कर दिया?"

१ शतक ६, उ० ३३
२ दीक्षा का २४वां वर्ष। वि० पू० ४८६-४८८
३ दीक्षा का सताईसवां वर्ष १ वि. पू. ४८६। गौशालक के विद्रोह के पश्चात्

"हां, हो गया"—शिष्यों ने कहा।

जमालि उठा, देखा तो बिछौना पूरा हुआ नहीं था। शिष्यों के उत्तर से जमालि की विचारधारा में एक तूफान खड़ा हो गया। वह हठपूर्वक किये गये तपश्चरण से पहले ही क्लांत हो रहा था, बीमारी से व्याकुलता बढ़ गई थी, मानसिक समाधि भंग हो गई थी, भीतर-ही-भीतर उसे तप की निरर्थकता और कठोर साध्वाचार की अनुपयोगिता अनुभव होने लगी थी। पर, ऐसा कहे तो कैसे? मन की इस छटपटाहट को आज शिष्यों के उत्तर ने दूसरी ओर मोड़ दिया। महावीर के सिद्धान्तों के प्रति उसके मन में विरोध का स्वर उठा—"महावीर कहते हैं किया जाने लगा सो किया, (कडेमाणे कडे) किन्तु मैं देखता हूं यह सिद्धान्त जीवन-व्यवहार में अनुपयोगी है, असत्य है। जब तक कोई कार्य पूरा नहीं हो जाता, उसे किया (कडे) नहीं कहना चाहिए। जब तक संस्तारक बिछाया नहीं जाता, उसे बिछा मानकर क्या हम उस पर सो सकते हैं? नहीं!" जमालि ने अपने तर्क के साथ शिष्यों को सम्बोधित किया।

कुछ श्रमण, जो जमालि के प्रति अनुराग रखते थे और उसके वचनों पर श्रद्धा करते थे, वे इस तर्क से सहमत हो गए, किन्तु कुछ स्थविरों ने जमालि के तर्क का प्रतिरोध भी किया—"आर्य! भगवान् महावीर का कथन निश्चयनय पर प्रतिष्ठित है। जिस क्रिया को प्रारम्भ कर दिया, वह उसी समय से निष्पन्न होनी भी शुरु हो गई। चूंकि कोई भी क्रिया अपनी पूर्ववर्ती क्रियापर्याय से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकती और न उत्तरक्रिया पूर्वक्रिया से सर्वथा भिन्न होती है। वास्तव में क्रियाकाल और कार्यकाल (निष्ठाकाल) दो भिन्न नहीं होते। अतः भगवान महावीर का कथन सत्य है, उसका अपलाप न करें।"

जमालि ने स्थविरों की बात का विरोध किया। स्थविर जमालि को छोड़कर भगवान महावीर के पास चले आये।

स्वस्थ होने पर जमालि ने श्रावस्ती से प्रस्थान कर दिया। पर, अब वह अपने नये सिद्धान्त की चर्चा हर जगह करता रहा। उसके प्रचार में आत्मश्लाघा मुख्य बन गई. सत्यद्रष्टा महावीर की संस्तुति अब उसे सहन कैसे होती?

अपने नये सिद्धान्त का प्रचार करते हुए जमालि चंपानगरी में आया। भगवान् महावीर भी तब चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में ठहरे हुए थे। जमालि उनके पास आया, कुछ दूर खड़ा रहकर बोला—"देवानुप्रिय! आपके अनेक शिष्य छद्मस्थ

हैं, केवलज्ञानी नहीं हैं, किन्तु मैं तो सम्पूर्ण केवलज्ञान से युक्त अर्हत्, जिन और केवलज्ञानी हूं।"

जमालि की आत्म-स्तुतिपरक वाणी सुनकर गणधर गौतम ने प्रतिवाद करते हुए कहा—जमालि! केवलज्ञान और केवलदर्शन कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे बताना पड़े। सूर्य को बताने के लिए जैसे दीपक की जरूरत नहीं, वैसे ही केवलज्ञान की दिव्य-ज्योति को बताने लिए अपने को केवलज्ञानी ख्यापित करना व्यर्थ है। केवलज्ञानी कहीं छिपा रहता है? केवलज्ञान के दिव्य प्रकाश को अगाध समुद्र, गगनचुम्बी पर्वत-मालाएँ और अंधकारभरी गुफाएं भी अवरुद्ध नहीं कर सकतीं। तुम्हें यदि कोई ज्ञान हुआ है तो मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दो—

लोक शाश्वत है या अशाश्वत?

जीव शाश्वत है या अशाश्वत?

इन्द्रभूति के प्रतिरोध पर जमालि हतप्रभ-सा देखता रहा। उसे कोई प्रत्युत्तर नहीं सूझा। तब भगवान ने कहा—"जमालि! मेरे ऐसे अनेक शिष्य हैं जो छद्मस्थ होते हुए भी इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दे सकते हैं। तुम केवली होने का दावा करके भी निरुत्तर कैसे हो गये? क्या केवलज्ञान का अस्तित्व बताने के लिए केवली को अपने मुख से घोषणा करनी पड़ती है? तुम गलत धारणा एवं अहंकार के वश होकर मिथ्या प्ररूपणा कर रहे हो। यह तुम्हारी आत्मा के लिए हितकर नहीं है।"

भगवान् के कथन से जमालि अधिक क्रुद्ध हो उठा, वह वहां से चलकर अपने स्थान पर आया और मिथ्या-आग्रहवश अपनी भ्रांत बातों से जनता को बह-काने लगा। प्रियदर्शना भी जमालि की मिथ्याधारणाओं से प्रभावित हो गई। वास्तव में मोह का सूक्ष्म आवरण तत्त्वचिंतन की मेधा को आवृत कर डालता है। प्रियदर्शना तत्त्वचिंतन से भी अधिक राग से खिंची रही और एक हजार साध्वियों के साथ जमालि का अनुगमन करने लगी।

एक बार जमालि की उपस्थिति में ही प्रियदर्शना श्रावस्ती आई और भगवान के तत्त्वज्ञ श्रावक ढंक कुम्हार की भांडशाला में ठहरी। ढंक ने प्रियदर्शना को प्रतिबोध देने के लिए उसकी संघाटी (चादर-पछेवड़ी) के एक कोने पर अग्नि-कण रख दिया, संघाटी जलने लगी। प्रियदर्शना हठात् बोल उठी—"आर्य! यह क्या किया? तुमने मेरी संघाटी जला दी?"

ढंक ने प्रत्युत्तर में कहा—"आर्ये! आप मिथ्या भाषण क्यों कर रही हैं? संघाटी अभी जली कहाँ, जलनी शुरू हुई है। जलते हुए को जला कहना महावीर

का मत है, तुम्हारे मत के अनुसार तो सर्वथा जले हुए को ही 'जला' कहा जा सकता है।"

ढंक के युक्तिपूर्ण समाधान से प्रियदर्शना के अन्तश्चक्षु खुल गये। उसे लगा, जमालि का कथन युक्तिरहित एवं अव्यावहारिक है। साथ ही वह अनुगमन तत्त्व-चिंतन से नहीं, किन्तु मोह-वश कर रही है। मोह ही समस्त भ्रांतियों का और दुःखों का मूल है—बस, प्रियदर्शना की अन्तरात्मा जागृत हो उठी। जमालि का अनुगमन छोड़कर वह भगवान् महावीर के साध्वी-संघ में पुनः सम्मिलित हो गई। जमालि के अनेक शिष्य भी उसकी धारणा की अयथार्थता समझकर, उसे छोड़कर पुनः धर्मसंघ में आ गए। किन्तु मिथ्याभिनिवेश, पूर्वाग्रह एवं मानसिक संक्लेश के कारण जमालि महावीर के विरुद्ध ही प्रचार करता रहा। अंत में अनशन करके उसने देह-त्याग किया।

जमालि जैन-परम्परा में पहला निन्हव माना जाता है। उसकी धारणा 'बहुरत-वाद' नाम से प्राचीन ग्रंथों में बताई गई है।[1]

ज्ञान-गोष्ठियां

श्रावस्ती में श्रमण केशीकुमार के एक प्रश्न के उत्तर में गणधर इन्द्रभूति ने बताया कि धर्म के तत्त्व को बाह्य आचार से नहीं, किंतु सत्योन्मुखी प्रज्ञा से परखना चाहिए।[2]

गौतम के इस उत्तर में भगवान महावीर के प्रज्ञावाद की ध्वनि स्पष्ट गूंज रही है। भगवान् पार्श्वनाथ तक का युग ऋजु-प्राज्ञ अर्थात् श्रद्धाप्रधान युग था। महावीर का युग तर्क-प्रधान अर्थात् प्रज्ञा-प्रधान युग था। उस युग में तत्त्ववाद एवं ज्ञानवाद का बोलबाला था। इसलिए भगवान् महावीर की प्रवचन-शैली तर्कप्रवण रही। वे जिज्ञासुओं को विभिन्न तर्क एवं युक्तियों के द्वारा तत्त्वबोध देते थे। समय-समय पर अनेक अन्यतीर्थिक विद्वान, परिव्राजक तथा स्वतीर्थिक श्रमण एवं श्रमणो-पासक भगवान् के समक्ष आकर विविध प्रकार की तत्त्वचर्चाएँ करते रहते थे। उन चर्चाओं का पूर्ण विवरण आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु फिर भी भगवतीसूत्र में गौतम

१ 'बहुरतवाद' की विस्तृत चर्चा के लिए देखें—विशेषावश्यक भाष्य गाथा २३२४ से २३३२ तथा श्रमण भगवान महावीर, परिशिष्ट पृष्ठ २५५ से २५८ तक

२ पन्ना समिक्खए धम्मं। —उत्तरा० २३

एवं अन्य जिज्ञासुओं के सैकड़ों-हजारों प्रश्न आज भी उस युग की ज्ञान-गोष्ठियों की एक झलक प्रस्तुत करते हैं। इन ज्ञान-गोष्ठियों से यह भी पता चलता है कि तद्-युगीन विद्वानों एवं मुमुक्षुओं में किसप्रकार की जिज्ञासाएं अधिक उठती थीं? उनके प्रश्नों का स्वरूप तथा स्तर किस प्रकार का था? तथा भगवान् महावीर की तत्त्व-निरूपण शैली कैसी थी और विभिन्न दृष्टियों पर उनका चिन्तन क्या था?

भगवान् महावीर की तत्त्वचर्चाओं में सबसे प्रसिद्ध तत्त्वचर्चा है—गणधर वाद। केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् तीर्थस्थापना से पहले मध्यमपावा में भगवान् महावीर ने मगध के ग्यारह दिग्गज वैदिक विद्वानों को आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म आदि दार्शनिक विषयों पर बड़ी तर्कप्रधान, साथ ही अनुभूति एवं युक्ति से पूर्ण शैली में जो समाधान दिए थे वे जैन-साहित्य में 'गणधरवाद' नाम से प्रसिद्ध हैं।[1] इन उत्तरों में भगवान् ने वैदिक सूक्तों का जो युक्तिपूर्ण एवं संतुलित विवेचन किया और उन्हीं के आधार से वैदिक विद्वानों के संशयों का निराकरण कर उन्हें संशयमुक्त बनाया वह भारतीय इतिहास की ऐतिहासिक घटना कही जा सकती है।

'गणधरवाद' में संग्रहीत तर्क-प्रतितर्क तथा प्रमाण आदि का उल्लेख आगमों में बीजरूप में प्राप्त होता है, जिसे उनके अनुवर्ती आचार्यों ने निर्युक्ति, भाष्य आदि साहित्य में विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है।

उस ज्ञानगोष्ठी में महावीर की सरल तथा अनुभूति पूर्ण प्रतिपादन शैली से प्रभावित होकर ग्यारह विद्वान प्रतिबोधित हो गए और वे महावीर के धर्मसंघ के स्तंभरूप गणधर बने।

ज्ञानगोष्ठियों का यह मधुर प्रसंग समय-समय पर बनता रहा है। उनमें से कुछ प्रसंग यहां प्रस्तुत किये जाते हैं।

जयंती की ज्ञान-गोष्ठी

कौशाम्बी में जयंती नाम की श्रमणोपासिका थी। यह कौशाम्बीपति शतानीक की बहन तथा उदयन की बुआ (फूफी) लगती थी। वह अर्हत् धर्म के रहस्यों की जानकार और अनन्य उपासिका थी। कौशाम्बी में आने-जाने वाले श्रमण एवं श्रावक बहुधा उसके यहाँ ठहरा करते थे; इसलिए वह 'आर्हत श्रावकों की प्रथम स्थानदात्री' के नाम से भी प्रसिद्ध थी।

वैशाली से विहार करके भगवान् महावीर कौशाम्बी में आये। वे चन्द्रावतरण

१ गणधरों की ज्ञानगोष्ठी का वर्णन 'ज्ञान गंगा का प्रथम प्रवाह' शीर्षक में देखें

चैत्य में ठहरे। राजा उदयन, राजमाता मृगावती एवं जयंती आदि राजपरिवार भगवान् के दर्शनार्थ आया। हजारों नागरिकों की विशाल धर्मसभा को सम्बोधित कर भगवान् ने उपदेश दिया।

प्रवचन के पश्चात् जयंती ने भगवान से कुछ प्रश्न करने की अनुमति माँगी। स्वीकृति पाकर उसने पूछा—"भगवन्! जीव भारीपन (कर्मों से भारी) क्यों प्राप्त करता है?" भगवान्—"हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के सेवन से, राग-द्वेषमय आचरण से, कलह करने से, दूसरों पर मिथ्या दोषारोपण करने से, चुगली करने से, असंयम में उत्साह, संयम में आलस्य करने से, परनिंदा करने से, कपटपूर्वक मिथ्याभाषण करने से एवं अविवेक-अज्ञान (मिथ्यादर्शन-शल्य) के कारण जीव कर्मों से भारी होता है। उक्त अठारह पापस्थानों के सेवन से आत्मा संसार में भ्रमण करता है, तथा उनकी निवृत्ति करने से संसार-परिभ्रमण को कम करता है।

—"भव-सिद्धिकता (मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता) जीवों को स्वभाव से प्राप्त होती है या अवस्था-विशेष (परिणाम) से?"

"भवसिद्धिकता स्वभाव से होती है, अवस्था-विशेष से नहीं।"

"क्या सब भवसिद्धिक मोक्षगामी हैं?"

"हाँ, जो भवसिद्धिक हैं, वे सब मोक्षगामी हैं।"

"यदि सब भवसिद्धिक जीव मोक्ष में चले जायेंगे तो एक दिन यह संसार भव-सिद्धिक जीवों से खाली नहीं हो जायेगा?"

"नहीं! ऐसा नहीं हो सकता।"

"क्यों?"

"कल्पना करो, जैसे सर्वाकाश प्रदेशों की श्रेणि में से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश कम करने पर भी आकाश-प्रदेशों का कभी अन्त नहीं आता, इसीप्रकार भव-सिद्धिक अनादिकाल से मोक्ष प्राप्त कर रहे हैं, और अनन्तकाल तक करते रहेंगे, तथापि संसार कभी उन जीवों से रहित नहीं होगा। क्योंकि भवसिद्धिक जीव अनन्तानन्त हैं।"

"भंते! जीव का सोना अच्छा है या जागना?"

"कुछ जीवों का सोना अच्छा है, कुछ का जागना?"

"यह कैसे ?"

"हिंसा आदि अधर्म-व्यापार से जीविका चलाने वाले जीवों का सोना अच्छा है, क्योंकि जब तक वे सोये रहते हैं तो अन्य जीवों को दुःख नहीं पहुंचायेंगे और धार्मिक वृत्ति वाले जीवों का जागना अच्छा है, वे जागेंगे तो स्वयं तो धर्ममार्ग में प्रवृत्त होंगे ही अन्य जीवों को भी धर्म की ओर प्रेरित करते रहेंगे। अतः अधार्मिक व्यक्ति का सोना तथा धार्मिक व्यक्ति का जागना अच्छा है।"

"भंते ! सबलता तथा सावधानता अच्छी है या दुर्बलता एवं आलस्य ?"

"अधर्मशील आत्मा के लिए दुर्बलता और आलस्य अच्छा है, क्योंकि अधर्मी दुर्बल एवं आलसी होगा तो पाप-प्रवृत्तियां कम करेगा। इसीप्रकार धर्मशील व्यक्ति की सबलता एवं सावधानता अच्छी है, ताकि वह धर्माचरण में अग्रसर होता रहे।"

इस तरह अनेक प्रश्नोत्तरों के बाद जयंती का मन अत्यंत प्रसन्न हुआ, उसने प्रभु के भिक्षुणी संघ में सम्मिलित होने की इच्छा व्यक्त की। प्रभु ने स्वीकृति प्रदान की। जयंती श्रमणी बनकर साधना में जुट गई।[1]

रोह की पूर्वापर सम्बन्ध-चर्चा

भगवान् महावीर राजगृह के गुणशिलक उद्यान में विराजमान थे। एक दिन रोह अणगार के मन में लोकस्थिति के सम्बन्ध में कुछ शंका उठी। भगवान् के निकट आकर उसने पूछा—"भंते ! क्या पहले लोक है, बाद में अलोक या पहले अलोक है, बाद में लोक ?"

—"लोक-अलोक दोनों ही शाश्वत हैं, इसलिए इनमें पहले-पीछे का क्रम-नहीं है।"

"भंते ! क्या जीव पहले हुआ, अजीव बाद में या अजीव पहले हुआ बाद में जीव हुआ ?"

"जीव भी शाश्वत है. अजीव भी शाश्वत है, इसलिए इनमें पहले-पीछे का क्रम नहीं हो सकता।" (पहले-पीछे होना वस्तु की आदि और अशाश्वतता सिद्ध करता है)।

इसीप्रकार भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक, सिद्धि-असिद्धि, सिद्धि और सिद्ध

१ भगवती० शतक १२। उद्देशक २

आदि के सम्बन्ध में रोह ने प्रश्न किये और भगवान ने दोनों को ही शाश्वतभाव कहकर उनकी पूर्वापरता का निषेध किया। रोह ने फिर पूछा—

"भंते ! पहले अण्डा हुआ और पीछे मुर्गी हुई या पहले मुर्गी, पीछे अण्डा पैदा हुआ ?"

"अंडा कहां से आया ?"

"मुर्गी से।"

"और मुर्गी कहां से आई ?"

"अण्डे से।"

"तो फिर दोनों में पहले कौन और पीछे कौन, यह कैसे कहा जा सकता है ? दोनों पहले भी हैं और पीछे भी ! जैसे मुर्गी के बिना अंडा नहीं और अण्डे के बिना मुर्गी नहीं, और दोनों में पहले कौन हुआ यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि दोनों ही शाश्वतभाव है।" (इसी प्रकार उक्त लोक, जीव आदि के सम्बन्ध में जानना चाहिए)।

इस प्रकार रोह अनगार ने अनेक शाश्वत प्रश्नों के पूर्वापर सम्बन्ध के विषय में पूछा और भगवान् ने उक्त शैली के द्वारा उनके पूर्वापरक्रम का निषेध करते हुए बताया—शाश्वत वस्तु में पूर्वापर क्रम नहीं होता।[1]

स्कन्दक की ज्ञान-चर्चा

परिव्राजक प्रकरण में बताया जा चुका है कि स्कन्दक परिव्राजक ने भगवान से लोक की सान्तता तथा अनन्तता के विषय में प्रश्न पूछे। वे प्रश्नोत्तर संक्षेप में इस प्रकार हैं—

"भंते ! लोक सान्त (अन्त सहित) है या अनन्त ?"

महावीर—"स्कन्दक ! द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से यह लोक चार प्रकार का है। द्रव्य की अपेक्षा से लोक सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से असंख्य कोटाकोटि योजन विस्तार वाला है। अतः सांत है। काल की अपेक्षा से लोक शाश्वत है और अन्तरहित है। भाव की अपेक्षा से यह अनन्त है।

"जीव के विषय में भी इसी प्रकार चिन्तन करना चाहिए —
द्रव्य की अपेक्षा से जीव एक और सांत है।
क्षेत्र की अपेक्षा से वह असंख्य प्रदेशी और सांत है।

१ भगवती सूत्र, शतक १। उद्देशक ६

काल की अपेक्षा से शाश्वत और अनन्त है।
भाव की अपेक्षा से अन्तरहित है।"

"इसीप्रकार सिद्धि (मोक्ष) और सिद्ध (मुक्त-आत्माओं) के विषय में जानना चाहिए।"

स्कन्दक ने पुनः पूछा—"भंते ! किस मरण से जन्म-मरण की परम्परा घटती है, और किससे बढ़ती है ?"

भगवान ने उत्तर दिया "मरण दो प्रकार के हैं—बालमरण और पंडितमरण। बाल अज्ञानी है, उसे आत्मस्वरूप का भान नहीं होता। वह बारह प्रकार के बालमरण से (असमाधिपूर्वक) मरता है तो जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाता है। पंडित ज्ञानी है, आत्मद्रष्टा है, वह दो प्रकार के मरण से (समाधिपूर्वक) प्राण त्याग करता है। अतः वह पंडित-मरण से जन्म-मरण की परम्परा को घटाता है।"

स्कंदक—"भंते ! बालमरण बारह कौन से हैं ?"

भगवान्—"बालमरण के बारह भेद इस प्रकार हैं—

१ भूख की पीड़ा से तड़प कर मरना।
२ विषय-भोग की अप्राप्ति से निराश होकर मरना।
३ पापों का शल्य हृदय में छुपाए रखकर मरना।
४ वर्तमान जीवन में असफल होकर पुनः इसी गति का आयुष्य बांधकर मरना।
५ पर्वत से गिरकर।
६ वृक्ष से गिरकर।
७ जल में डूबकर।
८ अग्नि में जलकर।
९ विष खाकर।
१० शस्त्रप्रयोग कर।
११ फांसी खाकर।
१२ गीध अथवा अन्य मांसभक्षी पशुओं से शरीर नुचवाकर मरना।

ये बारह बालमरण हैं। अर्थात् इस प्रकार की मृत्यु के समय मन में अशांति, व्याकुलता तथा विषयासक्ति रहने से ये जन्म-मरण को बढ़ाने वाले हैं।"

स्कंदक— "भगवन् ! पंडित-मरण दो कौन-से हैं ?"

भगवान्—"१ पादोपगमन—

(ध्यानपूर्वक निश्चल दशा में अनशन के साथ प्राण त्याग करना)

२ भक्त-प्रत्याख्यान—

(अनशन करके समाधिपूर्वक शरीर क्रियाएं करते हुए प्राण त्यागना)

इस प्रकार की दशा में प्राण त्याग करने वाला जन्म-मरण की परम्परा को घटाता है।"

इस प्रकार अनेकांत-दृष्टियुक्त समीचीन उत्तरों से स्कन्दक को पूर्ण समाधान मिला।[1]

सोमिल की ज्ञानगोष्ठी

सोमिल वाणिज्यग्राम का विद्वान ब्राह्मण था। उसके पास पांचसौ विद्यार्थी अध्ययन करते थे। भगवान् महावीर जब वहां के द्युतिपलाश चैत्य में पधारे तो सोमिल अपने सौ छात्रों के साथ उनके पास आया और उसने भगवान् से निम्न प्रश्न पूछे—

सोमिल—भंते ! आपके सिद्धान्त में यात्रा, यापनीय, अव्याबाध और प्रासुक विहार है ?

भगवान्—हां, यात्रा आदि सभी बातें हैं....?

सोमिल—आपकी यात्रा क्या है ?

भगवान्—तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यक आदि योगों में यतना—उद्यम करना, यही मेरी यात्रा है।

सोमिल—आपका यापनीय क्या है ?

भगवान्—पांच इन्द्रियों को अपने वश में रखना इन्द्रिय-यापनीय है, तथा चार कषायों का प्रादुर्भाव न होने देना नोइन्द्रिय-यापनीय है।

सोमिल—आपका अव्याबाध क्या है ?

भगवान् मेरे शरीरगत सभी दोष उपशांत हो गये हैं, यही मेरा अव्याबाध है।

सोमिल - प्रासुक विहार क्या है ?

भगवान्—मैं आराम-उद्यान, देवकुल तथा सर्वथा निर्दोष स्थानों में विचरता हूं, यही मेरा प्रासुक विहार है।"

१ भगवती सूत्र, शतक २। उद्देशक १

सोमिल— भंते ! सरिसवय भक्ष्य है या अभक्ष्य है ?

भगवान्—भक्ष्य भी है, और अभक्ष्य भी ।

सोमिल— कैसे ?

भगवान्—"सरिसवय के दो अर्थ हैं—मित्र और सर्षप (धान्य)[1] । मित्र सरिसवय तीन प्रकार के होते हैं : सहजात, सहवर्धित तथा सहप्रांशु-क्रीडित । ये सरिसवय (मित्र) अभक्ष्य होते हैं । सरिसवय धान्य के भी दो भेद हैं : शस्त्रपरिणत और अशस्त्रपरिणत । शस्त्रपरिणत सर्षप (अग्नि आदि के द्वारा जीवरहित किया हुआ) अगर एषणीय हो, याचना करने पर प्राप्त होता हो तो वह भक्ष्य है ।" इसीप्रकार मांस और कुलत्था आदि शब्दों के श्लेष अर्थ की व्याख्या करके भगवान् ने अपेक्षाप्रधान उत्तर दिये । तदनन्तर सोमिल ने पूछा —"भंते ! आप एक हैं या दो ?"

भगवान्—मैं एक भी हूं तथा दो भी ।

सोमिल—भगवन् ! यह कैसे ?

भगवान्—"मैं आत्म-द्रव्य रूप से एक हूं तथा ज्ञान-दर्शन स्वरूप से दो ।"

सोमिल—आप अक्षय, अव्यय और अवस्थित (सदा नित्य) हैं या भूत, वर्तमान, भविष्यद्रूपधारी भी ?

भगवान्—दोनों ही हूं । मैं आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा से अक्षय, अव्यय तथा अवस्थित हूं, किंतु उपयोग—पर्याय की अपेक्षा से भूत, वर्तमान, भविष्य-नानारूपधारी भी हूं ।"

इस प्रकार ज्ञानगोष्ठी करते हुए सोमिल को सभी प्रश्नों का उचित समाधान मिला अतः वह भगवान् के प्रति श्रद्धाशील बन गया । श्रावक के व्रत धारण कर उसने जीवन को धर्म-साधना में लगा दिया ।[2]

गौतम की ज्ञानगोष्ठियां

इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर के प्रमुख अंतेवासी थे, और बहुत गहरे जिज्ञासु भी ! किसी भी नवीन वस्तु को देखकर, नयी बात सुनकर उनके मन में संशय, कुतूहल एवं जिज्ञासा उत्पन्न होती, वे तुरन्त भगवान् के पास आते और उनका यथार्थ निर्णय जानते । इतने दीर्घकाल में गौतम ने भगवान् से हजारों ही प्रश्न पूछ होंगे । वास्तव में गौतम के प्रश्नोत्तरों का संकलन ही वर्तमान आगम कहे

१ सरिसवय—सदृशवयाः —मित्रम्, सर्षपकाः —धान्यम् ।

२ भगवती सूत्र, शतक १८ । उद्देशक १०

जा सकते हैं। अनुश्रुति है कि भगवतीसूत्र में ही गौतम द्वारा किये गये छत्तीस हजार प्रश्नोत्तरों का संकलन हुआ है। गौतम के सभी प्रश्नोत्तरों का विवरण एक स्वतंत्र ग्रंथ का विषय है। यहां पर कुछ ही प्रश्नोत्तर दिये जाते हैं, जिनसे गौतम के प्रश्नों की शैली तथा भगवान महावीर की चिंतनदृष्टि की एक झलक प्राप्त हो जायेगी।

कर्म-व्यवस्था

'कर्म सिद्धान्त' भगवान महावीर का मुख्य सिद्धान्त था। इस विषय में गौतम ने समय-समय पर अनेक प्रश्न किये, जिनमें से एक-दो प्रश्न यहां प्रस्तुत हैं।

गौतम—भंते ! जीव दीर्घकाल तक दुःखपूर्वक जीने के योग्य कर्म क्यों व किस कारण से करता है ?

भगवान—गौतम ! हिंसा करने से, असत्य बोलने से तथा श्रमण-ब्राह्मणों की हीलना, निंदा एवं अपमान करने से, उन्हें अमनोज्ञ आहार पानी देने से जीव दुःख-पूर्वक जीने योग्य अशुभकर्म का बंध करता है।"

गौतम—भंते ! जीव दीर्घकाल तक सुखपूर्वक जीने योग्य कर्म किस कारण से बांधता है ?

भगवान—गौतम ! हिंसा व असत्य की निवृत्ति से तथा श्रमण-ब्राह्मणों को वंदना-उपासना करके प्रियकारी निर्दोष आहार-पानी का दान करने से जीव शुभ दीर्घायुष्य का बंध करता है।[१]

गौतम—भंते ! यह जीव भारीपन कैसे प्राप्त करता है ?

भगवान—गौतम ! प्राणातिपात आदि अठारह पापस्थानों के सेवन से जीव (कर्म-रजों से) भारी होता है।

गौतम—भंते ! जीव लघुत्व कैसे प्राप्त करता है ?

भगवान—गौतम ! प्राणातिपात आदि अठारह पापस्थानों से निवृत्ति करने पर जीव (कर्मों से) लघुता प्राप्त करना है।[२]

विश्व-व्यवस्था

भगवान महावीर के दर्शन के अनुसार यह विश्व (षड्द्रव्यात्मक लोक) अनादि एवं अनन्त है। एक बार भगवान महावीर राजगृह में विराजमान थे[3], तब इन्द्रभूति गौतम ने लोक-स्थिति के सम्बन्ध में भगवान से पूछा—

१ भगवती सूत्र शतक ५, उ. ६

२ भगवती सूत्र शतक १, उ. ९ (ऐसा ही प्रश्न जयंती ने भी किया है।)

३ दीक्षा का बाईसवां वर्ष, वि. पू. ४९१।४९०

गौतम—भंते ! लोक-स्थिति कितनी प्रकार की है ?

भगवान—गौतम ! लोक-स्थिति आठ प्रकार की है—(सबसे नीचे आकाश है) आकाश पर हवा प्रतिष्ठित है, हवा पर समुद्र, समुद्र पर पृथ्वी, पृथ्वी पर त्रस-स्थावर प्राणी (यह चराचर जगत), उन जीवों (त्रस-स्थावर) पर अजीव प्रतिष्ठित है, कर्मों पर जीव प्रतिष्ठित है, अजीव, जीव संग्रहीत है, जीव कर्म-संग्रहीत है।[1]

गौतम—भंते ! परमाणु शाश्वत है या अशाश्वत ?

भगवान्—गौतम ! परमाणु द्रव्यरूप में शाश्वत है, और पर्यायरूप में अशाश्वत है।[2]

काल-व्यवस्था

भगवान् महावीर एक बार राजगृह के गुणशिलक उद्यान में ठहरे हुए थे।[3] इन्द्रभूति ने काल के विषय में भगवान् से लंबी चर्चा की।

भंते ! एक मुहूर्त में कितने उच्छ्वास होते हैं ?

गौतम ! एक मुहूर्त में ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते हैं।

जैसे असंख्य समयों का समुदाय एक आवलिका, संख्यात आवलिका का एक उच्छ्वास और उतनी ही आवलिका का एक निश्वास। एक स्वस्थ, सशक्त पुरुष एक मुहूर्त में ३७७३ श्वासोच्छ्वास लेता है। इसीप्रकार—

तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र (दिन-रात),

पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष।

इसीप्रकार गणना को आगे बढ़ाते हुए शीर्षप्रहेलिका, और फिर सागरोपम, अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी एवं बीस कोटाकोटी सागरोपम का एक कालचक्र होता है।[4]

वचन-व्यवस्था

भगवान् महावीर अनेकांतवादी थे। अनंतधर्मात्मक वस्तु के विभिन्न धर्मों का परिज्ञान रखते हुए अपेक्षापूर्वक वचन बोलना—यह उनका अपेक्षावाद (विभज्य-वाद) या स्याद्वाद कहलाता है। छोटी-से-छोटी वस्तु का स्वरूप भी आपेक्षिक कथन द्वारा प्रकट किया जाता है। एक प्रसंग है। गौतम ने एक बार पूछा—

---

१ भगवती सूत्र, शतक १, उ. ६

२ भगवती सूत्र, शतक १४।४

३ दीक्षा का सोलहवाँ वर्ष वि. पू. ४९७-४९६।

४ भगवती सूत्र ६, उ. ७

भंते ! फाणित गुड़ (गुड़ की राब) में मधुर रस है या कटु रस ?

गौतम ! उसमें पांचों ही रस हैं।

भंते ! यह कैसे ?

गौतम ! व्यवहारदृष्टि से गुड़ में एक मधुर रस कहा जाता है, किंतु निश्चय-दृष्टि से पांचों ही रस उसमें विद्यमान हैं। इसी तरह उसमें पांचों वर्ण, दो गंध एवं आठ स्पर्श विद्यमान रहते हैं।[1]

जयंती के प्रश्नोत्तर भी अपेक्षावाद के प्रयोग हैं, जो पीछे दिये गये हैं।

एक समय में दो क्रिया

भगवान् महावीर एक बार राजगृह के उद्यान में विराजमान थे।[2] गणधर गौतम ने पुद्गल, परमाणु, चलमान, चलित आदि विषयों पर भगवान् से अनेक प्रश्न पूछे। तदनन्तर गौतम ने पूछा—भंते ! कुछ लोग कहते हैं—जीव एक समय में ईर्या-पथिकी और सांपरायिकी दोनों क्रियाएं करता है, क्या यह ठीक है ?

भगवान्—गौतम ! नहीं ! यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। जीव एक समय में एक ही क्रिया कर सकता है। जिस समय ईर्यापथिकी क्रिया करता है, सांपरायिकी क्रिया नहीं करता, जब सांपरायिकी क्रिया करता है, उस समय ईर्यापथिकी क्रिया नहीं करता।[3]

श्रुत और शील

भंते ! कुछ लोग कहते हैं, शील (सदाचार) श्रेष्ठ है और कुछ दूसरे कहते हैं, श्रुत (ज्ञान) श्रेष्ठ है और तीसरे कहते हैं, शील और श्रुत प्रत्येक श्रेष्ठ है। भगवन् ! यह कैसे ?

गौतम ! यह कथन यथार्थ नहीं है।

भंते ! कैसे ?

गौतम ! शील और श्रुत दोनों का समन्वय होने पर ही जीवन में संपूर्ण श्रेष्ठता आती है।

जो पुरुष शीलवान है (सदाचारी है), पर श्रुतवान (ज्ञानी) नहीं है, वह धर्म का देश-आराधक (धर्म की आंशिक आराधना करने वाला) है।

१ भगवती सूत्र १८।६

२ दीक्षा का अड़तीसवां वर्ष, वि. पू. ४७५-४७४।

३ भगवती सूत्र, शतक १, उ. १०

जो पुरुष शीलवान नहीं पर श्रुतवान है, वह धर्म का देश-विराधक है।
जो शीलवान एवं श्रुतवान है, वह धर्म का पूर्ण आराधक है।
जो शील एवं श्रुत दोनों से हीन है, वह धर्म का पूर्ण विराधक है।[1]

सुव्रत और दुर्व्रत

एक बार इन्द्रभूति ने भगवान् से पूछा—

भंते ! कोई मनुष्य प्राणी की हिंसा का त्याग करता है तो उसका वह व्रत 'सुव्रत' कहलायेगा या 'दुर्व्रत' ?

गौतम ! वह सुव्रत भी हो सकता है और दुर्व्रत भी।

भंते ! यह कैसे ?

गौतम ! उक्त प्रकार का व्रत लेने वाला यदि जीव-अजीव के परिज्ञान से रहित है तो उसका व्रत 'दुर्व्रत' कहलायेगा। तथा जीव-अजीव के परिज्ञान से युक्त होकर कोई हिंसा का त्याग करता है तो उसका व्रत 'सुव्रत' कहलायेगा।[2]

(व्रत भी तभी सुव्रत होता है, जब उसके साथ उस विषय का ज्ञान हो। अज्ञान-पूर्ण व्रत वास्तव में कोई व्रत नहीं है।)

सत्संग से सिद्धि

राजगृह में एक बार भगवान् महावीर से गणधर इन्द्रभूति ने पूछा—
"भंते ! श्रमणों के सत्संग का क्या फल होता है ?"
"यथार्थ सत्य सुनने को मिलता है।"
"भंते ! उससे क्या फल होता है ?"
"वस्तुतत्त्व का सम्यक् ज्ञान होता है।"
"भंते ! उससे क्या फल होता है ?"
"वस्तुतत्त्व का विश्लेषणपूर्वक विज्ञान (स्पष्ट परिबोध) होता है।"
"भंते ! उससे क्या फल होता है ?"
"अनात्मभाव-बहिर्भाव से आत्मभाव का—अन्तर्भाव का पृथक्करण होता है।"
"भंते ! उससे क्या फल होता है ?'
"संयम होता है।"

१ प्रश्नोत्तर राजगृह में : दीक्षा का तेतीसवां वर्ष, वि० पू० ४८०। भगवती सूत्र, शतक ८। उ० १०।
२ भगवती सूत्र, शतक ७।२२

"भंते ! उससे क्या फल होता है ?"

"अनाश्रव होता है—कर्मबन्धन के हेतु राग-द्वेष क्षीण हो जाते हैं।"

"भंते ! उससे क्या फल होता है ?"

"तप करने की यथार्थ क्षमता का विकास होता है।"

"भंते ! उससे क्या फल होता है ?"

"पूर्व संचित कर्म-मल क्षीण हो जाते हैं।"

"भंते ! उससे क्या फल होता है ?"

"आत्मा की अस्थिरता विच्छिन्न होती है, शाश्वत स्थिरता प्राप्त होती है।"

"भंते ! उससे क्या फल होता है ?"

'सिद्धि प्राप्त होती है, आत्म-स्वरूप की पूर्ण उपलब्धि होती है।"[1]

भगवान् महावीर के समक्ष गौतम एवं अन्य जिज्ञासुओं द्वारा समय-समय पर पूछे गये कुछ जिज्ञासापूर्ण प्रश्नों की चर्चा यहां प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार की ज्ञान-गोष्ठियों के माध्यम से भगवान् के परिपार्श्व में तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्म का अजस्र-स्रोत बहता रहता था।

संस्कार-शुद्धि

यह तो बताया जा चुका है कि भगवान महावीर देहवादी नहीं, आत्मवादी थे। जन्मवादी नहीं, कर्मवादी थे, अर्थात् किसी भी प्राणी की उच्चता-नीचता शरीर व जन्म से नहीं, किन्तु आत्मा व कर्म से मानते थे। शूद्र, अनार्य तथा म्लेच्छ कुल में जन्म लेकर भी व्यक्ति अपने श्रेष्ठ कर्मों के कारण, उच्च आचरण के कारण महान बन सकता है, यह महावीर का दृढ़ विश्वास ही नहीं, किन्तु जीवन के पद-पद पर साकार होता सिद्धान्त है। वे मानते थे व्यक्ति कर्म (आचरण) से ही तो शूद्र होता है, कर्म (आचरण) से ही ब्राह्मण। इसलिए वे व्यक्ति के शरीर को नहीं देखते थे कि यह किस कुल में, किस देश व जाति में जन्मा है, किन्तु वे उसकी आत्मा को, संस्कारों को देखते थे। अनार्यदेश में जन्मे हुए, अनार्यकुल में जन्मे हुए और अनार्य-संस्कारों में पले हुए— व्यक्तियों के संस्कारों को बदलकर उन्होंने उन्हें शुद्ध आर्यत्व व निर्ग्रन्थता प्रदान की, उनकी अनेक जीवन-घटनाएं इस तथ्य की स्वयंभू प्रमाण हैं। उन घटनाओं में न सिर्फ एक ऐतिहासिक रोचकता है, किन्तु महावीर

१ भगवती सूत्र, शतक २, उद्देशक ३

का सिद्धान्त भी जीवित हो रहा है इसलिए भगवान् महावीर द्वारा किये गये संस्कार-शुद्धि के प्रयत्नों की एक झांकी यहां प्रस्तुत की जा रही है।

१. अर्जुनमाली : क्रूरता का दैत्य, करुणा का देवता

राजगृह में अर्जुन नामक मालाकार (माली) रहता था। नगर के बाहर उसका एक बहुत सुन्दर व्यावसायिक उद्यान था। उस उद्यान में उसके कुलदेवता मुद्गरपाणि यक्ष का प्राचीन मंदिर था।

अर्जुन बहुत सवेरे उठकर अपनी पत्नी बंधुमती के साथ उद्यान में आता। विभिन्न रंगों व अनेक जातियों के फूलों को बीनता, उनके गुलदस्ते, गजरे, हार व मालाएं बनाकर नगर में बेचता और अपनी आजीविका चलाता था।

एकबार राजगृह के कुछ बदमाशों की एक टोली जिसमें छह बदमाश थे, उद्यान में घुस आई। बंधुमती के सुकुमार सौन्दर्य पर मुग्ध होकर बलात्कार करना चाहा। मौका देखकर अर्जुन को रस्सियों से बांध दिया, और फिर बंधुमती को घेरकर उसके साथ स्वच्छंद कामाचार किया। अपनी नाक के नीचे दुष्टों का अत्याचार और पत्नी का दुराचार देखकर अर्जुन का खून खौल उठा। वह रस्सियों से बंधा था, क्या कर पाता? क्रोधावेश में उसने अपने कुलदेवता यक्ष को कोसना शुरु किया—"बचपन से मैं तुम्हारी पूजा-उपासना करता आया हूं, लेकिन आज जब मैं विपत्ति में फंसा तो तुम प्रस्तर की भांति निश्चेष्ट खड़े मेरा अपमान होता देख रहे हो ? लगता है, तुम में कुछ भी सत्व नहीं है।" अर्जुन की तड़पभरी पुकार का असर हुआ। यक्ष अर्जुन की देह में प्रविष्ट हो गया, अर्जुन के बंधन टूट गये। क्रोध और आवेशवश वह उन्मत्त-सा हो गया। मुद्गर हाथ में लिए दैत्य की भांति उठा और काम-रत छहों पुरुषों एवं अपनी एक स्त्री (बंधुमती) की हत्या कर डाली। इस पर भी अर्जुन का क्रोध शांत नहीं हुआ। उसके मन में मनुष्यजाति के प्रति भयंकर घृणा का भाव जाग उठा, वह भूखे शेर की भांति प्रतिदिन मनुष्यों पर झपटकर छह पुरुष एवं एक स्त्री की हत्या करके ही दम लेता। कुछ ही दिनों में रमणीय उद्यान के परिपार्श्व में नर-कंकालों का ढेर लग गया। अर्जुन के आतंक से जनता का आवागमन बंद हो गया, गलियां और राजमार्ग सुनसान हो गये। राजगृह के द्वार बंद कर दिये गये और किसी भी व्यक्ति को नगर के बाहर अर्जुन की दिशा में जाने का सख्त प्रतिरोध कर दिया गया।

उसी प्रसंग पर भगवान महावीर राजगृह में पधारे।[1] अर्जुन के आतंक के

---

१ दीक्षा का अठारहवां वर्ष, वि. पू. ४९५-४९६

कारण हजारों श्रद्धालु दर्शन करने की उत्सुकता लिए भी मन मारे बैठे रहे। सुदर्शन नाम के एक दृढ़ श्रद्धालु श्रावक ने भगवान महावीर के दर्शन हेतु उद्यान की ओर जाने का निश्चय किया। अपने संकल्प बल का सहारा लेकर वह नगरद्वार के बाहर निकला।

सुनसान गलियों में जैसे मौत नाच रही थी, किन्तु अभयमूर्ति सुदर्शन दृढ़ता के साथ आगे बढ़ा। बहुत दिनों के बाद मनुष्य को आया देखकर अर्जुन उन्मत्त की भांति मुद्गर लेकर उस ओर लपका। सुदर्शन वहीं ध्यानस्थ खड़ा हो गया। अर्जुन का मुद्गर उठा का उठा रह गया। सुदर्शन की सौम्यता के समक्ष अर्जुन की क्रूरता परास्त हो गई। वह स्तब्ध हुआ, फिर गिर पड़ा। सुदर्शन ने उसे उठाया, उसकी क्रूरता और दानवता को करुणा और स्नेह के हाथों से दुलारा। अर्जुन सुदर्शन के चरणों में गिर पड़ा—अपने क्रूर कर्मों पर पश्चात्ताप करता हुआ।

सुदर्शन ने कहा—"अर्जुन ! घबराओ नहीं ! तुम भी मनुष्य हो। तुम्हारे रक्त में दानवता के संस्कार घुस गये थे, इसी कारण तुमने सैकड़ों निरपराध प्राणियों की हत्या कर डाली, अब तुम प्रबुद्ध हुए हो, तुम्हारे दानवीय संस्करों में परिवर्तन आया है, चलो, मैं तुम्हें हमारे कल्याणद्रष्टा देवाधिदेव के पास ले चलूं।"

अर्जुन सुदर्शन के साथ-साथ भगवान् महावीर के समक्ष आया। प्रभु ने हृदयग्राही उपदेश-वृष्टि की। अर्जुन के रक्त की दानवीय ऊष्मा शांत हुई, करुणा की रसधारा फूट पड़ी। पश्चात्ताप के आंसू बहाकर उसने प्रभु के समक्ष प्रायश्चित्त किया और उसी क्षण कठोर मुनिचर्या स्वीकार कर ली।

अर्जुनमुनि को देखकर लोग आवेश में आ जाते। "यही है हमारे प्रिय स्वजन-मित्रों का हत्यारा !" स्थान-स्थान पर लोग उसे मारते-पीटते, त्रास देते। भगवान् महावीर ने अर्जुन को शिक्षामन्त्र दिया था—**तितिक्खं परमं नच्चा—तितिक्षा ही परम धर्म है**। अर्जुन ने इस मंत्र को साकार बनाया और छह मास की कठोर तपश्चर्या के बाद अनशन कर सब कर्मों से मुक्त हो, सिद्ध-बुद्ध दशा को प्राप्त हुआ।

अर्जुन जन्मना आर्य था, किन्तु उसमें अनार्यता के क्रूर संस्कार घुस गये थे। क्रूरता के उस दैत्य को समता का देवता बनाया—भगवान् महावीर ने संस्कार-शुद्धि की प्रक्रिया द्वारा।[1]

१ अंतगडदसाओ, वर्ग ६

रोहिणेय चोर : एक वचन से हृदय-परिवर्तन

राजगृह के वैभारपर्वत की उपत्यकाओं में एक चोर रहता था—लोहखुर ! बड़ा भयानक ! बड़ा दुर्दान्त ! पीढ़ियों से चौर्यकर्म करता आ रहा था वह !

लोहखुर का पुत्र था—रोहिणेय ! बाप से बेटा सवाया। चौर्यकर्म में बड़ा ही निपुण, दुर्दान्त ! लोहखुर ने मरते समय पुत्र से कहा—"पुत्र ! मेरी प्रतिष्ठा को तुम सदा बढ़ाते रहोगे, यह तो मुझे विश्वास है, तुम अपने धंधे में मुझसे भी अधिक चतुर हो, अधिक साहसी ! हां; किन्तु एक बात का ध्यान रखना। राजगृह में महावीर बार-बार आते हैं, लोगों को अपने उपदेशों द्वारा भरमाते रहते हैं, तुम कभी उनके निकट मत जाना, उनकी वाणी मत सुनना, बस यही मेरी अंतिम सीख है।"

पिता की आज्ञानुसार रोहिणेय भगवान महावीर के समवसरण से सदा दूर-दूर रहता। खुलकर चोरियां करता, अत्याचार करता। राजगृह में रोहिणेय का भयानक आतंक छा रहा था, नगरवासी उसके आक्रमणों से संत्रस्त हो उठे थे। सभी ने महाराज श्रेणिक के पास अपनी व्यथा सुनाई। श्रेणिक ने दस्युराज रोहिणेय को पकड़ने के हजारों उपाय किये, पर सब व्यर्थ ! रोहिणेय किसी की पकड़ में नहीं आया।

उन्हीं दिनों भगवान् महावीर का समवसरण राजगृह के उद्यान में था। रोहिणेय एक दिन उधर से निकला तो भगवान की देशना हो रही थी। उसने कानों में अंगुली डाल ली, तभी उसके पैर में एक तीखा कांटा चुभ गया। कांटा निकालने के लिए उसने हाथ, पैर की तरफ बढ़ाया, तब महावीर के कुछ शब्द उसके कानों में पड़े—"देवताओं के चरण पृथ्वी को नहीं छूते, उनके नेत्र निर्निमेष रहते हैं। उनका शरीर स्वेद रहित तथा पुष्पमाला सदा विकसित बनी रहती है।"

ये शब्द सुनते ही रोहिणेय बेचैन हो गया। वह बार-बार उन्हें भूलने की चेष्टा करता, पर ज्यों-ज्यों भूलने का प्रयत्न किया, त्यों-त्यों उनकी स्मृति पक्की हो गई।

राजगृह की प्रजा रोहिणेय के त्रास से व्याकुल हो उठी थी। मगध के शासनतंत्र के नाकों में दम आ गया, पर रोहिणेय नहीं पकड़ा गया। आखिर एक दिन अभयकुमार की योजना के अनुसार रोहिणेय पकड़ा तो गया, पर सादी नागरिक वेश-भूषा में, खाली हाथ। जब तक चोरी का माल न पकड़ा जाय और न कोई अपराध सिद्ध हो, तब तक उसे दंड भी कैसे दिया जाय ?

अभयकुमार ने हर संभव प्रयत्न किया, पर रोहिणेय ने अपना कुछ भी अपराध स्वीकार नहीं किया। आखिर उसे मादक सुरा पिलाई गई। और देव-विमान की तरह सजे हुये सात मंजिले महल में उसे सुलाया गया।

कुछ समय बाद रोहिणेय का नशा उतरा, आँखें खुलीं, उसे देखकर विस्मय हुआ—क्या, वह किसी स्वर्ग में पहुंच गया है? तभी अप्सरा-जैसी दासियां आकर—'जय! विजय!' कहकर मधुर स्वर में बोलने लगीं—"आप हमारे स्वामी हैं, अभी-अभी आप पृथ्वीलोक से प्रयाण कर इस स्वर्गविमान में अवतरित हुये हैं। अब आप हम अप्सराओं के साथ मन-इच्छित क्रीड़ा करते हुए स्वर्ग के सुख भोगिए।"

रोहिणेय को लगा—"सचमुच ही में स्वर्ग मैं आगया हूं? वह विस्मय के साथ सब कुछ देख रहा था। तभी एक देव-वेषधारी आया, नमस्कार पूर्वक बोला—"स्वर्ग में आपके अवतरण की बधाई! यहां की विधि के अनुसार प्रत्येक नव उत्पन्न देव को पहले अपने पूर्व-जन्म की सुकृत-दुष्कृत की कथा सुनानी पड़ती है, कृपया आप भी हमें बताइये आपने पूर्व-जन्म में क्या-क्या पुण्य किये थे, जिनके प्रभाव से हमारे स्वामी बने हैं?"

रोहिणेय अपने सुकृत-दुष्कृत, पुण्य-पाप का स्मरण करने लगा—उसने तो जन्म भर चोरियां की हैं, कभी कोई पुण्य कार्य तो किया ही नहीं। वह अपने पूर्वजन्म के दुष्कृत-अध्याय को शुरु करने ही वाला था कि उसे सहसा भगवान महावीर की वाणी याद आ गई—"देवता के चरण पृथ्वी को नहीं छूते।" उसने आस-पास में खड़े देव-देवियों की तरफ देखा और सहसा चौंक उठा—धोखा! प्रपंच! महावीर सत्यवादी हैं, ये लोग निश्चय ही देव नहीं। मुझे जाल में फंसाने की कोई चाल है। माया है। वह संभल गया और सहजमुद्रा में बोला—"मैंने तो अपने पूर्वजन्म में सब कुछ सुकृत-ही-सुकृत किया, पाप तो कभी किया ही नहीं।"

अभयकुमार की अंतिम चाल भी असफल हो गई। रोहिणेय पकड़ा गया, मगर अपराध सिद्ध न होने पर छोड़ना पड़ा। रोहिणेय साफ बचकर घर पर आ गया।

रोहिणेय रात भर करवटें बदलता सोचता रहा—"आज मैं जाल में गहरा फंसकर भी साफ बच गया, मृत्यु के मुंह में पहुंचकर भी निकल आया सिर्फ सत्य-वादी महावीर की वाणी के एक शब्द के सहारे।" महावीर की सत्यता पर रोहिणेय को पूर्ण आस्था हो गई, अब महावीर के चरणों में पहुंचने के लिए विकल हो उठा, क्षण-क्षण का विलम्ब असह्य हो गया। प्रातः होते-होते वह सीधा महावीर के चरणों

में जाकर आत्म-निंदा करने लगा। अपने दुष्कृत पर पश्चात्ताप कर उसकी शुद्धि का मार्ग पूछा। भगवान ने उसे संयम-साधना का मार्ग बताया।

मगधपति श्रेणिक, महामंत्री अभयकुमार महावीर के समवसरण में बैठे थे। "जिस रोहिणेय को पकड़ने में बुद्धिनिधान अभयकुमार भी असफल हो गया, वह मगध का दुर्दान्त दस्युराज आज श्रमण महावीर के चरणों में खड़ा—आत्म-शोधन का मार्ग पूछ रहा है, शरण मांग रहा है?" श्रेणिक ने रोहिणेय को गले से लगा लिया। अभय ने मित्रता का हाथ बढ़ाया। चोरी में लूटे हुए समस्त स्वर्ण-भंडारों का, गुप्तखजानों का पता बताकर रोहिणेय ने महाराज श्रेणिक को मगध की जनता का समस्त चुराया हुआ धन वापस कर दिया और अपने अपराधों की क्षमा मांग कर वह भगवान महावीर का शिष्य बन गया, श्रमणधर्म के असिधारा-पथ पर बढ़ गया।

अर्जुन हत्यारा था, रोहिणेय चोर था। दोनों ही अत्यन्त क्रूर! दुर्दमनीय! दुष्टता के दैत्यरूप! दोनों के मलिन संस्कारों का शुद्धीकरण किया—महावीर की समता-स्रावी वाणी ने। अनार्य को आर्य बनाया, असाधु को साधुता प्रदान की, हिंसक को अहिंसक, चोर को साहूकार! यही था महावीर की संस्कार-शुद्धि की प्रक्रिया का एक दिव्य रूप।....

आर्द्रक : अनार्य रक्त में आर्य आत्मा

संस्कार-परिवर्तन की दिशा में भगवान महावीर के जीवन की अनेक उपलब्धियाँ हैं। संस्कार-शुद्धि के माध्यम से अनेक दुष्टशिष्ट बने, दुर्जन सज्जन बने, असाधु साधु बने। वहाँ कुछ ऐसे विस्मयकारक उदाहरण भी मिलते हैं कि अनार्य देश में जन्मे, अनार्य रक्त में पले व्यक्ति उनके स्मरण व साक्षात्कार से आर्यधर्म में दीक्षित हो गए। इनमें से दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—आर्द्रक कुमार और कोटिवर्ष के अधिपति किरातराज के।

आर्द्रक कुमार के विषय में यह प्रसिद्ध है कि भगवान महावीर के परोक्ष मानसिक संपर्क से आर्द्रक के संस्कारों में परिवर्तन आया और वह परिवर्तन इतना वेगवान था कि उसकी प्रेरणा से सैकड़ों अन्य व्यक्तियों के संस्कार भी बदल गये। इसप्रकार वह भगवान महावीर के पास आने से पूर्व ही जातिस्मरण ज्ञान के कारण निर्ग्रन्थ-प्रवचन का श्रद्धालु बनकर दीक्षित भी हो गया था। जाति स्मृति से ही उसके संस्कारों में परिवर्तन आया और उसका निमित्त बना महावीर का श्रावक अभय। उसके साथ महामंत्री अभयकुमार की मित्रता थी। एक बार उपहारस्वरूप

अभय ने उसे श्रमण-परम्परा के कुछ धार्मिक उपकरण भेजे, जिन्हें देखते-देखते आर्द्रक को पूर्वजन्म की स्मृति हो गई।

अनार्यदेश से चलकर वह आर्यदेश में आया और मुनिव्रत ग्रहण कर लिए। आर्द्रक मुनि भगवान के पास आने से पूर्व अनेक राजकुमारों, तापसों और मंखलि गौशालक के साथ तत्त्वचर्चा करता है। गौशालक उसके समक्ष महावीर के पूर्व-पश्चात् जीवन में विरोधाभास दिखाकर उसे अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न करता है। महावीर पर अनेक प्रकार के सीधे आक्षेप करता है, जिनका आर्द्रक-कुमार बड़ी ही पैनी तर्क एवं व्यवहार दृष्टि से उत्तर देता है। आर्द्रक की प्रेरणा से अनेक राजकुमार, तस्कर एवं तापस प्रतिबुद्ध होकर भगवान के पास आते हैं और वहाँ उपदेश सुनकर सभी दीक्षित हो जाते हैं।[1] अनार्य रक्त में आर्य आत्मा का तेजस्वी रूप आर्द्रककुमार की कथा में स्पष्ट होता है। विस्तृत जीवनकथा सूत्र-कृतांग की टीका में देखी जा सकती है।[2]

किरातराज : रत्नों की खोज में

साकेत नगर में महावीर का तत्त्वज्ञ श्रावक सार्थवाह जिनदेव रहता था। जिनदेव एक बार व्यापार-यात्रा करता हुआ कोटिवर्ष (राढ देश की राजधानी) गया। वहाँ का शासक किरातराज नाम से प्रसिद्ध था।

जिनदेव अपने देश के बहुमूल्य वस्त्र-मणि-रत्न आदि का उपहार लेकर किरातराज से मिला। सुन्दर उपहार से किरातराज बहुत प्रसन्न हुआ। रत्नों को देखकर वह विस्मित हो पूछने लगा—"इतनी सुन्दर वस्तुएँ कहाँ उत्पन्न होती हैं?"

जिनदेव ने कहा—"हमारे प्रदेश में इनसे भी सुन्दर और बहुमूल्य रत्न उत्पन्न होते हैं।"

"मेरी तो इच्छा होती है कि मैं भी तुम्हारे प्रदेश में जाकर ऐसी सुन्दर वस्तुएँ देखूँ......लेकिन तुम्हारे वहाँ के शासकों का डर लगता है....?" किरातराज ने कहा।

"महाराज! हमारे राजाओं से डरने की कोई बात नहीं है, वह आपके साथ बड़े प्रेम और सम्मान का व्यवहार करेंगे, आप चलिए, मैं वहाँ की सब व्यवस्था कर देता हूं।"

१ आर्द्रक का महावीर के पास आगमन दीक्षा वर्ष १६ वाँ। वि. पृ. ४१४।
२ विस्तृत विवरण के लिए देखें—सूत्रकृतांग श्रु०त० २, अ० ६ की टीका व निर्युक्ति।

जिनदेव के साथ किरातराज साकेत आया। जिनदेव ने उसका बड़ा ही आतिथ्य-सत्कार किया।

उसी प्रसंग पर भगवान् महावीर विहार करते हुए साकेत में पधारे।[1] नगर में अपूर्व उत्साह उमड़ पड़ा। हजारों नर-नारी उद्यान की ओर जाने लगे। यह चहल-पहल देखकर किरातराज ने जिनदेव से पूछा—"क्या आज कोई महोत्सव है ?"

जिनदेव ने कहा—"आज यहाँ रत्नों के सबसे बड़े व्यापारी आये हैं, संसार में सबसे मूल्यवान रत्न उन्हीं के पास हैं।"

किरातराज की जिज्ञासा प्रबल हो उठी—"सार्थवाह ! तब तो यह बहुत ही अच्छा प्रसंग है, हम भी चलें और बढ़िया-से-बढ़िया रत्नों को देखें, खरीदें।"

जिनदेव किरातराज को साथ लेकर भगवान् के समवसरण में आया। समवसरण की दिव्य रचना और भगवान् का अतिशय देखकर किरातराज चकित हो गया। उसने भगवान् के निकट आकर पूछा—"महानुभाव ! आपके पास कितने प्रकार के रत्न हैं ? उनका मूल्य आदि क्या है ?"

सरलमना किरातराज को सम्बोधित कर भगवान् ने बताया—"रत्न दो प्रकार के होते हैं— भाव रत्न और द्रव्य रत्न ! द्रव्य रत्न जड़ व नश्वर होते हैं, भाव रत्न सचेतन और शाश्वत हैं।"

किरातराज—"मुझे भाव रत्न के विषय में ही बताइए।"

भगवान ने भाव रत्न—ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र (रत्नत्रय) के सम्बन्ध में विस्तार से प्रकाश डाला, किरातराज मुग्धभाव से सुनते रहे। भगवान् ने अंत में कहा—"इन रत्नों को धारण करने वालों के समस्त कष्ट और दुःख दूर हो जाते हैं।"

किरातराज भगवान् का प्रवचन सुनकर संतुष्ट हुआ, उसके संस्कार बदल गये, जड़ रत्नों की खोज करते-करते उसे दिव्य रत्न मिल गये। प्रतिबुद्ध हो भगवान् के पास भाव रत्न की भिक्षा मांगी, और वह श्रमणधर्म में प्रव्रजित हो गया।[2]

संस्कार-परिवर्तन की ये कुछ घटनाएँ अपने आप में अनोखी हैं। संस्कार की शुद्धि हृदय-परिवर्तन से ही संभव है और वह हृदय-परिवर्तन मनुष्य के अन्तःकरण की जागृति से होता है।

१ दीक्षा का ३६ वां वर्ष, वि. पू. ९७७-९७६
२ आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १३०५

इन घटनाओं में भगवान महावीर की दिव्य प्रेरणा का स्वर जहाँ सर्वाधिक मुखर है, वहाँ एक अनुस्वर और भी गूँज रहा है—

अर्जुन के संस्कार-परिवर्तन में सुदर्शन का योग।
रोहिणेय के संस्कार-परिवर्तन में अभय का योग।
आर्द्रक के संस्कार-जागरण में भी अभय का योग।
किरातराज के संस्कार-निर्माण में जिनदेव का योग।

इन श्रमणोपासकों की भूमिका भी यह सूचन करती है कि महावीर के अनुयायी न केवल श्रद्धाशील विरक्त वृत्ति वाले व्यक्ति थे, किन्तु श्रद्धा के साथ तत्त्वचिंतन, आत्मबल, साहस, नीतिकुशलता, स्वदेश-प्रेम और वाक्‌चातुर्य से संपन्न भी थे। धर्म-संघ के विस्तार-विकास में, और भगवान महावीर के संस्कार-शुद्धि सिद्धान्त के प्रसार में उनका भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

बिन्दु में सिंधु की सत्ता

(अतिमुक्तक की मुक्ति)

भगवान् महावीर अपने उपदेशों में प्रायः इस बात पर बल दिया करते थे कि प्रत्येक आत्मा अनन्तशक्ति का स्रोत है। जैसी अनन्त आत्मशक्ति तीर्थंकर की आत्मा में है, वैसी ही अनन्त आत्मशक्ति का स्रोत एक अबोध बालक की आत्मा में भी है, प्रत्येक बीज में महावृक्ष का अस्तित्व विद्यमान है, प्रत्येक बिन्दु में सिंधु की सत्ता छिपी है। अपेक्षा उसके विस्तार व विकास की है। भगवान् का यह भी उपदेश था कि—वर्तमान में किसी आत्मा की अज्ञान व प्रमादमय प्रवृत्ति को देखकर उसका उपहास नहीं करना चाहिए, किंतु उसकी आत्मा में छिपी अनन्त ज्ञानचेतना को लक्ष्य कर उसके शुद्ध व उज्ज्वल स्वरूप का दर्शन करना चाहिए। भगवान् महावीर वर्तमान के द्रष्टामात्र नहीं, किंतु अनन्त भविष्य के द्रष्टा थे। उनकी इस दिव्यदृष्टि के स्वरूप को स्पष्ट करने वाला एक रोचक प्रसंग है—

पोलासपुर में विजय राजा की श्रीदेवी नाम की रानी थी। उनका एक पुत्र था—अतिमुक्तक। एक बार भगवान् महावीर पोलासपुर में पधारे। गणधर इन्द्रभूति भिक्षार्थ पर्यटन करते हुए राजभवन की ओर निकल गये। राजकुमार अतिमुक्तक बच्चों के साथ क्रीड़ा कर रहा था। इन्द्रभूति को आते देखकर अतिमुक्तक को बड़ा कुतूहल हुआ।

उसने पूछा— आप कौन हैं ?
इन्द्रभूति ने कहा—मैं श्रमण हूं।
इधर किसलिए आये हैं ?
भिक्षा लेने के लिए।
तो मेरे घर भी चलिए……।

गौतम का संकेत पाकर अतिमुक्तक उनके आगे हो गया और उन्हें सीधा अपने भवन के अन्दर रसोईघर की तरफ ले गया। श्रीदेवी ने अतिमुक्तक के साथ गणधर इन्द्रभूति को आते देखा तो वह भाव-विभोर हो गई। उसने अत्यत भक्ति के साथ भिक्षा दी। अतिमुक्तक इन्द्रभूति के साथ-साथ भगवान् महावीर के पास आया। बालक की तेजस्विता और प्रबल ज्ञान-जिज्ञासा मुंह बोल रही थी। भगवान् ने उसे उपदेश सुनाया। उसका मन प्रबुद्ध हो गया। माता के पास जाकर भगवान् का शिष्य बनने की अनुमति मांगी। मां ने कहा—"बेटा ! अभी तुम्हारी अवस्था बहुत कच्ची है, तुम धर्म-कर्म को क्या जानते हो ?"

"मां ! मैं जो जानता हूं, वह नहीं जानता, जो नहीं जानता, वह जानता हूं।" —अतिमुक्तक ने कहा।

"बेटा ! इस पहेली का क्या अर्थ ?"—मां ने पूछा

"मां ! मैं यह जानता हूं कि प्रत्येक देहधारी को एक दिन मरना है, पर कब, कैसे मरना है, यह नहीं जानता। मैं यह नहीं जानता, कौन प्राणी किन कर्मों के कारण नरक आदि योनियों में परिभ्रमण करता है, पर यह जानता हूं कि आत्मा अपने ही कर्मों के कारण संसार-भ्रमण करता है।"

बालक के मुंह से गंभीर-ज्ञान की बातें सुनकर माता-पिता ने सोचा— यह भव्य-आत्मा संसार की मोह-ममता में फंसने वाला नहीं है। उन्होंने समारोह पूर्वक उसे भगवान् के पास दीक्षित होने दिया।[1]

वर्षा का सुहावना समय था। बाल मुनि अतिमुक्तक शौच के लिए स्थविर मुनियों के साथ बाहर गये। पानी की निर्मलधारा बह रही थी, हवा के झोकों से उसमें लहरें उठ रही थीं। बाल मुनि का मन भी शिशु-क्रीड़ा के लिए लहरा उठा। पाल बांधकर पानी को रोका और उसमें अपना काष्ठपात्र रखते हुए खुशी में नाचने लगे—"अहा ! यह मेरी नाव तर रही है।"

१ अंतगडदसाओ, वर्ग ६ अध्ययन १५

स्थविरों ने बाल-मुनि की यह जलक्रीड़ा देखी, वे उसकी अज्ञान-दशा पर हँस पड़े—"आखिर बालक जो है, साध्वाचार को क्या जाने....?" स्थविर भगवान् के पास शिकायत लेकर आये और व्यंग्यपूर्वक पूछा—"भंते ! आपका बाल शिष्य अतिमुक्तक कितने भवों में सिद्धगति प्राप्त करेगा ?"

भगवान् ने स्थविरों को सम्बोधित कर कहा—"स्थविरो ! अतिमुक्तक इसी भव में सिद्ध होगा। उसकी आत्मा अत्यंत सरल, विनम्र और भव्य है। तुम वर्तमान में उसके क्षणिक प्रमाद की ओर देखकर जो निंदा एवं उपहास कर रहे हो, यह तुम्हारी भूल है, उसका अनन्त ज्ञान-दर्शनसम्पन्न उज्ज्वल भविष्य देखो।"[1]

भगवान महावीर के संकेत ने स्थविरों की अन्तर्दृष्टि खोल दी। वे सिर्फ क्षुद्र वर्तमान को देख रहे थे, भगवान् ने उन्हें अनन्त भविष्य को देखने की प्रेरणा दी। यही तो उनकी दिव्यदृष्टि है जो बिन्दु में सिन्धु की सत्ता का बोध कराती है।

इस प्रकार के अन्य भी अनेक प्रसंग भगवान् महावीर के जीवन में घटित हुए, जब क्षुद्र वर्तमान की परिधि में बंधे प्राणियों को उन्होंने भविष्य के विराट् गगन में प्रतिष्ठित किया। आत्मा के रम्यस्वरूप का दर्शन कराया। अ-सुन्दर वर्तमान में भी सुन्दर भविष्य के देखने की दिव्यदृष्टि दी।

परिनिर्वाण

इस अवसर्पिणी काल में भगवान् महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे। तीर्थंकर अनेक दिव्य विभूतियों तथा अतिशयों से युक्त होते हैं। वे अपने युग के सर्वोत्तम धर्मनेता, महान सत्यद्रष्टा तथा अनन्त तेजस् संपन्न आध्यात्मिक पुरुष होते हैं। तीर्थंकर की अनेक विशिष्टताओं में एक विशिष्टता बताई गई है—'तिन्नाणं तारयाणं', वे इस मोह-कषाय युक्त संसार से स्वयं पार होते हैं तथा दूसरों को पार होने में सहायक बनते हैं।

भगवान् महावीर ने अपने इस विशेषण को पूर्णतः कृतार्थ किया—यह पिछले पृष्ठों को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। श्रमण-जीवन के ४२ वर्षों में बारह वर्ष से कुछ अधिक समय तक वे स्वयं की साधना में लीन रहे, उदग्र तपश्चरण, मौन चिन्तन एवं ध्यान-योग द्वारा कर्म क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया। स्वयं भव-सागर से तिरे, और

1 भगवती सूत्र, शतक ५ उ. ४

फिर लगभग ३० वर्ष तक भूमंडल में धर्मयात्रा करते हुए हजारों-लाखों आत्माओं को भव-सागर तैरने में सहायक बने।

भगवान् महावीर ने जीवन का अन्तिम वर्षावास अपापा (पावापुरी) में किया। भगवान् को ज्ञात था कि यह उनके जीवन का अन्तिम वर्ष है, और गौतम आदि उनके शिष्य भी इस भावी प्रसंग से अपरिचित नहीं थे। इसलिए सब के मन में जिज्ञासाएं उठ रही थीं—भगवान् की विद्यमानता में यह युग पूर्ण सुखमय है, इनके पश्चात् भारतवर्ष की क्या स्थिति होगी? शिष्यों की जिज्ञासा को लक्ष्य कर भगवान् महावीर ने आने वाले युग (पांचवें आरे) के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट बातें बताई। अपनी देशना में भगवान् ने कहा—

"तीर्थंकरों की विद्यमानता में यह भारतवर्ष सब प्रकार से सुखी एवं सम्पन्न रहता है। लोगों में परस्पर मैत्री, स्नेह एवं सहयोग की भावना रहती है। इस समय के गांव, नगर जैसे; नगर, देवलोक जैसे; कौटुम्बिक, राजा जैसे और राजा, कुबेर जैसे समृद्ध व उदार होते हैं। आचार्य इन्द्र के समान, माता-पिता देव के समान, सास-श्वसुर माता-पिता के समान होते हैं। जनता धर्माधर्म के विवेक से युक्त, विनीत, सरल, भद्र, सत्य-शीलसम्पन्न तथा देव-गुरु एवं धर्म के प्रति समर्पित होती है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, महामारी जैसे उपद्रव नहीं होते।

"अब, जब तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि नहीं होंगे; केवलज्ञान जैसे विशिष्ट ज्ञान एवं आत्म-विभूतियों का लोप हो जायेगा। देश की स्थिति क्रमशः बिगड़ती जायेगी। समय पर वृष्टि नहीं होगी, कहीं बाढ़ें आयेंगी, कहीं दुर्भिक्ष पड़ेगा। अनेक संक्रामक तथा कठिन रोग फैलेंगे। मनुष्य में क्रोध-काम-लोभ आदि वृत्तियां प्रबल हो जायेंगी, विवेक घटेगा, स्वार्थ बढ़ेगा, विनय कम होगा, उद्दंडता तथा दुर्नीतियां बढ़ेंगी। मर्यादाएं छिन्न-भिन्न हो जायेंगी, चोर अधिक चोरी करेंगे, राजा अधिक कर लेंगे, गुरु शिष्यों को ज्ञान नहीं देंगे, शिष्य गुरुजनों का अपमान करेंगे। भिक्षु-भिक्षुणियों में भी कलह व आचारशैथिल्य बढ़ेगा। दान-शील-तप की हानि होगी, मात्स्य-न्याय से सबल दुर्बल को सताते रहेंगे। सज्जन संत्रास भोगेंगे।

पांचवें आरे के बाद छठा आरा आयेगा, वह अत्यंत कष्टमय होगा। अवसर्पिणी काल के रूप में यह अर्ध-कालचक्र समाप्त होगा, फिर उत्सर्पिणी काल के आरे क्रमशः चलेंगे। इस प्रकार भगवान् ने बीस कोटाकोटि प्रमाण कालचक्र की गति एवं उसका जन-जीवन पर जो प्रभाव होगा, उसका वर्णन किया।

भगवान् की देशना से अनेक भव्यों के मन में वैराग्य जगा. अनेक श्रद्धाशील व्यक्ति भावी अनिष्ट की आशंका से मन में जरा उदास भी हो गये। सब को अब

लग रहा था— भगवान् का सान्निध्य अब कुछ ही दिनों का है। पावा के राजा हस्तिपाल ने भगवान् से अपनी रज्जुक सभा (लेखशाला) में वर्षावास करने की प्रार्थना की। भगवान् वहीं पधारे। चातुर्मास के तीन मास और १४ दिन व्यतीत हो गये। कार्तिक अमावस्या का दिन निकट आया। अंतिम देशना के लिए अंतिम समवसरण की रचना हुई। देवराज इन्द्र ने भावविभोर होकर भगवान् की संस्तुति की, फिर राजा हस्तिपाल ने मुक्तमन से भगवान् की अभिवंदना की।

भगवान् महावीर ने अपने तीर्थंकर जीवन में अब तक हजारों देशनाएँ दी थीं और हजारों-लाखों भव्य प्रतिबुद्ध हुए। आज अंतिम समय में जीवन-भर के उपदेशों का उपसंहार करना था, इसलिए भगवान् ने विशाल धर्मसभा में दीर्घकालीन देशना प्रारंभ की। इस देशना की विशिष्टता यह थी कि—अन्य प्रवचनों में जहाँ समय-समय पर गूढ़ तत्त्वचर्चाएं भी आती थीं, वहाँ इस देशना में प्रायः आचार-चर्चा ही मुख्य रही। भगवान् ने सदाचार का महत्त्व, सुकृत एवं दुष्कृत का फल बताने वाले ११० अध्ययनों का प्रवचन किया।[1] इसके बाद उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों का व्याकरण किया। उत्तराध्ययन में भी मुख्यता आचार-धर्म की है। विनय, अनुशासन, क्षमा-तितिक्षा, निस्पृहता, ब्रह्मचर्य, संयम, श्रुताभ्यास, तपश्चरण, भावना आदि विभिन्न विषयों पर साररूप में भगवान् ने प्रकाश डाला। उत्तराध्ययन को भगवान् महावीर का 'शिक्षा-संग्रह' भी कहा जा सकता है।

इस प्रकार १६ प्रहर तक भगवान् अपने शिष्य-समुदाय को संबोधित कर अन्तिम उपदेश सुनाते रहे।

इस सभा में अनेक प्रकार की प्रश्नचर्चाएँ भी बीच-बीच में होती रहीं। राजा पुण्यपाल ने अपने ८ स्वप्नों का फल पूछा। गणधर इन्द्रभूति ने पूछा—"भंते! आपके निर्वाण के पश्चात् पांचवां आरा कब लगेगा?"

भगवान् ने उत्तर दिया—"तीन वर्ष, साढ़ आठ मास बीतने पर।" फिर गौतम ने आगामी उत्सर्पिणी में होने वाले तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव-बलदेव आदि के सम्बन्ध में प्रश्न किये, भगवान् ने सभी का संक्षिप्त परिचय दिया।

गौतम का स्नेहबंधन-विमोचन

भगवान् महावीर के प्रति गौतम के मन में अत्यधिक अनुराग था। इसे हम शुभ धर्मानुराग भले ही कह दें, किन्तु वीतराग महावीर की दृष्टि में यह राग भी तो

१ ५५ अध्ययन सुखविपाक के, ५५ अध्ययन दुःखविपाक के। —समवायांग ५५

आखिर राग ही था, बंधन था, मुक्ति का अवरोधक था। भगवान् ने कई बार गौतम को उद्दिष्ट कर सूचित भी किया कि तुम्हारा यह स्नेहबंधन पूर्ण वीतरागता में बाधक है।

एक बार का प्रसंग है कि भगवान् ने साल-महासाल मुनियों को उनके पूर्व-जीवन की राजधानी पृष्ठचंपा में उपदेश देने के लिए भेजा। इन्द्रभूति उनके अग्रणी बनकर साथ में गये। पृष्ठचंपा का राजा गागलि साल-महासाल मुनि का भागिनेय (भानजा) था। वह उपदेश सुनकर प्रतिबुद्ध हुआ, उसके पिता पिठर व माता यशोमति भी विरक्त हुई। सभी ने गौतम के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

गौतम, साल-महासाल तथा गागलि, पिठर यशोमति आदि को साथ लिये भगवान् महावीर की वंदना करने चंपा की ओर आये। मार्ग में शुभ अध्यवसाय की विशिष्टता के कारण पाँचों को केवलज्ञान हो गया, गौतम को इसका पता नहीं था। भगवान् के समवसरण में आते ही उन्होंने पाँचों की ओर संकेत कर कहा—"आओ! तुम भगवान् की वंदना करो।"

केवलज्ञानी को किसी के उपदेश व आदेश की अपेक्षा नहीं होती। अतः भगवान् महावीर ने गौतम से कहा—"गौतम! तुम केवलज्ञानियों की अशातना कर रहे हो।"

गौतम आश्चर्यचकित-से रह गये—कैसे? भगवान ने पाँचों ही श्रमणों के केवलज्ञानी होने की सूचना दी। गौतम सोचने लगे—"मैंने जिनको अभी-अभी दीक्षा दी, वे तो केवलज्ञानी हो गये, और मैं इतने वर्ष से संयम-साधना कर रहा हूं, मुझे अभी तक भी केवलज्ञान नहीं हुआ? क्या मेरा ज्ञानावरण इतना सघन है? या चारित्र-साधना में कहीं कुछ स्खलना हो रही है? जिस कारण मुझे केवलज्ञान नहीं हो रहा है? मुझे इस भव में सिद्धि (मुक्ति) मिलेगी भी या नहीं.......?" इसी विचार में गौतम गंभीर हो गए। उनके मन में उदासी छा गई, आँखों में खिन्नता भर गई।

भगवान् ने प्रसंग देखकर गौतम की खिन्नता को दूर करते हुए कहा—"गौतम! तुम्हारे मन में मेरे प्रति अत्यधिक स्नेह-राग है, इस स्नेह की जड़ें बहुत गहरी हैं, पूर्व के अनेक भवों में तुम और मैं साथ-साथ रहे हैं, परस्पर गहरे मित्र, स्नेही और सम्बन्धी भी रहे हैं। इस पूर्व-परिचय, पूर्व-स्नेह एवं दृढ़ अनुराग के सूत्र अब भी तुम्हारे हृदय में हैं, और तुम मेरे प्रति अत्यधिक स्नेह रखते हो। इसी कारण तुम अब तक अपने मोहावरण का क्षय नहीं कर पाये और केवलज्ञान से वंचित रहे हो। हां, अब तुम शीघ्र ही मोह का क्षय कर पाओगे, केवली बनोगे। देहत्याग के

बाद तुम और मैं दोनों एक ही सिद्धस्थान पर जाकर स्थित होंगे। तब हमारे सब भेद दूर हो जायेंगे। हम सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनेंगे।[1]

भगवान् के मधुर वचनों से आश्वस्त हो गौतम प्रसन्न हो गये, खिन्नता दूर हो गई।

इस घटना से यह प्रकट होता है कि गौतम के मन में भगवान् महावीर के प्रति अत्यधिक अनुराग था। इस अनुराग के कारण देहवियोग के समय विह्वल होना भी संभव था। इस कारण भगवान् ने अपने अंतिम समय में गौतम को दूर रखना ठीक समझा। अतः निकट में ही देवशर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिए गौतम को वहां भेज दिया गया।

आयु-वृद्धि की प्रार्थना

भगवान् के निर्वाण का समय जैसे-जैसे निकट आ रहा था, वातावरण में एक उदासी एवं निराशा छा रही थी। उस समय देवराज इन्द्र का आसन कंपित हुआ। देवों के विशाल परिवार के साथ भगवान् के चरणों में उपस्थित होकर देवेन्द्र ने अनुरोध किया— "भगवन्! आपके गर्भ, जन्म, दीक्षा एवं केवलज्ञान के समय हस्तोत्तरा नक्षत्र था, इस समय उसमें भस्मग्रह संक्रांत होने वाला है। यह नक्षत्र दो हजार वर्ष तक आपके धर्मसंघ के प्रभाव को क्षीण करता रहेगा, अतः यह जब तक आपके जन्म-नक्षत्र में संक्रमण कर रहा है, आप अपने आयुष्य बल को स्थिर रखिए। आपके अचिन्त्य प्रभाव से वह दुष्ट ग्रह सर्वथा निष्फल एवं प्रभावहीन हो जायेगा।"

भगवान् ने कहा—"शक्र! आयुष्य कभी बढ़ाया नहीं जा सकता। यद्यपि अर्हन्त अनन्त बलशाली होते हैं, किंतु आयुबल को बढ़ाना उनके भी वश की बात नहीं है। काल-प्रभाव से जो कुछ होना है, उसे कौन रोक सकता है?"

शक्रेन्द्र विनत होकर मौन रह गये।

निर्वाण

अमावस्या की इस सघन रात्रि में संसार अंधकार में लीन था। इधर पावा का पुण्यभूमि में भगवान् के उपदेशों की ज्ञानज्योति जल रही थी। उपदेश करते-करते प्रभु पर्यंङ्कासन (पद्मासन) में स्थित हो गए। बादर (स्थूल) काययोग का निरोध कर मन एवं वचन के सूक्ष्म योगों का निरोध किया। पश्चात् सूक्ष्म काययोग का भी निरोध कर लिया। 'समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति' नामक शुक्लध्यान की चतुर्थ दशा को प्राप्त हुए। फिर शैलेशी (मेरुवत् अकंपदशा) अवस्था को प्राप्तकर चार अघाति कर्मों

---

१ भगवती, १४।७

का क्षय किया और भगवान् महावीर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। एक प्रचंड ज्ञानज्योति सहसा लुप्त हो गई। संसार में सघन अन्धकार छा गया। क्षण भर के लिए स्वर्ग भी अन्धकार में व्याप्त हो गया।

इन्द्रभूति गौतम को भगवान् के निर्वाण का सम्वाद मिला। उनके श्रद्धाविभोर हृदय पर वज्र-सा आघात हुआ। वे मोह एवं स्नेह में विह्वल हो विलाप करने लगे।

भगवन् ! यह आपने क्या किया ? इस अवसर पर मुझे दूर क्यों भेज दिया ? क्या मैं बालक की तरह आपका अंचल पकड़कर मोक्ष जाने से रोक लेता था ?···· अब मैं किस को प्रणाम करूंगा, किससे अपनी जिज्ञासाओं का समाधान करूंगा···· यों भगवान् के सुखद सान्निध्य की स्मृतियों को ताजा कर-कर आंसू बहाने लगे।

विह्वलता का तूफान जैसे ही शांत हुआ। गौतम के अन्तर् में ज्ञान की ज्योति जगी। सोचने लगे—"वीतरागों के साथ स्नेह कैसा ? मोह कैसा ? यह देह तो जड़ है, इसका त्याग किये बिना मुक्ति कैसे होगी ? प्रभु देह त्यागकर मुक्त हो गये, अब मुझे भी तो उसी पथ पर बढ़ना है।"

इस प्रकार चिन्तन में लीन होते ही गौतम के मोह-आवरण हटने लगे। भावना की विशुद्धता तीव्र होने लगी। क्षण भर में स्नेह के बंधन टूट गये, ज्ञान के आवरण सर्वथा विलीन हो गये और गौतम को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। वह थी अमावस्या की पश्चिम रात्रि ! अन्तिम प्रहर !

निर्वाण-कल्याणक

जिस रात्रि में भगवान् का निर्वाण हुआ, उस रात को नौ मल्लवी नौ लिच्छवी, ये काशी-कौशल देश के अठारह गणराजा पौषधव्रत में थे। इधर ज्ञान का दिव्य भास्कर अस्त हो गया. संसार गहन अंधकार में डूबा गया, प्रकृति भी अन्धकार फैला रही थी, अतः उस अन्धकार को दूर करने के लिए देवताओं ने रत्नों के दीपक जलाकर प्रकाश किया। भगवान् कर्मबंधनों से मुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त हुये अतः उनका देहत्याग भी उत्सव के रूप में परिणत हो गया। देवताओं के गमनागमन से भूमंडल आलोकित हो गया। मनुष्यों ने भी दीपक जलाये, चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश फैल गया।

प्रातःकाल उस लोकोत्तर पुरुष के पार्थिव देह की अन्त्येष्टि की गई। संसार से एक दिव्य ज्योति विलीन हो गई।[1]

[1] वि. पू. ४७०। ई. पू. ५२८, नवम्बर

श्रद्धाञ्जलि

भगवान महावीर के परिनिर्वाण पर उनके संघ का दायित्व गणधर सुधर्मा के कंधों पर आया। भगवान् की स्मृति में गणधर सुधर्मा ने अपने आराध्य के प्रति बड़ी ही भावभीनी शब्दावली में संस्तुति करते हुए श्रद्धांजलि अर्पित की। इस श्रद्धांजलि की कुछ पंक्तियां दुहरा कर हम उस लोकोत्तर प्रकाशपुरुष प्रभु के चरणों में वंदना कर लेते हैं--

वृक्षों में जैसे शाल्मलिवृक्ष श्रेष्ठ होता है, वनों में नन्दनवन श्रेष्ठ है उसी प्रकार दीर्घप्रज्ञ महावीर ज्ञान एवं शील में श्रेष्ठ है।

जैसे उदधि (समुद्र) में स्वयंभूरमण समुद्र, नागकुमारों में धरणेन्द्र, रसों में इक्षुरस श्रेष्ठ एवं जयवंत हैं, उसी तरह तप-उपधान में महामुनि (महावीर) श्रेष्ठ हैं।

जैसे हाथियों में ऐरावत, वनचरों में सिंह, जल में गंगाजल और पक्षियों में वेणुदेव गरुड़ प्रधान श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार निर्वाणवादियों में ज्ञातपुत्र श्रेष्ठ हैं।

जैसे योद्धाओं में वासुदेव, पुष्पों में अरविंद, क्षत्रियों में दन्तवक्र श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार ऋषियों में श्रमण वर्धमान श्रेष्ठ हैं।

दानों में जैसे अभयदान, सत्य में जैसे निरवद्य वचन, तप में जैसे उत्तम ब्रह्मचर्य तप श्रेष्ठ है उसीप्रकार संसार में ज्ञातपुत्र उत्तम व श्रेष्ठ श्रमण हैं।[1]

१ सूत्रकृतांग अध्ययन ६

भगवान महावीर का चातुर्मास विवरण

जन्म—विक्रमपूर्व ५४२, चैत्र शुक्ला १३, क्षत्रियकुण्ड
दीक्षा—विक्रमपूर्व ५१२, मार्गशीर्ष कृष्णा १०, क्षत्रियकुण्ड

वर्ष	विक्रमपूर्व	ईस्वीपूर्व	स्थान
१	५१२	५६९	अस्थिकग्राम
२	५११	५६८	नालन्दा सन्निवेश
३	५१०	५६७	चम्पानगरी
४	५०९	५६६	पृष्ठचंपा
५	५०८	५६५	भद्दिया नगरी
६	५०७	५६४	भद्दिया नगरी
७	५०६	५६३	आलभिया
८	५०५	५६२	राजगृह
९	५०४	५६१	वज्रभूमि
१०	५०३	५६०	श्रावस्ती
११	५०२	५५९	वैशाली
१२	५०१	५५८	चंपा

केवलज्ञान—वि०पू० ५००, वैशाखशुक्ला १०, ऋजुबालुका के तट पर
तीर्थस्थापना—वि० पू० ५००, ,, ११, मध्यमपावा में

वर्ष	विक्रमपूर्व	ईस्वीपूर्व	स्थान
१३	५००	५५७	राजगृह
१४	४९९	५५६	वैशाली
१५	४९८	५५५	वाणिज्यग्राम
१६	४९७	५५४	राजगृह
१७	४९६	५५३	वाणिज्यग्राम
१८	४९५	५५२	राजगृह
१९	४९४	५५१	राजगृह
२०	४९३	५५०	वैशाली
२१	४९२	५४९	वैशाली
२२	४९१	५४८	राजगृह
२३	४९०	५४७	वाणिज्यग्राम

वर्ष	वि० पू०	ई० पू०	स्थान
२४	४८६	५४६	राजगृह
२५	४८८	५४५	राजगृह
२६	४८७	५४४	चंपा
२७	४८६	५४३	मिथिला
२८	४८५	५४२	वाणिज्यग्राम
२९	४८४	५४१	राजगृह
३०	४८३	५४०	वाणिज्यग्राम
३१	४८२	५३९	वैशाली
३२	४८१	५३८	वैशाली
३३	४८०	५३७	राजगृह
३४	४७९	५३६	नालन्दा
३५	४७८	५३५	वैशाली
३६	४७७	५३४	वैशाली
३७	४७६	५३३	राजगृह
३८	४७५	५३२	नालन्दा
३९	४७४	५३१	मिथिला
४०	४७३	५३०	मिथिला
४१	४७२	५२९	राजगृह
४२	४७१	५२८	अपापापुरी (पावा)

परिनिर्वाण---वि० पू० ४७१ कार्तिक अमावस्या, अपापापुरी
ई० पू० ५२८ नवम्बर

विशेष :—वास्तव में भगवान् महावीर का निर्वाण ईस्वी पूर्व ५२८, नवम्बर, तदनुसार विक्रम पूर्व ४७१ तथा शक पूर्व ६०५ वर्ष ५ मास में हुआ। किंतु चूंकि नवम्बर वर्ष का ११ वां महीना था, सन् ५२८ पूर्ण हो रहा था, अतः गणना में सुविधा की दृष्टि से महावीर का निर्वाणकाल ई०पू० ५२७ तथा वि. पू. ४७० मान लिया गया है। देखें—'वीर-निर्वाण संवत् और जैन कालगणना' (मुनि कल्याणविजय जी) तथा 'आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन' (मुनि नगराज जी) पृ० ६५।

शिष्य-संपदा

जिस रात्रि में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी रात्रि में गणधर इन्द्रभूति को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। केवलज्ञानी किसी संघ का उत्तराधिकार स्वीकार नहीं करते, इस परम्परा के कारण भगवान् महावीर के पश्चात् संघ का दायित्व व नेतृत्व गणधर सुधर्मा के कंधों पर आया।

भगवान् महावीर के धर्मसंघ में—

१४ हजार श्रमण थे, जिनमें मुख्य थे इन्द्रभूति।

३६ हजार श्रमणियां थीं, जिनमें मुख्य थीं आर्या चन्दना।

१ लाख ५६ हजार श्रावक थे, जिनमें मुख्य थे शंख और शतक।

३ लाख १८ हजार श्राविकाएं थीं, जिनमें मुख्य थीं सुलसा और रेवती।

इनमें से ७०० श्रमण व १४०० श्रमणियों ने मोक्ष प्राप्त किया। ८०० शिष्य अनुत्तर विमान में देव हुए।

भगवान् महावीर की शिष्य-संपदा एवं गणों का विस्तृत विशेष वर्णन कल्पसूत्र (सुबोधिका टीका) में देखना चाहिए।

भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे, उनके नौ गण थे।

गणधरों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१	इन्द्रभूति	५० वर्ष गृहवास	३० वर्ष छद्मस्थ	१२ वर्ष केवलीजीवन
२	अग्निभूति	४६ ,,	१२ ,,	१६ ,,
३	वायुभूति	४२ ,,	१० ,,	१८ ,,

ये तीनों गौतम गोत्री सहोदर भाई थे।

४	व्यक्त	५० ,,	१२ ,,	१८ ,,
५	सुधर्मा	५० ,,	४२ ,,	८ ,,
६	मंडित	५३ ,,	१४ ,,	१६ ,,
७	मौर्यपुत्र	६५ ,,	१४ ,,	१६ ,,
८	अकंपित	४८ ,,	९ ,,	२१ ,,
९	अचलभ्राता	४६ ,,	१२ ,,	१४ ,,
१०	मेतार्य	३६ ,,	१० ,,	१६ ,,
११	प्रभास	१६ ,,	८ ,,	१६ ,,

८-९, और १०-११ गणधरों के एक-एक गण थे।

इनमें से नौ गणधर भगवान की विद्यमानता में ही निर्वाण प्राप्त हो गये। अतः उनके शिष्य दीर्घजीवी सुधर्मा के नेतृत्व में सम्मिलित हुए।

पंचमखण्ड

सिद्धान्त-साधना-शिक्षा

प्रथम प्रवचन

यह माना जाता है कि भगवान् महावीर का प्रथम प्रवचन केवलज्ञान प्राप्त होने पर ऋजुबालुका नदी के तट पर हुआ। वहां से चलकर महावीर मध्यम पावा में आये और वहां महासेन उद्यान में उनका जो प्रवचन हुआ, वह भले ही दूसरा प्रवचन था, किन्तु सार्थकता की दृष्टि से वही पहला प्रवचन माना जाता है। इसी प्रवचन में इन्द्रभूति आदि विद्वानों के समक्ष दर्शन एवं धर्म की गंभीर विवेचना महावीर ने की।

प्रथम प्रवचन का मुख्य विषय क्या था, इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद भी हैं। आवश्यक निर्युक्ति[1] के अनुसार तीर्थंकर सर्वप्रथम सामायिक आदि व्रत (महाव्रत), षड् जीवनिकाय एवं भावना का उपदेश देते हैं। दूसरे मत के अनुसार भगवान् ने सर्वप्रथम त्रिपदी[2] (उपन्ने इ वा, विगमे इ वा, धुवे ई वा) का ज्ञान दिया।

यह तो प्रायः निश्चित मान्यता है कि प्रथम इन्द्रभूति आदि विद्वानों के साथ लंबी दार्शनिक चर्चा चली। फिर तीर्थ की स्थापना हुई और तीर्थ स्थापना के पश्चात् भगवान् ने अपना उपदेश दिया। यह हो सकता है कि पहले त्रिपदी का ज्ञान दिया हो, उससे महावीर ने अपने दर्शन को स्पष्टता दे दी और दर्शन की विशद व्याख्या के बाद आचार-धर्म की विवेचना की हो, क्योंकि त्रिपदी वास्तव में संपूर्ण जैन दर्शन की चाबी है और दर्शन के आधार पर ही धर्म की व्याख्या की जाती है।

प्रवचनों की भाषा

भगवान् महावीर के युग में संस्कृत, विद्वानों की भाषा मानी जाती थी। वेद, उपनिषद् आदि उसी भाषा में थे। स्त्री-शूद्रों को संस्कृत पढ़ने का भी अधिकार नहीं

---

१ गाथा २७१, देखें 'महावीर कथा' पृष्ठ २१६ (गो० जी० पटेल)

२ त्रिषष्टि० १०।५।१६५—

> जाते संघे चतुर्धैवं ध्रौव्योत्पादव्ययात्मिकाम्।
> इन्द्रभूति प्रभृतीनां त्रिपदीं व्याहरत् प्रभुः॥

था तो धर्मशास्त्र पढ़ते भी कैसे ? भगवान् महावीर ने अन्य क्रान्तिकारी कदमों के साथ-साथ भाषा के क्षेत्र में भी क्रान्ति की। भाषा के प्रति उनका कोई आग्रह नहीं था। उन्होंने स्पष्ट कहा—

न चित्ता तायए भासा कुओ विज्जाणुसासणं। —उत्त० ६।११

विविध भाषाओं का ज्ञान और शब्द-शास्त्र मनुष्य को दुर्गति से नहीं बचा सकते। दुर्गति से रक्षा करने वाला धर्म है। अतः उन्होंने विद्वानों की भाषा को छोड़कर जन-साधारण की भाषा में धर्म का उपदेश दिया। तत्कालीन लोक-भाषा जिसे 'अर्धमागधी' कहा गया है, उसीमें भ० महावीर ने प्रवचन किया।

प्रवचनों का प्रयोजन

प्रश्न होता है कि महावीर जब तीर्थंकर बनकर कृत-कृत्य हो गये तो फिर उन्होंने उपदेश किसलिए दिया ? इतने उग्र विहार और जनपदों में भ्रमण कर, क्यों जन-जन को बोध देते रहे ?

भगवान् महावीर के प्रवचन का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए आर्य सुधर्मा ने बताया है—सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं—जगत् के समस्त जीवों की रक्षा, दया एवं करुणा से प्रेरित होकर भगवान् ने प्रवचन किया।

महावीर का चिन्तन था—मनुष्य सुख-भोग की लालसा के वश होकर हिंसा करता है। हिंसा से कर्मबन्ध होता है, उससे दुःख होता है। फिर दुःखों से मुक्त होने के लिए वह प्रयत्नशील बनता है। धर्म की शरण में आता है। धर्म उसे दुःख-मुक्ति का मार्ग बताता है। दुःख से मुक्त होने का मार्ग है— अहिंसा (संयम)। अहिंसा की सम्पूर्ण साधना के द्वारा सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त होकर आत्मा शाश्वत सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। यही उसका लक्ष्य है। इस प्रकार महावीर के सम्पूर्ण चिन्तन का अर्थ फलित हुआ—

दुःख का कारण है—हिंसा।[1]
दुःख से मुक्ति पाने का साधन है—अहिंसा (संयम)।
अहिंसा द्वारा साध्य है— मोक्ष (परम आनन्द)।

संक्षेप में महावीर के सिद्धान्त व शिक्षाओं का यही सार है। इसी सार को यहाँ उनकी भाषा में प्रस्तुत किया जाता है।

१ कम्म मूलं च जं छणं—आचारांग १।३।१

मोक्ष-मार्ग

[जीवमात्र का अन्तिम लक्ष्य है—मोक्ष (परमानन्द)। उस लक्ष्य को प्राप्त करने के मार्ग का ज्ञान हो, तभी उसकी प्राप्ति का प्रयत्न सार्थक हो सकता है। अतः मोक्ष और उसके मार्ग (साधनों) का विवेचन यहाँ किया गया है—]

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥ —उत्त० २८।२

वस्तु के स्वरूप को जानने वाले—परमदर्शी जिनों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इस चतुष्टय को मोक्ष-मार्ग कहा है।

आहंसु विज्जा चरणं पमोक्खं। —सूत्र० १।१२।११

विद्या (ज्ञान) और चारित्र (क्रिया) के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जाता है।

नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ॥
—उत्तरा० २८।३५

ज्ञान से जीव पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है। चारित्र से आस्रव का निरोध करता है और तप से कर्मों को क्षीण कर शुद्ध होता है।

ज्ञान का स्वरूप

एयं पंचविहं नाणं दव्वाणं य गुणाण य।
पज्जवाणं च सव्वेसिं नाणं नाणीहि देसियं॥
—उत्त० २८।५

सर्व द्रव्य, उनके सर्व गुण और उनकी सर्व पर्याय के यथार्थ ज्ञान को ही ज्ञानी भगवान् ने ज्ञान कहा है। उसके पांच भेद हैं।

तत्थ पंचविहं नाणं सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं तु तइयं मणनाणं च केवलं॥ —उत्त० २८।४

ज्ञान पांच प्रकार का है—१. श्रुतज्ञान, २. आभिनिबोधिक—मतिज्ञान, ३. अवधिज्ञान ४. मनःपर्यवज्ञान ५. केवलज्ञान।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

> **तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं ।**
> **भावेणं सद्दहंतस्स सम्मत्तं तं वियाहियं ॥** —उत्त० २८।१५

स्वयं ही अपने विवेक से अथवा किसी के उपदेश से सद्भूत तत्त्वों के अस्तित्व में आन्तरिक श्रद्धा-विश्वास करना सम्यक्त्व कहा गया है।

> **जीवाऽजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावासवो तहा ।**
> **संवरो निज्जरा मोक्खो सन्तेए तहिया नव ॥** —उत्त० २८।१४

(१) जीव, (२) अजीव, (३) बन्ध, (४) पुण्य, (५) पाप, (६) आस्रव, (७) संवर, (८) निर्जरा और (९) मोक्ष। ये नौ तत्त्व सद्भूत पदार्थ हैं।

> **परमत्थ संथवो वा, सुदिट्ठ परमत्थ-सेवणा वा वि ।**
> **वावण्णकुदंसणवज्जणा, य सम्मत्त सद्दहणा ॥**
> —उत्त० २८।२८

परमार्थ (परम सत्य) का संस्तव--परिचय करना, तत्त्वज्ञानी—जो परमार्थ को अच्छी तरह पा चुके हैं, उनकी सेवा करना तथा सन्मार्ग से पतित व्यक्तियों एवं कुदर्शनी (मिथ्यात्वी) से दूर रहना, सम्यक्त्व की श्रद्धा—सत्य श्रद्धा के लक्षण हैं।

> **निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।**
> **उववूह थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥**
> —उत्त० २८।३१

सम्यग्दर्शन (सच्चा विश्वास) प्राप्त आत्मा में ये आठ गुण होते हैं—(१) निःशंका (निर्भयता), (२) निःकांक्षा (निष्कामता), (३) निर्विचिकित्सा (धर्मक्रियाओं के फल के विषय में संशयमुक्तता), (४) अमूढदृष्टि (स्वधर्म पर निष्ठा), (५) उपबृंहण (अहंकार-मुक्ति तथा गुणीजनों का आदर करना) (६) स्थिरीकरण (अपने ज्ञानयोग द्वारा दूसरों को धैर्य प्रदान करना), (७) वात्सल्य (प्रेमयोग), (८) प्रभावना (प्रवचन आदि द्वारा धर्म का द्योतन करना)। ये सम्यक्त्व के मूल अंग भी हैं।

चारित्र

> **एयं चयरित्तकरं चरित्तं होइ आहियं ।** —उत्त० २८।३३

कर्मों के चय-राशि को रिक्त (शून्य) करने के कारण इसे चारित्र कहा गया है।

चारित्र के पांच प्रकार

सामाइयत्थ पढमं, छेदोवट्ठावणं भवे बीयं।
परिहारविसुद्धीयं, सुहुमं तह संपरायं च॥
अकसायं अहक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्स वा॥

—उत्त० २८।३२,३३

(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापनीय, (३) परिहारविशुद्धि, (४) सूक्ष्म-संपराय तथा (५) कषायरहित यथाख्यातचारित्र, (जो छद्मस्थ या जिन को प्राप्त होता है।) ये चारित्र के पांच प्रकार हैं।

मुक्ति-क्रम

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं॥

—उत्त० २८।३०

जिसको श्रद्धा (विश्वास) नहीं है, उसे सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं होता और सच्चे ज्ञान के बिना चारित्र आदि गुण नहीं होते और चारित्र गुण के बिना कर्ममुक्ति नहीं होती और कर्ममुक्ति के बिना निर्वाण (अनन्त चिदानन्द) नहीं होता।

तप का उद्देश्य

छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं। —उत्त० ४।८

इच्छाओं का निरोध करना तप है और उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
नो कित्तिवण्ण सद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा॥ —दशवै० ९।६

इस लोक के लिए तप नहीं करना चाहिए। परलोक (स्वर्ग) के लिए तप नहीं करना चाहिए। यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि के लिए तप नहीं करना चाहिए। केवल कर्मनिर्जरा (आत्मशुद्धि) के लिए ही तप करना चहिए।

तप का फल

तवेणं वोदाणं जणयई। —उत्त० २९।२८

तप से व्यवदान—पूर्व कर्मों का क्षय कर आत्मा शुद्धि प्राप्त करता है।

सउणी जह पंसुगुंडिया, विहुणिय धंसयइ सियं रयं ।
एवं दविओवहाणवं, कम्मं खवइ तवस्सि माहणे ॥

—सूत्र० २।१।१५

जिस प्रकार शकुनी नाम का पक्षी अपने परों को फड़फड़ा कर उन पर लगी धूल को झाड़ देता है, उसी प्रकार तपस्या के द्वारा मुमुक्ष अपने कृत-कर्मों का बहुत शीघ्र ही अपनयन (क्षय) कर देता है।

तप के प्रकार

तवो य दुविहो वुत्तो बाहिरब्भंतरो तहा । —उत्त० २८।३४

तप दो प्रकार का कहा गया है—बाह्य और आभ्यन्तर।

अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य, बज्झो तवो होइ ॥

—उत्त० ३०।८

(१) अनशन[1], (२) ऊनोदरी[2], (३) भिक्षाचरी[3], (४) रस-परित्याग[4], (५) काय-क्लेश[5] और (६) प्रतिसंलीनता[6]—ये छह बाह्य तप हैं।

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो ॥ —उत्त० ३०।३०

(१) प्रायश्चित्त,[7] (२) विनय,[8] (३) वैयावृत्य,[9] (४) स्वाध्याय[10], (५) ध्यान[11] और (६) व्युत्सर्ग[12]- ये छह आभ्यन्तर तप हैं।

१. कुछ दिन या जीवन-भर के लिए आहार का त्याग करना।
२. आहार एवं कषाय आदि को कम करना।
३. भिक्षावृत्ति में विविध संकल्पों (अभिग्रहों) द्वारा संकोच करना।
४. दूध-दही घी-मिठाई आदि विगय का त्याग करना।
५. पद्मासन आदि द्वारा शरीर को साधना।
६. शरीर तथा क्रोधादि का निग्रह करना।
७. प्रमाद होने पर उसके लिए मानसिक पश्चात्ताप करना तथा गुरुजनों के समक्ष आलोचना कर शुद्ध होना।
८. बड़ों का विनय, छोटों का आदर करना।
९. सेवा करना।
१०. सत् शास्त्रों का विधि पूर्वक अध्ययन-चिन्तन करना।

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छन्ति सोग्गइं॥ —उत्त० २८।३

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इस मार्ग का अनुगमन करते हुए जीव सुगति को प्राप्त होते हैं।

लोक-स्वरूप

[चतुर्गति रूप संसार को लोक कहते हैं। यह लोक काल की दृष्टि से अनादि है। क्षेत्र की दृष्टि से जहां तक धर्म, अधर्म आदि षड्द्रव्य हैं, वहां तक सीमित (सान्त) है। उसके बाहर अलोक है। यहां षड्द्रव्यात्मक लोक के स्वरूप का विवेचन किया गया है।]

धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगो त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥ —उत्त० २८।७

तत्त्व का स्पष्ट दर्शन करने वाले जिनवरों ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—यह षट्द्रव्यात्मक लोक कहा है।

जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए।
अजीव देसमागासे, अलोए से वियाहिए॥ —उत्त० ३६।२

यह लोक जीव और अजीवमय कहा गया है और जहां अजीव का एक देश (भाग) केवल आकाश है, वह अलोक कहा जाता है।

गइ लक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो।
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं॥ —उत्त० २८।९

गति (गति में हेतु) धर्म का लक्षण है। स्थिति (स्थित होने में हेतु) अधर्म का लक्षण है। सभी द्रव्यों का भाजन (आधार) अवगाह लक्षण आकाश है।

वत्तणा लक्खणो कालो। —उत्त० २८।१०

वर्तना (परिवर्तन) काल का लक्षण है।

११. आत्मस्वरूप के चिन्तन में मन को एकाग्र करना।
१२. ध्यान आदि साधना में शरीर की आसक्ति का सम्पूर्ण त्याग कर देहातीत भाव में रमण करना।

सद्दऽन्धयार उज्जोओ, पहा छायाऽऽतवे इ वा।
वण्ण रस गन्ध फासा पुग्गलाणं तु लक्खणं ।। —उत्त० २८।१२

शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श ये पुद्गल के लक्षण हैं।

जीव का लक्षण

नाणं च दसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं ।। —उत्त० २८।११

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये जीव के लक्षण हैं।

नत्थि केइ परमाणु पोग्गलमेत्ते वि पएसे।
जत्थणं अयं जीवे न जाए वा न मए वा वि ।। —भगवती १२।७

इस विराट् विश्व में परमाणु जितना भी ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जहाँ यह जीव न जन्मा हो, न मरा हो।

द्रव्य का लक्षण

गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खण पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ।। —उत्त० २८।६

द्रव्य गुणों का आश्रय है-- आधार है। जो प्रत्येक द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वे गुण होते हैं। पर्यायों का लक्षण दोनों के अर्थात् द्रव्य और गुणों के आश्रित रहना है।

अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ।
नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ ।। —भगवती १।३

अस्तित्व, अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व, नास्तित्व में परिणत होता है, अर्थात् सत् सदा सत् ही रहता है और असत् सदा असत्।

लोक का आधार

अजीवा जीव पइट्ठिया।
जीवा कम्मपइट्ठिया ।। —भगवती १।६

अजीव (जड़ पदार्थ) जीव के आधार पर रहे हुए हैं और जीव (संसारी प्राणी) कर्म के आधार पर रहे हुए हैं।

धम्मो अहम्मो आगासं दव्वं इक्किक्कमाहियं।
अणन्ताणि य दव्वाणि कालो पुग्गलजन्तवो ।। —उत्त० २८।८

धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीनों द्रव्य संख्या में एक-एक हैं। काल, पुद्गल और जीव ये तीनों द्रव्य अनन्त हैं।

कर्म-सिद्धान्त

[प्रत्येक जीव सुख चाहता है, किन्तु अनचाहे भी उसे दुःख भोगना पड़ता है। दुख का कारण है कर्म। कर्म, कृत है। यदि आत्मा अशुभ कर्म करेगा तो दुःख भोगेगा। शुभ कर्म करेगा तो सुख भोगेगा। कर्मों से पूर्ण छुटकारा पाना मुक्ति है। यहाँ कर्मबन्ध के कारण, कर्म का स्वरूप और उनसे मुक्त होने का मार्ग बताया है।]

कर्म-बंध का कारण

नो इन्दियगेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
अज्झत्थहेउं निययस्स बंधो, संसारहेउं च वयंति बंधं॥

—उत्त० १४।१६

आत्मा अमूर्त है, इसलिए वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। अमूर्त होने के कारण ही आत्मा नित्य है। अज्ञान आदि कारणों से ही आत्मा के कर्म-बन्धन है और कर्म-बन्धन ही संसार का कारण कहलाता है।

सव्व जीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बज्झगं॥ —उत्त० ३३।१८

सर्व जीव अपने आस-पास छहों दिशाओं में रहे हुए कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करते हैं और आत्मा के सर्वप्रदेशों के साथ सर्व कर्मों का सर्व प्रकार से बन्धन होता है।

कहं णं भंते! जीवा गुरुयत्तं वा लहुयत्तं वा हव्वमागच्छंति?

—ज्ञातासूत्र ६

भंते! यह जीव गुरुत्व (कर्मों का भारीपन) और लघुत्व (हल्कापन) कैसे प्राप्त करता है?

जीवा वि पाणातिवाएण जाव मिच्छादंसणसल्लेणं अणुपुव्वेणं अट्ठ कम्म पगडीओ समज्जिणंति। जाव वेरमणेणं अणुपुव्वेणं अट्ठ कम्म पगडीओ खवेत्ता... लहुयत्तं हव्वमागच्छंति।

—ज्ञातासूत्र ६

(१) प्राणातिपात (हिंसा), (२) झूठ, (३) चोरी, (४) मैथुन, (५) ममत्व, (परिग्रह), (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) दोषारोपण, (१४) चुगली, (१५) असंयम में रति (आसक्ति), (१६) संयम में अरति (अनादर), (१७) निन्दा, (कपटपूर्ण मिथ्याकथन) और (१८)

मिथ्यादर्शन—ये अठारह पाप हैं। इनके सेवन से जीव आठ कर्मप्रकृतियों का बन्धन करता है। उस कर्मबन्धन से जीव भारी होकर अधोगति में जाता है तथा इन अठारह पापों से विरक्त होने पर क्रमशः आठ कर्मप्रकृतियों का क्षय कर लघुत्व प्राप्तकर ऊर्ध्वगमन करता है।

स्वकृत-कर्म

अभिणं जगई पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो।
सयमेव कडेहि गाहइ नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं॥

—सूत्र० १।२।१।४

इस जगत् में जो भी प्राणी हैं, वे अपने-अपने संचित कर्मों से ही संसार भ्रमण करते हैं और स्वकृत-कर्मों के अनुसार ही भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेते हैं। फल भोगे बिना उपार्जित कर्मों से प्राणी का छुटकारा नहीं होता।

अस्सिं च लोए अदुवा परत्था, सयग्गसो वा तह अन्नहा वा।
संसारमावन्न परं परं ते, बंधंति वेयंति य दुन्नियाणि॥

— सूत्र० १।७।४

कृत कर्म— इसी जन्म में अथवा पर जन्म में भी फल देते हैं। वे कर्म एक जन्म में अथवा सहस्रों—अनेकभवों में भी फल देते हैं। जिस प्रकार वे कर्म किये गये हैं, उसी तरह से अथवा दूसरी तरह से भी फल देते हैं। संसार में चक्कर काटता हुआ जीव कर्मवश बड़े-से-बड़ा दुःख भोगता है और फिर आर्तध्यान—(शोक-विलाप आदि) करके नये कर्मों को बांधता है। इस प्रकार कर्म से कर्म की परम्परा चलती है। बँधे हुए कर्म का फल दुर्निवार—मिटाना अशक्य है।

सव्वे सयकम्मकप्पिया, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो।
हिण्डन्ति भयाउला सढा, जाइजरामरणेहिऽभिद्दुया॥

—सूत्र० १।२।३।१८

सर्व प्राणी अपने कर्मों के अनुसार ही पृथक्-पृथक् योनियों में अवस्थित हैं। कर्मों की अधीनता के कारण अव्यक्त दुःख से दुखित प्राणी जन्म, जरा और मरण से सदा भयभीत रहते हुए चार गति रूप संसारचक्र में भटकते हैं।

तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि॥

— उत्त० ४।३

जैसे पापी चोर खात के मुँह पर (चोरी करते हुए) पकड़ा जाकर अपने कर्मों के कारण ही दुःख उठाता है, उसीप्रकार इस लोक में या परलोक में कर्मों

के फल स्वयं भोगने ही पड़ते हैं। फल भोगे बिना कर्मों से छुटकारा नहीं हो सकता है।

जहा कडं कम्म, तहासि भारे। —सूत्र० १।५।१।२६

जैसा किया हुआ कर्म है, वैसा ही उसका भोग है।

आठ कर्म

अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्विं जहाक्कमं।
जेहिं बद्धो अयं जीवो संसारे परिवट्टई॥ —उत्त० ३३।१

जिन कर्मों से बंधा हुआ यह जीव संसार में परिभ्रमण करता है, वे संख्या में आठ हैं। यथाक्रम से उनका वर्णन किया जाता है।

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य॥
नाम कम्मं च गोत्तं च अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइं अट्ठेव उ समासओ॥

—उत्त० ३३।२,३

(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय – ये सक्षेप में आठ कर्म हैं।[1]

कर्म-बीज

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाइमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाइमरणं वयंति॥

—उत्त० ३२।७

राग और द्वेष ये दोनों कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है, ऐसा ज्ञानियों का कथन है। कर्म जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण दुःख की परम्परा का कारण है।

---

१ इन कर्मों का क्रमशः निम्न स्वरूप है—
(१) ज्ञानशक्ति का अवरोधक, (२) दर्शनशक्ति का अवरोधक, (३) शाश्वत सुख का अवरोधक (४) मोह व राग का हेतु—श्रद्धा एवं चारित्र का अवरोधक (५) जन्म-मरण का हेतु, (६) सुरूपता – कुरूपता, यश, कीर्ति, अपयश आदि का कारण, (७) संस्कारी असंस्कारी कुल व जाति का हेतु, (८) आत्म-शक्ति के विकास का अवरोधक, हानि-लाभ का हेतु।

कम्ममूलं च जं छणं। —आचारांग १।३।१

कर्म का मूल क्षण अर्थात् हिंसा है।

सुक्क मूले जहा रुक्खे सिंचमाणे ण रोहति।
एवं कम्मा ण रोहंति मोहणिज्जे खयं गए॥

—दशाश्रुतस्कन्ध ५।१४

जिस प्रकार मूल सूख जाने पर सींचने पर भी वृक्ष लहलहाता, हरा-भरा नहीं होता है, इसी तरह से मोह कर्म के क्षय हो जाने पर पुनः कर्म उत्पन्न नहीं होते।

जहा दड्ढाणं बीयाणं, ण जायंति पुण अंकुरा।
कम्मबीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा॥

—दशाश्रुतस्कन्ध ५।१५

जिस तरह दग्ध (जले हुए) बीजों में से पुनः अंकुर उत्पन्न नहीं होते, उसी तरह से कर्म रूपी बीजों के दग्ध (जल) हो जाने पर भव (जन्म-मरण) के अंकुर उत्पन्न नहीं होते हैं।

तम्हा एएसिं कम्माणं अणुभागा वियाणिया।
एएसिं संवरे चेव खवणे य जए बुहो॥

—उत्त० ३३।२५

अतः इन कर्मों के अनुभाग—फल देने की शक्ति को समझकर बुद्धिमान् पुरुष नये कर्मों के संचय को रोकने में तथा पुराने कर्मों के क्षय करने में सदा प्रयत्नशील रहे।

अकुव्वओ णवं णत्थि। —सूत्रकृतांग १।१५।७

जो अन्तर से राग-द्वेष रूप भावकर्म नहीं करता, उसे नये कर्म का बन्ध नहीं होता।

जह य परिहीण कम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेंति। —औपपातिक

सर्व कर्मों के क्षय से जीव सिद्ध (मुक्त) होकर सिद्धलोक में पहुंचता है।

आत्म-स्वरूप

[आत्मा, अनन्त ज्ञान अनन्त सुख एवं अनन्त शक्ति-सामर्थ्य का पुंज है। सुख-दुःख का कर्ता भी यही है, भोक्ता भी यही है, और उनसे मुक्त होने का प्रयत्न करने वाला भी यही है। आत्म-ज्ञान ही समस्त

ज्ञान की कुंजी है अतः सर्वप्रथम आत्म-स्वरूप का बोध प्राप्त करना चाहिए।]

आत्म-श्रद्धा

अत्थि मे आया उववाइए।
से आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी।

—आचारांग १।१।१

यह मेरी आत्मा औपपातिक है, कर्मानुसार पुनर्जन्म ग्रहण करती है। आत्मा के पुनर्जन्म सम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला ही वस्तुतः आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी एवं क्रियावादी है।

जे अत्ताणं अब्भाइक्खति से लोगं अब्भाइक्खति।

—आचारांग १।१।३

जो अपनी आत्मा का अपलाप (अविश्वास) करता है, वह लोक (अन्य जीव-समूह) का भी अपलाप करता है।

आत्मा का स्वरूप

अहं अव्वए वि अहं अवट्ठिए वि। —ज्ञाता० १।५

मैं—आत्मा अव्यय-अविनाशी हूं, अवस्थित—एक रूप हूँ।

जीवा सिय सासया सिय असासया,
दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया। —भगवती ७।२

जीव (आत्मा) शाश्वत भी है, अशाश्वत भी।
द्रव्यदृष्टि (मूल-चेतन-स्वरूप) से शाश्वत है।
भावदृष्टि (मनुष्य-पशु आदि पर्याय) से अशाश्वत है।

जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।
जेण वियाणइ से आया तं पडुच्च पडिसंखाए॥

—आचारांग १।५।५

जो आत्मा है वह विज्ञाता है।
जो विज्ञाता है, वह आत्मा है।
जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है।
जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है।

हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे। —भगवती ७।८

स्वरूप की दृष्टि से हाथी में और कुंथुआ में आत्मा एक समान है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पामित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ॥ —उत्त० २०।३७

सुख-दुःख का कर्ता-अकर्ता आत्मा ही है। सदाचार में प्रवृत्त आत्मा मित्र है, दुराचार में प्रवृत्त आत्मा शत्रु है।

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं॥

—उत्तरा० २०।३६

यह आत्मा ही वैतरणी नदी है, यही कूटशाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही इच्छानुसार फल देने वाली कामधेनु है, और यही नन्दनवन है।

धर्म-तत्त्व

[धर्म वह तत्त्व है जो आत्मा को शाश्वत सुखों की राह बताता है। इस जीवन में शांति, समता और परलोक में सुख व आनन्द जिस क्रिया से प्राप्त होता है, उसे धर्म कहा गया है। वास्तव में धर्म आत्मा की शुभ परिणति ही है, समत्व-साधना ही धर्म है। यहां धर्म का स्वरूप और उसका महत्व प्रस्तुत है।]

धर्म का स्वरूप और महिमा

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो। —दशवै० १।१

अहिंसा, संयम एवं तप रूप धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है।

समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए। —आचारांग १।८।३

आर्य पुरुषों ने समता-समभाव में धर्म कहा है।

दीवे व धम्मं समियं उदाहु। —सूत्रकृतांग ६।४

यह समता रूप धर्म, दीपक की भांति अज्ञान अन्धकार को दूर करने वाला है।

एगा धम्म पडिमा, जं से आया पज्जवजाए।

—स्थानांग १।१।४०

धर्म ही एक ऐसा पवित्र अनुष्ठान है, जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है।

जरामरण वेगेणं वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तमं॥

—उत्तराध्ययन २३।६८

जरा-मरण के वेग (प्रवाह) में बहते-डूबते प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।

धर्म के प्रकार

दुविहे धम्मे—सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव।

—स्थानांग २।१

धर्म के दो रूप हैं—श्रुतधर्म (तत्त्वज्ञान) और चारित्रधर्म (नैतिक आचार)।

चरित्तधम्मे दुविहे—
आगार चरित्तधम्मे चेव अणगार चरित्तधम्मे चेव।

—स्थानांग २।१

चारित्रधर्म दो प्रकार का है—आगार चारित्रधर्म (बारह व्रतरूप श्रावकधर्म) अनगार चारित्रधर्म (पंचमहाव्रतात्मक श्रमणधर्म)।

चत्तारि धम्मदारा—
खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे। —स्थानांग ४।४

धर्म के चार द्वार हैं—क्षमा, संतोष, सरलता और विनय।

धर्म-साधना

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स अफला जंति राइओ॥
जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जंति राइओ॥

— उत्तरा० १४।२४-२५

जो-जो रात्रि जा रही हैं, वह फिर लौट कर नहीं आती हैं। अधर्म करने वाले की रात्रियां निष्फल चली जाती हैं।

जो-जो रात्रि जा रही हैं, वह फिर लौटकर नहीं आती हैं। धर्म करने वाले की रात्रियां सफल होती हैं।

अद्धाणं जो महन्तं तु सपाहेज्जो पवज्जई।
गच्छन्तो सो सुही होइ छुहा तण्हा विवज्जिओ ॥
एवं धम्मं पि काऊणं जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो सुही होइ अप्पकम्मे अवेयणे ॥

—उत्तरा० १६।२१-२२

जो व्यक्ति पाथेय (मार्ग का सम्बल) साथ में लेकर लम्बे मार्ग पर चलता है, वह चलते हुए भूख और प्यास के दुःख से मुक्त रह कर सुखी होता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म करके परभव में जाता है, वह अल्पकर्मा (कर्म भार से हलका) होकर जाते हुए वेदना से मुक्त, सुखी होता है।

अहिंससच्चं च अतेणगं च ततो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाइं चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विउ।

—उत्त० २१।१२

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पांच महाव्रत कहे गये हैं। इन महाव्रतों को स्वीकार कर विद्वान जिन-देशित धर्म का आचरण करे।

श्रमण धर्म

अट्ठ पवयणमायाओ समिई गुत्ती तहेव य।
पंचेव य समिईओ तओ गुत्तीउ आहिया ॥ —उत्त० २४।१

समिति और गुप्ति रूप आठ प्रवचन मातायें कही गई हैं। समितियां पांच हैं और गुप्तियां तीन हैं।

इरिया भासेसणादाण उच्चारे समिई इय।
मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्तीय अट्ठमा ॥

—उत्तराध्ययन २४।२

ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-समिति और उच्चार-समिति—ये पांच समिति तथा मनगुप्ति, वचन गुप्ति और काय-गुप्ति ये तीन गुप्ति, इस प्रकार ये आठ प्रवचन माता कही गई हैं।

दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते, तं जहा—
खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, बंभचेरवासे। —स्थानांग १०

श्रमणधर्म दस प्रकार का है, यथा—१. क्षमा, २. निर्लोभता, ३. सरलता, ४. मृदुता, ५. लघुता, ६. सत्य, ७. संयम, ८. तप, ९. त्याग, १०. ब्रह्मचर्य।

श्रमण का आदर्श

वासीचंदणसमाणकप्पे समतिण मणिमुत्ता लेट्ठुकंचणे।
—प्रश्न० २।५

कोई कुल्हाड़ी से उनके शरीर को चीर दे, अथवा चन्दन से लिप्त कर दे, दोनों के प्रति संतजन समभाव रखते हैं। इसीप्रकार तृण व मणि में, लोहे व सोने में भी वे समभाव रखते हैं।

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविये मरणे तहा।
समो निन्दा-पसंसासु तहा माणावमाणओ॥ —उत्त० १९।९०

लाभ और अलाभ में, सुख व दुःख में, जीवन व मरणमें तथा निन्दा-प्रशंसा में एवं मान-अपमान में वे मुनिजन समभाव रखते हुए एकरूप रहते हैं।

निम्ममो निरहंकारो निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य॥ —उत्त० १९।८९

संत—ममता रहित, अहंकार से मुक्त, सब प्रकार की आसक्ति (संग) से दूर, गौरव (मद) का त्याग कर त्रस एवं स्थावर सभी प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखता है।

अहिंसा

सव्वे पाणा पिआउया।
सुहसाया दुक्खपडिकूला।
अप्पियवहा, पियजीविणो।
जीविउकामा।
सव्वेसिं जीवियं पियं।
नाइवाएज्ज कंचणं। —आचा० १।२।३

सब प्राणियों को अपना जीवन प्यारा है।
सुख सबको अच्छा लगता है और दुःख बुरा।
वध सबको अप्रिय हैं और जीवन प्रिय।
सब प्राणी जीना चाहते हैं।
कुछ भी हो, सबको जीवन प्रिय है।
अतः किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।

आयओ बहिया पास। —आचा० १।३।३

अपने समान ही बाहर में दूसरों को भी देखो।

एयं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचण ।
अहिंसा समयं चेव एतावन्तं वियाणिया ॥

—सूत्र० १।१।४।१०

ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। अहिंसामूलक समता ही धर्म का सार है, बस, इतनी बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिये।

तुमंसि नाम स चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि। —आचा० १।५।५

तू जिसे मारना चाहता है, (जिसको कष्ट व पीड़ा पहुंचाना चाहता है) वह अन्य कोई तेरे समान ही चेतनावाला प्राणी है, ऐसा समझ। वास्तव में वह तू ही है।

नाइवाएज्ज कंचणं....
नय वित्तासए परं —उत्त० २।२७

किसी की हिंसा मत करो, किसी को त्रास मत पहुंचाओ।

मेत्ति भूएसु कप्पए।

सब जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखना चाहिए।

आरंभजं दुक्खमिणं। —आचा० १।३।१

संसार में जितने भी दुःख हैं, वे सब आरंभज—हिंसा से उत्पन्न होते हैं।

सत्य

पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि।
सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ॥

— आचारांग ३।३

हे पुरुष ! सत्य को सम्यक् प्रकार से समझो।
सत्य की आराधना करनेवाला बुद्धिमान मृत्यु को तिर जाता है।

सच्चं लोगम्मि सारभूयं। —प्रश्न० २।२

सत्य ही लोक में सारभूत है।

मुसावाओ य लोगम्मि सव्व साहूहिं गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं तम्हा मोसं विवज्जए॥ —दश० ६।१३

सभी सत्पुरुषों ने मृषावाद - असत्य की निंदा की है। असत्यवादी का कहीं कोई विश्वास नहीं करता। अतः असत्य का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

आय सच्चा अवत्तव्वा सच्चा मोसा य जा मुसा ।
आय बुद्धेहिंऽणाइण्णा न तं भासेज्ज पन्नवं ॥ —दश० ७।२

जो भाषा सत्य होने पर भी बोलने योग्य न हो, तथा जो कुछ सत्य कुछ असत्य हो, अथवा पूर्ण असत्य हो, एवं समझदार लोग जिस भाषा को उचित न मानते हों, ऐसी भाषा न बोले ।

असच्चमोसं सच्चं च अणवज्जमकक्कसं ।
समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासेज्ज पन्नवं ॥ —दश० ७।३

बुद्धिमान को ऐसी भाषा बोलनी चाहिए, जो व्यवहार में सत्य हो, तथा निश्चय में भी सत्य हो, निर्वद्य हो, अकर्कश-प्रिय हो, हितकारी हो तथा असंदिग्ध हो।

अस्तेय

इच्छा, मुच्छा, तण्हा गेहि असंजमो, कंखा ।
हत्य लहुत्तणं परहडं तेणिक्कं कूडया अवत्ते ॥ —प्रश्न० १।३।१०

परधन की इच्छा, मूर्च्छा, तृष्णा, गुप्ति, असंयम, कांक्षा, हस्तलाघव (हाथ की सफाई), परधन-हरण, कूट-तोल माप और बिना दी हुई वस्तु लेना—ये सब कृत्य चोरी हैं।

चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमित्तं पि उग्गहं सि अजाइया ॥ —दश० ६।१४

चाहे कोई सचेतन वस्तु हो या अचेतन—जड़ । अल्पमोली वस्तु हो या बहुमोली । बिना उसके स्वामी की आज्ञा लिए बिना नहीं लेना चाहिए, और तो क्या, दांत कुरेदने के लिए एक तिनका भी बिना आज्ञा के न लेवें ।

ब्रह्मचर्य

विणय सील तव नियम गुण समूहं तं बंभं भगवंतं ।
गहगण नक्खत्त तारगाणं वा जहा उडुपती ॥ —प्रश्न० २।४

जैसे—ग्रह, नक्षत्र और ताराओं में चन्द्रमा श्रेष्ठ है, वैसे ही विनय, शील, तप, नियम आदि गुणसमूह में—ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, प्रधान है । ब्रह्मचर्य स्वयं भगवान के तुल्य है ।

देवदाणव गंधव्वा जक्ख रक्खस किन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति दुक्करं जे करंति तं ।—उत्तरा० १६।१६

जो दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है, उसके चरणों में—देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर, सभी नमस्कार करते हैं ।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय

जतुकुंभे जहा उवजोइ संवासे विदू विसीएज्जा।

—सूत्र० ४।१।२६

जैसे अग्नि के निकट रखा लाख का घड़ा पिघल जाता है, वैसे ही स्त्री के संसर्ग में रहने से पुरुष का मन चंचल हो जाता है, अतः स्त्री के साथ एकान्तवास नहीं करना चाहिए।

से णो काहिए, णो पासणिए।
णो संपसारए, णो ममाए॥
णो कयकिरिए वइगुत्ते। —आचा० १।५।४

ब्रह्मचारी स्त्री-सम्बन्धी शृंगार-चर्चा न करे। स्त्रियों के अंग-उपांग न देखें। उनके साथ अधिक परिचय न करे और न उनसे अपनापन स्थापित करे। बातचीत में भी अधिक मर्यादित रहे।

रसा पगामं न निसेवियव्वा।
पायं रसा दित्तिकरा नराणं॥ —उत्त० ३२।१०

ब्रह्मचारी को रसयुक्त पदार्थों का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए। क्योंकि रस प्रायः उत्तेजना पैदा करते हैं। जिससे ब्रह्मचर्य में स्खलना होने की संभावना रहती है।

आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं, तासिं इन्दियदरिसणं॥
कुइयं रुइयं गीयं, हसियं भुत्तासियाणि य।
पणीयं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोयणं॥
गत्तभूसण मिट्ठं च काम भोगा य दुज्जया।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा॥

—उत्तरा० १६।११-१३

आत्मा का हित चाहनेवाले ब्रह्मचारी के लिए ये दस बातें तालपुट जहर के समान अहितकारी हैं—

१. स्त्रियों से संकुल स्थान, २. स्त्रियों की मनोहर कथा, ३. स्त्री-सहवास और परिचय ४. स्त्रियों की इन्द्रियों का निरीक्षण, ५. उनके कूजन-रुदन, गीत और हास्य सुनना ६. स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठना, ७. स्निग्ध रसदार भोजन करना, ८. बहुत अधिक भोजन करना, ९. शरीर का शृंगार करना, १०. काम-भोग (शब्द-रूप आदि विषयों में) आसक्ति रखना।

जे विन्नवणाहिऽजोसिया संतिण्णेहि समं वियाहिया।

—सूत्र० १।२।३।२

जो स्त्रियों के स्नेह-राग से अभिभूत नहीं होते, वे मुक्त पुरुषों के समान हैं।

अपरिग्रह

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो। — दश० ५।

मूर्च्छा-ममता भाव परिग्रह है।

जे ममाइय मइं जहाइ से जहाइ ममाइयं।
से हु दिट्ठपहेमुणी जस्स नत्थि ममाइयं॥ —आचा० १।२।६

जो ममत्वबुद्धि का परित्याग करता है, वही वस्तुत: ममत्व—परिग्रह का त्याग कर सकता है। वही मुनि वास्तव में पथ (मोक्षमार्ग) का द्रष्टा है, जो किसी भी प्रकार का ममत्वभाव नहीं रखता है।

सुवण्ण रुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि इच्छाहु आगाससमा अणंतिया॥

—उत्त० ९।४८

यदि सोने और चांदी के कैलाश के समान असंख्य पर्वत भी मिल जायें तो भी लोभी मनुष्य को उससे संतोष (तृप्ति) नहीं होगा, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

संनिहिं च न कुव्विज्जा अणुमायं पि संजए।
मुहाजीवी असंबद्धे हविज्ज जगनिस्सिए॥ —दश० ८।२४

संयम साधना में लगा हुआ मुनि अणुमात्र भी संग्रह न करें। वह मुधाजीवी (निष्काम भाव से भिक्षा लेने वाला) है, गृहस्थों के साथ उसका स्नेह-बंधन नहीं और जगत के समस्त जीवों की रक्षा करने वाला है, फिर संग्रह क्यों करे?

दस धर्म

क्षमा

खमावणयाए णं जीवे पल्हायणभावं जणयइ।
सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ॥

—उत्तरा० २९।१८

क्षमा करने से प्रल्हाद भाव—चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न होती है। इस क्षमा-वृत्ति से ही समस्त जीवयोनि के प्रति मैत्रीभाव प्रकट होता है।

उवसमेण हणे कोहं। —दश० ८।३९

क्षमा से क्रोध को जीतना चाहिए।

उवसमसारं खु सामण्णं। —स्थानांग ६

श्रमणत्व का सार है उपशमभाव ! क्षमा !

खामेमि सव्व जीवे सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ ॥

—आवश्यक सूत्र ४।२२

मैं समस्त जीवों को क्षमा करता हूं। सब जीव भी मुझे क्षमा करें। सबके प्रति मेरा मैत्रीभाव है। मेरा किसी के साथ भी वैर-विरोध नहीं है।

मुक्ति (निर्लोभता)

मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ। —उत्त० २६।४७

मुक्ति—निर्लोभता की साधना से आत्मा अकिंचनभाव (सर्वत्र निस्पृहता-ममत्व मुक्ति) को प्राप्त कर लेता है।

न लोगस्सेसणं चरे।
जस्स नत्थि इमा जाई अण्णा तस्स कओ सिया।

—आचा० १।४।१

लोकैषणा से मुक्त रहना चाहिए।

जिसको यह लोकैषणा नहीं है, उसको अन्य पाप-प्रवृत्तियां कैसे हो सकती हैं ?

सरलता (ऋजुता)

अज्जवयाए णं काउज्जुययं, भावुज्जुययं,
भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ॥ —उत्त० २६।४८

ऋजुता (सरलता) से काया की सरलता, भावों की निष्कपटता, भाषा की सरलता-स्पष्टता और जीवन में एकरूपता आती है।

सोही उज्जुभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।

—उत्त० ३।१२

जो ऋजुभूत (सरल आत्मा) होता है, उसी का अन्तःकरण शुद्ध होता है, और शुद्ध हृदय में ही धर्म का निवास रहता है।

मृदुता (अमानित्व)

मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ। —उत्त० २६।४६

मृदुता से अनुत्सुकता, अहंकार रहितता आती है।

माणं मद्दवया जिणे। —दश० ८।२२

अहंकार को मृदुता से जीतना चाहिए।

माणेण अहमा गई। —उत्त० ६।५४

अहंकार करने से अधमगति प्राप्त होती है।

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते, न लाभमत्ते न सुएणमत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू॥
—दश० १०।१६

जो जाति का, रूप का, लाभ का, श्रुत (ज्ञान) का मद—अहंकार नहीं करता। सब प्रकार के अहंकारों का त्यागकर धर्मध्यान में लीन रहता है, वह भिक्षु है।

लाघव (लघुता)

लाघवियं, अप्पिच्छा, अमुच्छा, अगेही, अपडिबन्धया
समणाणं निग्गंथाणं पसत्थं। —भगवती १।६

श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए लघुता (आत्मा का हल्कापन) प्रशस्त है। वह अल्प-इच्छा, अमूर्च्छा, अगृहता, अप्रतिबद्धता रूप है।

विजहित्तु पुव्वसंजोगं न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा।
असिणेह सिणेह करेहिं, दोसपओसएहिं मुच्चए भिक्खू॥
—उत्त० ८।२

पूर्वसंयोग को छोड़ चुकने पर फिर किसी भी वस्तु में स्नेह नहीं करना चाहिए। जो मोह करने वालों के बीच में भी निर्मोही होकर रहता है, वह भिक्षु समस्त दोषों से छूट जाता है।

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य। —दश० ६।२०

वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि जो भी उपकरण हैं, उन्हें मुनि संयम की रक्षा के लिए धारण करते हैं। आवश्यकता न होने पर उन्हें भी छोड़ देते हैं।

सत्य

सच्चंमि धिइं कुव्वहा। —आचा० १।३।२

सत्य में स्थिर रहो![1]

संयम

संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ। —उत्त० २६।२६

संयम से कर्मों का अनास्रव (संवर) होता है।

1 विशेष सत्य प्रकरण में पृष्ठ २७४ पर देखें

जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं काएण वाया अदु माणसेण।
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा आइन्नओ, खिप्प मिवक्खलीण।

—दश० चू० २।१६

साधक जब कभी अपने आपको, मन, वचन और काया से कहीं भी दुष्प्रवृत्त-असंयम में जाता देखे तो उसी क्षण अपने योगों को इस प्रकार खींच लेवे, जैसे घोड़े को लगाम से खींच लिया जाता है।

हत्थसंजए पायसंजए वायसंजए संजए इंदिये।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा सुत्तत्थं च वियाणइ जे स भिक्खू।

—दश० १०।१५

जो अध्यात्म में लीन रहता है, समाधिभाव में रमण करते हुए सूत्र और अर्थ का चिन्तन करता है और हाथों का, पैरों का, वचन का और समस्त इन्द्रियों का संयम रखता है—वह सच्चा भिक्षु है।

जहा कुम्मे स अंगाइं सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी अज्झप्पेण समाहरे।—सूत्र० १।८।१६

जैसे कछुआ आपत्ति को देखकर अपने अंगों को सिकोड़ लेता है। उसी प्रकार विचारशील पुरुष असंयम (पाप) से अपनी इन्द्रियों का संकोच कर रखे।

तप

भवकोडी संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ। - उत्त० ३०।६

जैसे तालाब का जल सूर्यताप से अथवा उलीचने से रिक्त हो जाता है, वैसे ही तप के द्वारा करोड़ों भवों के कर्म नष्ट हो जाते हैं। (विशेष वर्णन पृष्ठ २६२ पर देखें।)

त्याग

जेय कंते पिये भोए लद्धे विप्पट्ठी कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चई। —दश० २।३

अपने को प्रिय लगने वाले भोग प्राप्त हो जाने पर भी जो उनके प्रति पीठ दिखाकर चलता है और स्वतन्त्रतापूर्वक उनका त्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी है। (ब्रह्मचर्य के लिए देखें पृष्ठ २७५)

समभाव (तितिक्षा)

जो समो सव्वभूएस तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ इइ केवलिभासियं।—अनुयोग० १२८

जो त्रस एवं स्थावर रूप समस्त प्राणिजगत के प्रति समभाव रखता है, उसी को सामायिक होती है, ऐसा केवली भगवान का कथन है।

अक्कोसेज्जा परो भिक्खू न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं तम्हा भिक्खू न संजले ॥ —उत्त० २।२४

कोई भिक्षु को कठोर वचनों से आक्रोश करे, तिरस्कार करे तब भी भिक्षु उन पर क्रोध न करे। क्योंकि क्रोध करने से भिक्षु भी उस अज्ञानी के समान हो जाता है, अतः मन को शांत रखना चाहिए।

तितिक्खं परमं नच्चा भिक्खू धम्मं विचिंतए।
- उत्त० २।२६

तितिक्षा (समता) को परम धर्म जानकर भिक्षु अपने धर्म का अनुचिन्तन करे।

समयाए समणो होई —उत्त० २५।३२

समता का आचरण करने से ही 'श्रमण' वास्तव में श्रमण होता है।

सामाइयमाहु तस्स जं जो अप्पाण भए न दंसए।
—सूत्र० १।२।२।१७

जो अपने को सदा भयमुक्त (निर्भय) रखता है, उसी को समभाव रह सकता है।

सव्वं जगं तु समयाणुपेही
पियमप्पियं कस्सवि नो करेज्जा। —सूत्र० १।१०।६

समस्त जगत को समदृष्टि से देखने वाला न किसी का प्रिय (स्नेह) करता है और न किसी का अप्रिय (द्वेष) करता है, किंतु वह अपने समभाव में स्थिर रहता है।

भिक्षा और भोजनविधि

अदीणो वित्तिमेसिज्जा न विसीइज्ज पंडिए।
अमुच्छिओ भोयणंमि मायण्णे एसणारए ॥—दश० ५।२।२६

भिक्षु अदीनभाव से आहार आदि की गवेषणा करे। भोजन न मिलने पर खिन्न न हों, मिलने पर उसमें आसक्ति न करे, किंतु आहार (भोजन) की मात्रा (परिणाम) का ज्ञान रखते हुए उपभोग करे।

समुयाणं चरे भिक्खू कुलमुच्चावयं सया। —दश० ५।२।२५

भिक्षु— सदा ऊँच-नीच, धनी-गरीब कुलों में समभाव के साथ सामुदायिक भिक्षा ले। ऐसा न करे कि गरीब घर को छोड़ दे और ऊँचे घर में चला जाये।

जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं॥ —दश० १।२

जैसे - भ्रमर फूलों से रस ग्रहण करके अपना निर्वाह करता है, किंतु फूलों को किसी प्रकार की भी क्षति नहीं पहुंचाता। उसीप्रकार साधु भिक्षावृत्ति से इस प्रकार अपना निर्वाह करता है कि गृहस्थ पर किसी भी प्रकार का भार न पड़े, उसे कोई कष्ट न हो।

अलोले न रसे गिद्धे जिब्भादंते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी॥
—उत्त० ३५।१७

महामुनि—लोलुपता से रहित, रस (स्वाद) में आसक्त न होता हुआ, जिह्वा-इन्द्रिय का संयम करे और संग्रह की मूर्च्छा से मुक्त रहे। वह भोजन स्वाद के लिए नहीं, किंतु संयम यात्रा के निर्वाह के लिए करे।

महु घयं व भुंजिज्ज संजए। —दश० ५।१।९७

साधु को सूखा-रूखा, तीखा या मीठा जो शुद्ध आहार मिले, उसे मधु-घृत (घी-शक्कर) के समान प्रसन्न भाव से खाये।

अनुप्रेक्षा (अध्यात्म-चिन्तन)

भावणा जोगसुद्धप्पा जले नावा व आहिया।
नावा व तीरसम्पन्ना सव्व दुक्खा तिउट्टइ॥ —सूत्र०१।१५।६

जिस साधक की अन्तर् आत्मा भावना योग से शुद्ध हो गई है, वह जल में नौका के समान है। अर्थात् जैसे नौका अथाह जल को तैरकर पार पहुंच जाती है, वैसे ही वह साधक संसार सागर को (भावना योग द्वारा) तैर जाता है।

बोधिदुर्लभ भावना

संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमंति राइओ नो सुलभं पुणरावि जीवियं॥
—सूत्र० १।२।१।१

समझो! समझते क्यों नहीं हो! अगले जन्म में पुनः सद्बोधि प्राप्त होना दुर्लभ है। बीती हुई रातें लौटकर नहीं आतीं, गया हुआ जीवन पुनः मिलना सुलभ नहीं है।

इह माणुस्सए ठाणे धम्ममाराहिउं नरा ।

—सूत्र० १।१५।१५

इस मनुष्य लोक में धर्म की आराधना के लिए ही हम मनुष्य हुए हैं। अतः सद्ज्ञान प्राप्त कर धर्माराधना करो ।

अशरण भावना

जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मिंऽसहरा भवंति ॥

—उत्त० १३।२२

अन्तिम समय आने पर मृत्यु मनुष्य को ऐसे ही दबोच कर ले जाता है, जैसे सिंह मृग को । उस समय न माता-पिता बचा सकते हैं, न भाई व बंधु ।

वित्तं पसवो य नाइओ तं बाले सरणं ति मन्नइ ।
एए मम तेसु वी अहं नो ताणं सरणं न विज्जइ ॥

—सूत्र० १।१।३।१६

अज्ञान मनुष्य समझता है—यह धन, ये पशु, ये स्वजन व ज्ञातिजन मेरी रक्षा कर सकते हैं। ये मेरी हैं, मैं उनका हूं। किंतु वास्तव में यह मिथ्या भ्रांति है। कोई किसी का त्राण या शरण नहीं है ।

संसार भावना

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसंति जंतुणो ॥—उत्त० १९।१६

यह संसार दुःखमय है, जन्म का दुःख, बुढ़ापे का दुःख, रोगों का दुःख, मृत्यु का दुःख, चारों ओर दुःख-ही-दुःख है, जिसमें बिचारा प्राणी क्लेश पाता है ।

मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो जराए परिवारिओ । — उत्त० १४।२२

यह संसार जरा (बुढ़ापे) से घिरा हुआ है, और मृत्यु से पीड़ित है। इसमें आनन्द व शांति कैसी ?

अनित्य भावना

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा ।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥

—उत्त० १३।३१

समय बीता जा रहा है, रात्रियां दौड़ी जा रही हैं। मनुष्यों को जो भोग (सामग्री) मिली है, वह भी नित्य नहीं है। जैसे वृक्ष के फल झड़ने पर पक्षीगण उसे छोड़कर चले जाते हैं, वैसे ही काम-भोग पुरुष को छोड़कर चले जाते हैं।

जीवियं चेव रूवं च विज्जुसंपाय चंचलं ।   —उत्त० १८।१३

यह जीवन ! यह रूप और यौवन बिजली की चमक की भांति चचल है। अनित्य है।

एकत्व भावना

अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियाइयइ ....।
पत्तेयं जायइ पत्तेयं मरइ....।   —सूत्रकृतांग २।१।१२

दूसरे का दुःख कोई दूसरा नहीं बंटा सकता। प्रत्येक प्राणी अकेला जन्म लेता है, अकेला मरता है।

एक्को सयं पच्चणु होइ दुक्खं कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ।
—उत्त० १३।२३

मनुष्य अकेला ही अपना दुःख भोगता है, ज्ञातिजन, मित्र आदि कोई बंटा नहीं सकते। क्योंकि कर्म तो कर्ता (करने वाले का) का पीछा करता है।

एगे अहमंसि, न मे अत्थि कोइ, न याहऽमवि कस्सवि ।
—आचा० १।८।६

मैं एक हूं, अकेला हूं, न मेरा कोई है, न मैं किसी का हूं।

अन्यत्व भावना

अन्ने खलु कामभोगा, अन्ने अहमंसि ।
से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो ?
—सूत्र० २।१।१३

ये काम-भोग अन्य हैं और मैं अन्य हूं।
फिर हम क्यों अन्य वस्तु में आसक्त हो रहे हैं ?

एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरगं ।   —आचा० १।४।३

आत्मा को शरीर से पृथक् जानकर भोगलिप्त शरीर को (कर्मों को) धुन डालो।

अशुचि भावना

इमं सरीरं अणिच्चं असुइं असुइसंभवं ।
असासया वासमिणं दुक्खकेसाण भायणं ।   —उत्त० १९।१३

यह शरीर अनित्य है, अशुचिपूर्ण है, अशुचि पदार्थों से ही उत्पन्न होता है। इस शरीर रूपी पिंजरे में आत्म-पक्षी का वास अस्थिर है, यह देह, दुःख एवं क्लेशों का घर है।

आश्रव भावना

जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।

—आचा० १।४।२

जो बंधन के हेतु (आश्रव) हैं वे ही कभी मोक्ष के हेतु हो सकते हैं और जो मोक्ष के हेतु हैं वे ही कभी बंधन के हेतु हो सकते हैं।

जे गुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे। — आचा० १।१।५

जो कामगुण हैं, इन्द्रियों के शब्दादि विषय है, वही आवर्त (आश्रव) संसार-चक्र है और जो आवर्त है (आश्रव है) वही कामगुण है।

संवर भावना

तुट्टंति पावकम्माणि नवं कम्ममकुव्वओ। —सूत्र० १।१५।६

जो पुरुष नये कर्म नहीं करता, कर्मों का निरोध (संवर) कर देता है उसके पुराने कर्म भी छूट जाते हैं।

पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ।
इच्छानिरोहं गएयणं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हो—
सीइभूए विहरइ। —उत्त० २६।१४

प्रत्याख्यान (संवर) से इच्छाओं का निरोध किया जाता है। इच्छानिरोध करने पर जीव सब पदार्थों के प्रति तृष्णारहित होकर परम शीतलता (शांति) के साथ रहता है।

निर्जरा भावना

धुणिया कुलियं व लेववं
किसए देहमणसणा इह। —सूत्र० १।२।१।१४

जैसे लेप वाली भीत को लेप गिराकर नष्ट कर दिया जाता है इसी प्रकार अनशन आदि तपों द्वारा देह को (कर्मों को) कृश किया जाता है।

तवनारायजुत्तेण भेत्तूण कम्म कंचुयं।
मुणी विगयसंगामो भवाओ परिमुच्चए। — उत्त० ६।२२

तप रूपी बाण से सन्नद्ध होकर कर्मरूपी कवच को भेदने वाला मुनि, इस संग्राम का (संसार का) अंत कर जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।

धर्म भावना

अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो, जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि, सद्धा खमं णे विणइत्तु रागं।
—उत्त० १४।२८

हम तो आज ही धर्म को जीवन में धारण करेंगे, क्योंकि जिसके धारण करने से पुनर्जन्म (जन्म-मरण) नहीं होता, वह धर्म ही है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो हमने भोगा नहीं, फिर भोगों में आसक्ति क्यों? धर्म-श्रद्धा ही हमें राग से मुक्त कर सकती है।

काम-भोग भावना

(अनेक ग्रंथों में इसके स्थान पर 'लोक भावना' का उल्लेख है। लोक भावना का चिन्तन 'लोक-स्वरूप' प्रकरण में बताया जा चुका है, अतः वैराग्योद्बोधन में सहायक होने से यहां पर काम-भोग भावना का वर्णन है।)

खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा।
—उत्त० १४।१३

काम-भोगों के सेवन से क्षणिक सुख होता है, और दीर्घकालीन दुःख। उनमें सुख तो क्षणभर का है, और दुःख का कोई पार नहीं। ये काम-भोग—संसार भ्रमण के कारण और मोक्ष के विरोधी हैं, अनर्थ एवं कष्टों की खान हैं।

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे य पत्थेमाणा अकामा जंति दुग्गइं॥ —उत्त० ९।५३

काम-भोग शल्य हैं, विष हैं, आशीविष—जहरी नाग के समान हैं। भोगों की प्रार्थना करते-करते जीव भोगों को प्राप्त किये बिना ही (भोगासक्त बुद्धिपूर्वक) मरकर दुर्गति को प्राप्त होता है।

विनय

राइणिएसु विणयं पउंजे। —दश० ८।४

अपने से बड़ों का विनय करना चाहिए।

धम्मस्स विणओ मूलं। —दश० ९।२।२

धर्म का मूल विनय है।

विवत्ती अविणीयस्स संपत्ति विणियस्स य। —दश० ९।२।२१

अविनीत को विपत्ति और विनीत को संपत्ति प्राप्त होती है।

अनुशासन

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा। —उत्त० १।९

गुरुजनों के अनुशासन से कभी कुपित (क्षुब्ध) नहीं होना चाहिए।

हियं विगयभया बुद्धा, फरुसं पि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाणं, खन्ति सोहिकरं पयं॥

—उत्तरा० १।२९

भय रहित बुद्धिमान शिष्य गुरुजनों के कठोर अनुशासन को भी अपने लिए हितकारी मानते हैं। परन्तु मूर्खजन को शांति और आत्म-शुद्धि करने वाले हितवचन भी द्वेष के कारण बन जाते हैं।

आत्मानुशासन

वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मंतो बंधणेहि वहेहि य॥ —उत्त० १।१६

संयम और तप द्वारा मैं स्वयं अपना दमन– अनुशासन करूं, यही श्रेष्ठ मार्ग है। अन्यथा ऐसा न हो कि दूसरे वध एवं बंधन द्वारा मुझ पर अनुशासन करें, मेरा दमन करे।

अप्पा दंतो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य। —उत्त० १।१५

जो अपना दमन (अनुशासन) स्वयं करता है वह इस लोक एवं परलोक में सुखी होता है।

मनोनिग्रह

मणो साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावइ।
तं सम्मं निगिण्हामि धम्मसिक्खाइ कंथगं॥

—उत्तरा० २३।५८

यह मन बड़ा ही साहसिक भयंकर दुष्ट घोड़ा है, जो बड़ी तेजी के साथ दौड़ता रहता है। मैं धर्मशिक्षा रूपी लगाम से उस घोड़े को अच्छी तरह वश में किये रहता हूं।

मणं परिजाणइ से निग्गंथे। —आचा० २।३।१५।१

जो अपने मन को अच्छी तरह परखकर इसे अनुशासित रखता है, वही निर्ग्रन्थ है।

अप्रमाद

अप्पमत्तो जये निच्चं । —दश० ८।१६

सदा अप्रमत्त—सावधान होकर यत्नशील रहे ।

भारंड पक्खीव चरेऽप्पमत्ते । —उत्त० ४।६

भारंड पक्षी की भांति सदा अप्रमत्त जागरूक रहे।

समयं गोयम ! मा पमायए । —उत्त० १०।१

गौतम ! क्षण भर भी प्रमाद मत करो ।

पमायं कम्ममाहंसु अप्पमायं तहावरं। —सूत्र० १।८।३

प्रमाद कर्म है, अप्रमाद कर्म का निरोध (संवर) है।

असंखयं जीविय मा पमायए। —उत्त० ४।१

जीवन असंस्कृत है - (क्षण भंगुर है तथा टूटने पर पुनः जोड़ा नहीं जाता) अतः क्षण भर भी प्रमाद मत करो।

आत्म-विजय

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिए ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस सो परमो जओ । —उत्त० ९।३४

दुर्जय संग्राम में लाख शत्रु-योद्धाओं को जीतने की अपेक्षा एक स्वयं की आत्मा को जीतना अधिक कठिन है। आत्म-जय ही परम-जय है ।

अप्पाणमेवमप्पाणं जइत्ता सुहमेहए । —उत्त० ९।३४

अपनी आत्मा द्वारा आत्मा को (विवेक द्वारा विकारों को) जीतकर सुख प्राप्त करो ।

कषाय-विजय

कसाया अग्गिणो वुत्ता सुय सील तवो जलं । —उत्त० २३।५३

कषाय अग्नि है, श्रुत (ज्ञान), शील (सदाचार) और तप उसे बुझाने वाले जल हैं ।

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायं चज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे । —दश० ८।३९

क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता से, माया को सरलता से और लोभ को संतोष से जीतना चाहिए ।

चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ।
—दश० ८।४०

ये चार कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ) जन्म-मरणरूपी लता के मूल को सींचते हैं। कषाय से जन्म-मरण की परम्परा बढ़ती है।

वाणी-विवेक

दिट्ठं मियं असंदिद्धं पडिपुण्णं वियं जियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं भासं निसिर अत्तवं । —दश० ८।४८

ऐसी भाषा बोलनी चाहिए जो, दृष्ट (देखी हुई हो) परिमित, संशयरहित, पूर्ण, वाचालता रहित तथा शांतियुक्त हो।

मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए
सयाणमज्झे लहइ पसंसणं । —दश० ७।५५

संक्षिप्त, सुन्दर और विचारपूर्वक भाषा बोलनी चाहिए। ऐसा करने वाले की सभ्यजनों में प्रशंसा होती है।

तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा, ओहारिणी जाव परोवघायणी ।
से कोह लोह भय हासमाणवो, न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ।
—दश० ७।५४

पापयुक्त, हिंसा व असत्य का अनुमोदन करने वाली भाषा नहीं बोले। क्रोध, लोभ और भयवश तथा दूसरों की हंसी उड़ाते हुए भी न बोले।

भासमाणो न भासिज्जा णेव वम्फेज्ज मम्मयं । —सूत्र० १।६।२५

बोलते हुए के बीच में न बोले। मर्मभेद करने वाली वाणी न बोले।

सेवा

कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिए ।—सूत्र० १।३।३।२०

भिक्षु प्रसन्न व शांत भाव के साथ अपने रुग्ण साथी की परिचर्या करे।

न विरुज्झेज्ज केणइ । —सूत्र० १।११।१२

किसी के साथ वैर-विरोध न करें।

गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ ।
—स्थानांग ८

रोगी की अग्लान भाव से सेवा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।

असंगिहीय परिजणस्स संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ । – स्थानांग ८

जो अनाश्रित एवं असहाय हैं, उनको सदा सहयोग तथा आश्रय देने में तत्पर रहना चाहिए।

असंविभागी न हु तस्स मोक्खो। —दश० ९।२।२३

जो संविभागशील—अपनी प्राप्त सामग्री को बांटता नही है उसकी मुक्ति नहीं होती।

वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबंधइ। —उत्त० २९।४३

वैयावृत्य (सेवा) से आत्मा तीर्थंकर होने जैसे उत्कृष्ट पुण्य कर्म का उपार्जन करता है।

नैतिक-नियम

नातिवेलं हसे मुणी। —सूत्र० १।९।२९

मर्यादा से अधिक नहीं हंसना चाहिए।

न यावि पन्ने परिहास कुज्जा। —सूत्र० १।१२।१९

बुद्धिमान किसी का उपहास न करें।

अपुच्छिओ न भासिज्जा भासमाणस्स अंतरा।
पिट्ठिमंसं न खाइज्जा मायामोसं विवज्जए॥ —दश० ८।४७

बिना पूछे नहीं बोले, बीच में न बोलें, किसी की चुगली न खावे और कपट करके झूठ न बोले।

अट्ठावयं न सिक्खेज्जा वेहाइयं च णो वए। —सूत्र० १।९।१७

जुआ खेलना न सीखे, जो बात धर्म से विरुद्ध हो, वह न बोले।

निद्दं च न बहु मन्निज्जा सप्पहासं विवज्जए। —दश० ८।४२

अधिक नींद न ले और हंसी मजाक न करे।

अणुन्नविय गेण्हियव्वं। —प्रश्न० २।३

दूसरे की कोई भी वस्तु आज्ञा लेकर ग्रहण करनी चाहिये।

न भाइयव्वं, भीतं खु भया अइंति लहुयं। —प्रश्न० २।२

भय से डरना नहीं चाहिए। भयभीत मनुष्य के पास भय शीघ्र आते हैं।

न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए। —दश० ९।१।७

गुरुजनों की अवहेलना—अवज्ञा करने वाला कभी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे।
सुयलाभे न मज्जिज्जा जच्चा तवसि बुद्धिए। —दश० ८।३०

बुद्धिमान किसी का तिरस्कार न करे, न अपनी बड़ाई करे। अपने शास्त्र-ज्ञान, जाति और तप का अहंकार न करें।

समाहिकारए णं तमेव समाहिं पडिलब्भइ। —भगवती ७।१

जो दूसरों को समाधि (सेवा-सुख) पहुंचाता है वह स्वयं भी समाधि प्राप्त करता है।

अहऽसेयकरी अन्नेसिं इंखिणी। —सूत्र० १२।२।१

दूसरों की निन्दा हितकर नहीं है।

नो पूयणं तवसा आवहेज्जा। —सूत्र० १।७।२७

तप के द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा की कामना नहीं करना चाहिए।

गिहिवासे वि सुव्वए। —उत्त० ५।२४

धर्म-शिक्षा सम्पन्न गृहस्थ गृहवास में भी सुव्रती है।

पियंकरे पियंवाइ से सिक्खं लद्धुमरिहइ। —उत्त० ११।१४

प्रिय (अच्छा) कार्य करने वाला और प्रिय वचन बोलने वाला अपनी अभीष्ट शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

अह पन्नरसहिं ठाणेहिं सुविणीए त्ति वुच्चइ।
नीयावत्ती अचवले अमाई अकुऊहले॥
अप्पं चाऽहिक्खिवइ पबन्धं च न कुव्वइ।
मेत्तिज्जमाणो भयइ सुयं लद्धुं न मज्जइ॥
न य पाव परिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई॥
कलह डमर वज्जए बुद्धे अभिजाइए।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चई॥

—उत्त० ११।१०-१३

इन पन्द्रह कारणों से सुविनीत कहलाता है—

१. जो नम्र है, २. अचपल है—अस्थिर नहीं है, ३. दम्भी नहीं है, ४. अकुतूहली है—तमाशबीन नहीं है। ५. किसी की निन्दा नहीं करता है, ६. जो अधिक क्रोध नहीं करता, ७. जो मित्रों के प्रति कृतज्ञ है, ८. श्रुत को प्राप्त करने पर अहंकार नहीं करता है। ९. स्खलना होने पर दूसरों का तिरस्कार नहीं करता है। १०. मित्रों पर क्रोध नहीं करता है। ११. जो अप्रिय मित्र के लिए भी एकान्त में भलाई की बात करता है। १२. जो वाक्-कलह और डमर—मारपीट, हाथापाई नहीं करता है, १३. अभिजात (कुलीन) होता है, १४. लज्जाशील होता है, १५. प्रतिसंलीन (इधर-उधर की व्यर्थ चेष्टाएँ न करने वाला आत्मलीन) होता है, वह बुद्धिमान् साधु विनीत होता है।

ग्रन्थ प्राप्ति-केन्द्र

सन्मति ज्ञानपीठ
लोहामण्डी, आगरा-२

★

श्री रत्न जैन पुस्तकालय
पाथर्डी, (अहमदनगर, महाराष्ट्र)

★

श्री मरुधरकेशरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार।
पो० ब्यावर, (राजस्थान)

★

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
पीपलिया बाजार
पो० ब्यावर, (राजस्थान)

★

श्री आनन्द प्रकाशन
पो० चिचोंडी, (महाराष्ट्र)

★

अमोल जैन ज्ञानालय
पो० धूलिया, (महाराष्ट्र)